स्वतंत्रता संग्राम

स्वतंत्रता संग्राम

बिपनचंद्र
अमलेश त्रिपाठी
बरुण दे

अनुवाद

रामसेवक श्रीवास्तव

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-1004-6

पहला संस्करण : 1972
चौदहवीं आवृत्ति : 2000 (शक 1922)

Freedom Struggle (*Hindi*)
रु. 35.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क
नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

अनुक्रम

1

ब्रितानी शासन का प्रभाव

"वर्षों पहले हमने भाग्यवधू से एक प्रतिज्ञा की थी और अब वह समय आ रहा है जब हम उस प्रतिज्ञा को समग्र रूप में या पूरी तौर पर न सही, काफी दूर तक पूरा करेंगे। रात के बारह बजे जबकि दुनिया नींद की गोद में होती है, भारत नये जीवन और स्वतंत्रता में प्रवेश करेगा।"—ये वाक्य जवाहरलाल नेहरू ने 15 अगस्त, 1947 को संविधान सभा और भारतीय राष्ट्र को संबोधित करते हुए कहे थे।

वे स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री की हैसियत से बोल रहे थे। संघर्ष समाप्त हो चुका था। देश स्वतंत्र था।

लेकिन भाग्यवधू के साथ की गयी वह कौन-सी प्रतिज्ञा थी जिसकी ओर नेहरूजी ने इशारा किया था ?

स्वतंत्रता मिलने से 17 साल पहले 31 दिसंबर, 1929 को रात के ठीक बारह बजे एक अन्य अवसर पर जब घड़ियाल के घंटे नये वर्ष के आगमन की सूचना दे रहे थे, नेहरूजी ने लाहौर में रावी के तट पर एकत्रित अपार जन समुदाय के सामने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से तिरंगा फहराते हुए घोषणा की कि स्वतंत्रता आंदोलन का उद्देश्य होगा—पूर्ण स्वराज्य, संपूर्ण स्वाधीनता—एक संकल्प लिया गया। और यह फैसला हुआ कि भारत के लोग 26 जनवरी, 1930 को आम सभाओं में भारतीय जनता की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की इच्छा की घोषणा करेंगे। वह दिन स्वतंत्रता का दिन घोषित किया गया। उस दिन के ऐतिहासिक महत्व के ही कारण—1950 में जब भारत का नया गणतंत्रीय संविधान तैयार हुआ तो उसे 26 जनवरी को प्रस्तुत किया गया। तब से आज तक हर वर्ष यह दिन गणतंत्र दिवस के रूप में मनाया जाता है।

नेहरूजी ने 'भाग्यवधू से की गयी प्रतिज्ञा' की जो बात कही थी उसका इशारा सन् 1929-30 की घटनाओं से था। उस वक्त जो प्रतिज्ञा की गयी थी वह 15 अगस्त, 1947 को तब पूरी हुई जब भारत स्वतंत्र हो गया।

लेकिन भारत का स्वतंत्रता के लिए संघर्ष सन् 1929 में शुरू नहीं हुआ। उसका प्रारंभ कई दशक पहले ही हो चुका था; और यह पुस्तक भारत की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के उसी ऐतिहासिक संघर्ष की कहानी कहती है।

भारतीय इतिहास का प्रारंभ मसीही दौर से कई शताब्दी पहले से है। आश्चर्य नहीं कि इस लंबे इतिहास की दिशा समान और एकरूप नहीं रही। एक लंबी अवधि तक भारत एक राष्ट्र न होकर बहुत से राज्यों के रूप में था। ऐसे भी समय आये जब इस उपमहाद्वीप का बहुत बड़ा भाग एक साम्राज्य के आधीन रहा; इस पर अनेक बार विदेशियों ने हमले किये। उनमें से कुछ यहां बस गये और भारतीय हो गये; और राजा या सम्राट के रूप में शासन किया। कुछ ने देश को लूटा-खसोटा और धन-संपत्ति बटोर कर वापस चले गये। महान उपलब्धियों के भी वक्त आये और देश को जड़ता और दुख के भी अनेक दौरों से गुजरना पड़ा। लेकिन जब हम भारत के स्वतंत्रता संग्राम की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य भारतीय इतिहास के उस दौर से होता है जिसमें भारत पर अंग्रेजों का शासन था और यहां के लोग विदेशी आधिपत्य को समाप्त करके स्वाधीन हो जाना चाहते थे।

भारत में ब्रितानी शासन का प्रारंभ सन् 1757 से माना जा सकता है जब ब्रितानी ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना ने बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को पलासी के युद्ध में पराजित कर दिया था। लेकिन भारत में ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक सशक्त राष्ट्रीय संघर्ष का विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। यह संघर्ष भारतीय जनता और ब्रितानी शासकों के हितों की टक्कर का परिणाम था। हितों की इस टक्कर को समझने के लिए भारत में ब्रितानी शासन के आधारभूत चरित्र और भारतीय समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का अध्ययन करना आवश्यक है। विदेशी शासन के चरित्र के ही परिणामस्वरूप भारतीय जनता में राष्ट्रीयता के भाव उठे। उसी चरित्र के कारण एक सशक्त राष्ट्रीय आंदोलन के उद्भव और विकास के लिए भौतिक, नैतिक, बौद्धिक और राजनीतिक स्थितियां पैदा हुई।

भारत में ब्रितानी शासन की अवस्थाएं

सन् 1757 से अंग्रेजों ने भारत पर अपने नियंत्रण का प्रयोग अपने निजी हितों की सिद्धि के लिए किया। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि पूरे दौर में उनके शासन का मूल चरित्र एक-सा रहा। लगभग दो सौ वर्षों के लंबे इतिहास में वह अनेक चरणों से गुजरा। ब्रिटेन के अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास में परिवर्तन के जो रूप सामने आये उसी के अनुसार उसके शासन और साम्राज्यवादी चरित्र तथा उसकी नीतियों और प्रभाव में भी परिवर्तन आये।

बात यहीं से शुरू की जा सकती है कि सन् 1757 से भी पहले ब्रितानी ईस्ट इंडिया कंपनी की दिलचस्पी केवल पैसा बटोरने में थी। उसने भारत और पूर्वी देशों से होने वाले व्यापार पर अपना एकाधिकार इसलिए चाहा ताकि दूसरे अंग्रेज या यूरोपीय सौदागर और व्यापारिक कंपनियां उससे प्रतिस्पर्द्धा न कर सकें। कंपनी यह भी नहीं चाहती थी कि भारतीय सौदागर देशी माल की खरीद और विदेशों में उसकी बिक्री के मामले में उनके मुकाबले में आयें। दूसरे शब्दों में कंपनी यह चाहती थी कि अपने माल को, जितना भी संभव हो सके, महंगी कीमत पर बेचे

और भारतीय माल को सस्ती से सस्ती कीमत पर खरीदे ताकि उसे अधिकतम लाभ मिल सके। यदि व्यापार की शर्तें सामान्य होतीं और उसमें विभिन्न कंपनियों और व्यक्तियों को मुकाबले में आने की सुविधा होती तब वह लाभ संभव नहीं होता। कंपनी के लिए अंग्रेज व्यापारियों को प्रतिस्पर्द्धा से दूर रखना इसलिए आसान था कि वह घूस तथा अन्य आर्थिक और राजनीतिक साधनों के सहारे से ब्रितानी सरकार यह आदेश प्राप्त कर लेने में सक्षम थी कि भारत और पूर्वी देशों से व्यापार करने का उसका एकाधिकार होगा। लेकिन ब्रितानी कानून अन्य यूरोपीय देशों के सौदागरों और व्यापारिक कंपनियों को इस व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा से दूर नहीं रख सका, अतः ईस्ट इंडिया कंपनी को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लंबी और भयानक लड़ाइयां करनी पड़ीं। चूंकि व्यापार के क्षेत्र कई समुद्र पार बहुत दूरी पर थे अतः कंपनी को एक शक्तिशाली नौ-सेना की भी व्यवस्था करनी पड़ी।

कंपनी भारतीय सौदागरों को भी मुकाबले से दूर नहीं रख सकी क्योंकि उन्हें शक्तिशाली मुगल साम्राज्य का सरक्षण प्राप्त था। वास्तविकता यह है कि 17वीं और 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो में भारत के भीतर व्यापार करने का अधिकार मुगल सम्राटों या उनके क्षेत्रीय सूबेदारों को विनयपूर्वक आवेदन देकर प्राप्त करना पड़ता था। लेकिन 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में मुगल साम्राज्य दुर्बल हो गया और दूर दराज के समुद्र तट के क्षेत्र उसके अधिकार से निकलने लगे। कंपनी ने अपनी उत्कृष्ट नौ-सैनिक शक्ति का अधिक से अधिक इस्तेमाल करके समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों पर न केवल अपनी उपस्थिति को बनाये रखा वरन् वह उन क्षेत्रों तथा विदेशों से व्यापार करने वाले भारतीय सौदागरों को खदेड़ती भी रही।

ध्यान देने की एक महत्वपूर्ण बात और थी। कंपनी को भारतीय भूमि पर स्थित अपने किलों और व्यापारिक चौकियों की रक्षा करनी थी। अपनी जल और स्थल सेना का रख-रखाव करना था। भारत के भीतर और बीच समुद्र में अपने हितों की रक्षा के लिए लड़ाइयां करनी थीं। इसके लिए एक बड़ी रकम की आवश्यकता थी। इतना बड़ा वित्तीय साधन न तो ब्रितानी सरकार के पास था, न ईस्ट इंडिया कंपनी के पास। अतः इस बड़ी रकम की व्यवस्था भारत से ही करनी थी। कंपनी ने यह काम तटवर्ती क्षेत्रों के अपने किलेबंद शहरों (कलकत्ता, मद्रास और बंबई) में स्थानीय ढंग से कर लगा कर किया। अपने वित्तीय साधनों को बढ़ाने के लिए उसके लिए जरूरी हो गया कि वह भारत में अपने नियंत्रण क्षेत्र का विस्तार करे ताकि अधिक कर उगाहा जा सके।

इसी समय के आसपास ब्रितानी पूंजीवाद भी अपने विकास के सबसे अधिक संभावना-मुक्त क्षेत्र में प्रवेश कर रहा था। उद्योग-धंधे, व्यापार तथा कृषि के अधिकाधिक विकास के लिए अपार पूंजी नियोजन की आवश्यकता थी। चूंकि उस समय इस तरह के पूंजी के नियोजन के साधन ब्रिटेन में सीमित थे, वहां के पूंजीपतियों ने, अपनी लुटेरी दृष्टि विदेशों पर डालनी शुरू की ताकि ब्रितानी पूंजीवाद के विकास के लिए वहां से आवश्यक धन प्राप्त किया जा सके। क्योंकि भारत अपनी धनाढ्यता के लिए प्रसिद्ध था अतः मान लिया गया कि वह इस दिशा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकने की स्थिति में है।

व्यापारिक एकाधिकार और वित्तीय साधनों पर अधिकार; दोनों ही उद्देश्यों की यथाशीघ्र पूर्ति ही नहीं हुई बल्कि सन् 1750-60 के बीच बंगाल और दक्षिण भारत पराजित होकर कंपनी के राजनीतिक अधिकार में आ गये। ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों ने इसकी कल्पना तक नहीं की थी।

अब कंपनी को इन अधिकृत क्षेत्रों से राजस्व वसूल करने का सीधा अधिकार प्राप्त हो गया था और वह स्थानीय शासकों, सामंतों और जमींदारों के पास एकत्रित धन को छीनने-खसोटने में सक्षम हो गयी। कंपनी ने सामंतों-जमींदारों और राजस्व से प्राप्त अधिकांश धन का एकमात्र उपयोग खुद के तथा अपने कर्मचारियों के लाभ तथा भारत में अपने विस्तार के लिए किया। उदाहरण के लिए सन् 1765 और 1770 के बीच कंपनी ने अपनी शुद्ध आय का लगभग 33 प्रतिशत माल के रूप में बंगाल के बाहर भेजा। इतना ही नहीं, कंपनी के कर्मचारियों ने भारतीय सौदागरों, अलहकारों और जमींदारों से खसोटी गैरकानूनी आय का बहुत बड़ा भाग बाहर भेजा। भारत से निकाली हुई रकम ब्रितानी पूंजीवादी विकास में लगी और उसने उनके विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अनुमान लगाया गया है कि यह रकम उस समय के ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का लगभग दो प्रतिशत थी।

इसी के साथ साथ कंपनी ने भारतीय व्यापार और उसके उत्पादन पर एकाधिकारिक नियंत्रण प्राप्त करने के लिए अपनी राजनीतिक सत्ता का भी उपयोग किया। धीरे धीरे भारतीय सौदागर बाहर किये जाते रहे। बुनकरों और दूसरे कारीगरों को या तो अपनी उत्पादित चीजें अलाभकारी कीमत पर बेचने या बहुत कम मजदूरी पर कंपनी में काम करने के लिए मजबूर किया जाता रहा। ब्रितानी शासन के इस पहले चरण का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि प्रशासन, न्याय व्यवस्था, परिवहन और संचार, कृषि और औद्योगिक उत्पादन की विधियों, व्यापार व्यवस्था, या शिक्षा और बौद्धिक क्षेत्रों में मूलभूत परिवर्तन की शुरुआत नहीं की गयी। इस अवस्था में ब्रितानी शासन उन परंपरागत साम्राज्यों से बहुत भिन्न नहीं था जो अपने अधीनस्थ क्षेत्रों से लगान वसूल करते थे; हालांकि ब्रितानी शासन यह काम बड़ी चतुरता से कर रहा था।

अपने पूर्ववर्तियों के चरण-चिह्नों पर चलते हुए अंग्रेजों ने गांवों में प्रवेश करने की आवश्यकता को तब तक अनुभव नहीं किया जब तक बंधे बंधाये तंत्र से सफलतापूर्वक उस राजस्व की उगाही होती रही, जो आर्थिक शब्दावली में उनके लिए अतिरिक्त राशि थी। परिणामस्वरूप जिस तरह के भी प्रशासनिक परिवर्तन किये गये उनका सर्वोपरि इस्तेमाल राजस्व की वसूली के लिए हुआ। सारा प्रयत्न इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए था कि राजस्व की वसूली का ढंग अधिक सक्षम हो सके।

बौद्धिक क्षेत्र में उन आधुनिक विचारों के प्रसार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया जिनके कारण पश्चिम में जीवन जीने का सारा ढंग ही बदल रहा था। 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में केवल दो शिक्षण संस्थाएं खोली गयीं। एक कलकत्ता में और दूसरी बनारस में। दोनों ही स्थान फारसी और संस्कृत के परंपरागत अध्ययन के केंद्र थे। यहां तक कि ईसाई धर्म-प्रचारकों तक को कंपनी के अधिकृत भूभाग के बाहर रखा गया।

यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर उस समय अधिकार किया जब ब्रिटेन में विशाल वाणिज्यिक व्यापार निगमों का युग समाप्त हो चुका था। ब्रितानी समाज में कंपनी उभरती हुई सामाजिक शक्तियों की जगह पर चुकती हुई शक्तियों का प्रतिनिधित्व कर रही थी।

औद्योगिक पूंजीवाद और मुक्त व्यापार का युग

ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में एक क्षेत्रीय शक्ति बनने के तत्काल बाद ब्रिटेन में एक गहरा संघर्ष इस प्रश्न को लेकर छिड़ गया कि जो नया साम्राज्य प्राप्त हुआ है वह किसके हितों को सिद्ध करेगा, साल दर साल कंपनी को ब्रिटेन के अन्य व्यापारिक और औद्योगिक हितों की सिद्धि के लिए तैयार होने पर मजबूर किया गया। सन् 1813 तक आते आते वह दुर्बल होकर भारत में आर्थिक या राजनीतिक शक्ति की एक छाया भर रह गयी। वास्तविक सत्ता ब्रितानी सरकार के हाथों में आ गयी जो कुछ मिलाकर अंग्रेज पूंजीपतियों के हित सिद्ध करने वाली थी।

इसी दौर में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति हो गयी, और इसके फलस्वरूप वह विश्व के उत्पादन और निर्यात करने वाले देशों की अगली पंक्ति में आ गया। औद्योगिक क्रांति स्वयं ब्रिटेन के भीतर होने वाले बड़े परिवर्तनों की भी जिम्मेदार रही। समय बीतने के साथ औद्योगिक पूंजीपति शक्तिशाली राजनीतिक प्रभाव के कारण ब्रितानी अर्थव्यवस्था के प्रबल अंग बन गये। इस स्थिति में भारतीय उपनिवेश पर शासन करने की नीतियों को अनिवार्य रूप में उनके हितों के अनुकूल निर्देशित करना था। जो भी हो, साम्राज्य में उनकी दिलचस्पी का रूप ईस्ट इंडिया कंपनी की दिलचस्पी से बिलकुल भिन्न था, क्योंकि वह केवल एक व्यापारिक निगम था। उसके बाद भारत में ब्रितानी शासन अपने दूसरे चरण में पहुंचा।

भारतीय हस्तशिल्प के निर्यात पर एकाधिकार या भारतीय राजस्व का पूंजी के रूप में सीधे निवेश से ब्रितानी उद्योगपतियों को बहुत लाभ नहीं हुआ। बल्कि दूसरी तरफ तैयार माल की मात्रा में निरंतर वृद्धि के कारण उन्हें विदेशी बाजारों की आवश्यकता पड़ी। बहुत घनी आबादी और बड़े क्षेत्रफल वाला देश भारत उनके लिए एक स्थायी आकर्षण था। इसी के साथ साथ ब्रितानी उद्योगों को कच्चे माल, और अंग्रेज कामगारों को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ी जिसका आयात किया ही जाना था। दूसरे शब्दों में ब्रिटेन ने यह चाहा कि भारत उसका एक अधीनस्थ व्यापारिक भागीदार हो ताकि एक बाजार के रूप में उसे चूसा जा सके और एक आश्रित उपनिवेश के रूप में वह ब्रिटेन के लिए आवश्यक कच्चे माल और खाद्य पदार्थों का उत्पादन और उसकी आपूर्ति करे।

लेकिन एक समस्या थी। भारत में जो माल आता था उसका उसे भुगतान करना पड़ता था। उसे एक बड़ी रकम लाभांश के रूप में कंपनी के हिस्सेदारों और अवकाश प्राप्त ब्रितानी

प्रशासकों तथा सैनिक कर्मचारियों की पेंशन के लिए बाहर भेजनी पड़ती थी। इन अलहकारों को भारत में सेवा के दौरान संचित रकम ब्रिटेन ले जाने की अनुमति भी देनी पड़ती थी। अंग्रेज सौदागरों और चाय, काफी के बागान के मालिकों के लाभ की रकम भी भारत के बाहर जानी ही थी। ब्रिटेन ने इस देश में जो पूंजी लगायी थी उसके सूद और लाभांश का भुगतान भी भारत को करना था। इस सबके लिए जरूरी था कि भारत ब्रिटेन और अन्य देशों को अपना कुछ माल निर्यात करे ही। लेकिन परंपरागत ढंग से भारतीय हस्तशिल्प का जो निर्यात होता आया था, वह इस वक्त तक वास्तविक अर्थो में बंद हो चुका था, इससे भी महत्वपूर्ण यह था कि भारत को ऐसा कोई भी माल कंपनी की शोषणनीति के कारण निर्यात करने की अनुमति नहीं मिलती थी, जो ब्रिटेन के गृह उद्योगों से प्रतिस्पर्द्धा कर सके, प्रमाण के लिए कपड़े। अतः केवल कृषिजन्य कच्चा माल तथा अन्य अनुत्पादित चीजें ही निर्यात की जा सकती थीं। अफीम के अलावा (जिसके आयात पर चीन ने प्रतिबंध लगा रखा था लेकिन उसके बावजूद उसके उत्पादन और निर्यात में अधिक वृद्धि हुई) भारतीय सरकार ने रूई, पटसन, सिल्क, तेलहन, गेहूं, खाल और हड्डी, नील और चाय के निर्यात को बढ़ावा दिया। इस प्रकार भारत के विदेशी व्यापार के स्वरूप में एक नाटकीय परिवर्तन आया; यद्यपि उससे कोई बेहतरी नहीं हुई। शताब्दियों से सूती कपड़े तथा हस्तशिल्प की अन्य चीजों का निर्यात करने वाला भारत 19वीं शताब्दी में सूती कपड़ों का आयात और रूई तथा अन्य किस्म के कच्चे माल का निर्यात करने वाला हो गया।

उस समय भारत जिन आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों में फंसा था; उनमें वह नये काम कर ही नहीं सकता था। उसे इस तरह परिवर्तित और रूपांतरित किया ही जाना था ताकि वह ब्रितानी अर्थव्यवस्था के विकास में अपनी नयी भूमिका निभा सके। उसके परंपरागत, गैरपूंजीवादी आर्थिक ढांचे को बदल दिया जाना था। भारत की ब्रितानी सरकार ने सन् 1813 के बाद यहां के प्रशासन, अर्थतंत्र और समाज में जिस तरह के परिवर्तन लाने शुरू किये; उनका उद्देश्य इन्हीं हितों की सिद्धि था।

आर्थिक क्षेत्र में ब्रितानी पूंजीपतियों को भारत में निर्भय प्रवेश करने, और अपनी इच्छानुसार आर्थिक क्रियाएं करने की अनुमति दी गयी। इस सबसे अलग मुक्त व्यापार की शुरुआत हुई और भारत के बंदरगाह और बाजार विलायती माल से पट गये। भारत विलायती माल को अपने यहां निःशुल्क या नाममात्र के शुल्क के बाद ले लेने के लिए विवश था। प्रशासन को भी अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया गया। पहले उसकी जिम्मेदारी राजस्व की वसूली से लेकर व्यापारिक मार्गो की सुरक्षा के लिए कानून और व्यवस्था की स्थापना तक सीमित थी। अब उसके जिम्मे विभिन्न किस्म के बहुत से काम और आ गये। प्रशासन का विस्तार हुआ और उसकी व्याप्ति गांवों तक पहुंची ताकि विलायती माल देश के भीतर दूर-दराज के गांवों और छोटे कस्बों तक में पहुंच सके और वहां से निर्यात के लिए कृषिजन्य माल बाहर लाया जा सके। इस प्रकार 19वीं शताब्दी में भारत के ब्रितानी प्रशासन में तेजी के साथ व्यापक परिवर्तन हुए।

इतना ही नहीं, यदि भारतीय समाज के पूरे वैधानिक ढांचे को पूंजीवादी वाणिज्यिक संबंधों पर आधारित करना था तो उसके लिए उसका पुनः कल्प करना जरूरी था। उदाहरण के लिए यदि आयात और निर्यात को समुन्नत करने के लिए अपेक्षित लाखों विनिमयों की प्राण प्रतिष्ठा करनी थी तो उसके लिए भी जरूरी था कि देश के बुनियादी कानून और आचार का आधार करार की पुनीतता हो। अतः कानून और विधान संहिताओं के एक सर्वथा नये निकाय पर आधारित एक नयी न्याय प्रणाली का आगमन हुआ जिसका एक उदाहरण भारतीय दंड संहिता तथा दीवानी अदालत है।

राज्य के नये और विस्तृत प्रशासन और न्यायतंत्र तथा ब्रिटेन के व्यापारिक संस्थानों में नीचे की जगहों की व्यवस्था करने के लिए शिक्षित कर्मचारियों के एक विश्वसनीय समूह की आवश्यकता थी। ब्रिटेन के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त मात्रा में जनशक्ति नहीं थी। भारत सरकार या ब्रितानी व्यापारी इन सभी जगहों पर अंग्रेजों की नियुक्ति इसलिए नहीं कर सकते थे कि सुदूर भारतीय उपनिवेश और उसकी अनुकूल न पड़ने वाली जलवायु में उन्हें ऊंचा वेतन देना पड़ता। अतः सन् 1833 के बाद से भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रारंभ और विस्तार किया गया।

बड़ी मात्रा में चीजों का आयात और उससे भी बड़ी मात्रा में भारी भरकम कच्चे माल के निर्यात के लिए परिवहन की सस्ती और सुविधाजनक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी। अतः सरकार ने नदी मार्गों पर भापचालित नावें चलाने को बढ़ावा दिया और सड़कों का सुधार किया। इन सबसे अलग, उसने सन् 1853 के बाद रेलपथों का ऐसा जाल बिछाने में आर्थिक सहयोग दिया जिससे देश के मुख्य नगर और बाजार इसके बंदरगाहों से जुड़ गये। सन् 1905 तक लगभग 3 अरब 50 करोड़ की लागत से 28 हजार मील के रेलपथ का निर्माण हुआ। इसी तरह एक आधुनिक डाक-तार व्यवस्था की भी शुरुआत हुई जिसकी वजह से व्यापारिक कार्यकलाप काफी हद तक सुविधाजनक हो गये।

इसी काल में ब्रितानी कूटनीतिज्ञों और उसके भारतीय प्रशासकों में एक उदार साम्राज्यवादी राजनीतिक विचारधारा का भी उद्भव हुआ। यह भरोसा कर लेने के बाद उत्पादन के क्षेत्र में ब्रिटेन को वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय धरातल पर एकाधिकार प्राप्त है, 19वीं शताब्दी के शुरू के 50 वर्षों में वह एकमात्र ऐसा देश रह गया जिसे पूरी तौर पर औद्योगिक दृष्टि से विकसित कहा जा सके। समुद्रों पर उसका अधिकार था, और तदंतर उसकी प्रसिद्धि दुनिया के कारखाने के रूप में हो गयी। बहुत से लोग यह विश्वास करने लगे कि जब तक मुक्त व्यापार है; ब्रिटेन अपने परोक्ष और नाममात्र के कब्जे से भारत तथा अन्य देशों में अपने आर्थिक शोषण के कार्यक्रम को उतनी खूबी के साथ चला सकता है। अतः उन्होंने भारतीयों को स्थानीय शासन की कला में शिक्षित करने तथा राजनैतिक सत्ता को अंततः उनके हाथ में सौंप देने की बात करना शुरू किया। बाद के वर्षों में राजनीतिक आंदोलन में, भारत के राष्ट्रवादियों ने इन घोषणाओं का खुलकर उपयोग किया।

विलायती शासन के दूसरे चरण में आर्थिक शोषण का जो नया स्वरूप सामने आया; उसका मतलब सचमुच यह नहीं था कि शोषण के पुराने स्वरूप खत्म हो गये। भारत के शेष भागों को जीतने, विलायती शासन की जड़ों को मजबूत करने, प्रशासन और सेना में ऊंचे पदों पर नियुक्त हजारों अंग्रेजों को दिये जाने वाले वेतन के भुगतान (जो उस समय के मानक से कहीं अधिक थे) प्रशासनिक और आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तन में लगी रकम की व्यवस्था करने और उपनिवेशवाद को देश के उन भीतरी भागों तक पूरी तरह पहुंचाने (जहां से कच्चा माल बंदरगाहों पर पहुंचता था) के लिए भारतीय राजस्व की आवश्यकता थी। फल यह हुआ कि विलायती शासन के दूसरे चरण में भारतीय किसान पर करों का बोझ बुरी तरह बढ़ गया।

इसी दौर में नील, अफीम और चाय आदि के उत्पादन के कुछ ऐसे क्षेत्रों का; जिनकी विलायती उत्पादकों की प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी, विकास किया गया। हालांकि उन पर भी या तो सरकार या भारत के विलायती पूंजीपतियों का सख्त नियंत्रण रहा। इतना ही नहीं, भारत पर थोपा गया यह मुक्त व्यापार भी एकपक्षीय था। भारत में बनी उन चीजों पर ब्रिटेन में भारी आयात कर लगा दिया जाता था जो तकनीकी दृष्टि से बेहतर ब्रितानी या उनके अधिकार के उपनिवेशों में बने माल का अब भी मुकाबला कर सकती थीं। उदाहरण के लिए सन् 1824 में भारत में बने जो कपड़े ब्रिटेन भेजे गये उन पर 30 से लेकर 70 प्रतिशत आयात शुल्क लगा। भारतीय चीनी पर लगा शुल्क उसकी वास्तविक कीमत का तिगुना था। कुछ मामलों में ब्रिटेन में यह शुल्क 400 प्रतिशत था। इस तरह की चीजों पर से आयात शुल्क केवल तब खत्म हुआ जब उनका ब्रिटेन के लिए निर्यात एकदम बंद हो गया। इसके अलावा, भारतीय उत्पादकों को पूरे देश के स्तर पर विकसित बाजार का लाभ उठाने से भी वंचित रखा गया; क्योंकि सरकार ने देश के भीतर चीजों पर चुंगी लगाने के एक लंबे चौड़े ढांचे के निर्माण का फैसला कर लिया। इस रूप में भारत को एक ऐसी परस्पर विरोधी स्थिति में डाल दिया गया जिसमें एक ओर उसे अपने ही माल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए शुल्क चुकाना पड़ता था और दूसरी ओर विदेशी माल कहीं भी बिना शुल्क के ले जाया जा सकता था। देश के भीतर ही चीजों पर लगने वाली चुंगी सन् 1840 और 1850 के बीच केवल तब खत्म हुई जब ब्रितानी उत्पादकों ने भारतीय हस्तशिल्प के उत्पादन पर देश के बाजारों तक में अपनी स्थिति निर्णायक रूप में बेहतर कर ली।

विदेशी पूंजीनिवेश और उपनिवेशों में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का दौर

भारत में ब्रितानी शासन के तीसरे चरण की शुरुआत सन् 1860 के बाद मानी जा सकती है जो विश्व की आर्थिक स्थिति में तीन बड़े परिवर्तनों का नतीजा थी। धीरे धीरे पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों और उत्तरी अमेरिका में औद्योगीकरण की प्रक्रिया चालू हुई और वित्तीय साधन

तथा उत्पादन की ब्रिटेन की बेहतर स्थिति समाप्त हो गयी। फ्रांस, बेलजियम, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस और बाद में जापान ने अपने यहां शक्तिशाली उद्योगों का विकास किया और अपने माल की खपत के लिए विदेशी बाजार की खोज शुरू की। पूरी दुनिया में नये बाजार के लिए एक गहरी प्रतिस्पर्द्धा शुरू हुई।

दूसरी तरफ, उद्योग में वैज्ञानिक जानकारी का उपयोग करने के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के अंतिम 25 वर्षों में अनेक तकनीकी विकास की कई बड़ी घटनाएं घटीं। आज का इस्पात उद्योग इसी दौर की देन है। सन् 1850 में सारी दुनिया के इस्पात का उत्पादन केवल 80 हजार टन था, यहां तक कि सन् 1870 में यह मात्रा 7 लाख टन से कम थी। सन् 1900 में यह उत्पादन 2 करोड़ 80 लाख टन पर पहुंच गया। इसी दौर में आधुनिक रासायनिक उद्योग का विकास हुआ। औद्योगिक कामों में बिजली और आंतरिक दहन से चलने वाले इंजनों में पेट्रोल का उपयोग भी इसी काल की देन है। इसका मतलब यह है कि एक तरफ तो औद्योगिक विकास की गति तेज हुई और दूसरी तरफ उद्योगों में बहुत बड़ी मात्रा में कच्चे माल की खपत हुई। ऐसा न होता तो सारा औद्योगिक ढांचा ही विसंगति का शिकार हो जाता। तेज गति से होने वाले औद्योगिक विकास के कारण शहरी आबादी में निरंतर वृद्धि हुई और उसके लिए अधिक से अधिक खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ी। कच्चे माल और खाद्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये नये और सुरक्षित स्रोतों की विस्तृत खोज सारी दुनिया में बड़े पैमाने पर शुरू हो गयी। अफ्रीका, एशिया और लातिनी अमेरिका के देशों में खोज करने वाले राष्ट्रों में कृषि और खनिज संबंधी कच्चे माल के वास्तविक या संभावनायुक्त स्रोतों पर एकाधिकार प्राप्त करने में दूसरे से बाजी मार लेने की होड़ लग गयी।

तीसरी तरफ, उद्योग-व्यापार के विकास तथा उससे आगे उपनिवेशों और उनके बाजारों के शोषण के कारण विकसित पूंजीवादी देशों में अपार धन का एकत्रण शुरू हो गया। यह पूंजी भी निरंतर कम से कम बैंकों, निगमों, न्यासों तथा उत्पादन और मूल्य नियत करने वाले अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त व्यावसायिक संस्थानों में सिमट कर इकट्ठा होती गयी। इस पूंजी को लगाने की जगहों की तलाश करनी थी। सचमुच इस पूंजी को उन संबद्ध देशों में लगाने की बड़ी गुंजाइश थी जहां के बहुसंख्यक लोग अभी भी गरीबी में जी रहे थे। लेकिन इन देशों के मजदूर वर्ग ने संगठित होना शुरू कर दिया था अतः बड़े पैमाने पर पूंजी लगाने और फिर औद्योगिक विस्तार के कार्यक्रम चलाने से उस वर्ग की सौदेबाजी की स्थिति बेहतर हो जाती। परिणाम होता कि पहले से चलने वाले उद्योगों में भी मुनाफे में और कमी। दूसरी तरफ यदि इस पूंजी का उपयोग बाहरी देशों में कृषि या खनिज संबंधी कच्चे माल के उत्पादन के लिए होता तो कई उद्देश्य एक साथ पूरे हो जाते। इस अतिरिक्त पूंजी के विकास की जगह खोजनी ही थी, और क्योंकि इन अविकसित देशों में मजदूरी की दर बहुत कम थी; बड़े मुनाफे की पूरी संभावना थी। गृह उद्योगों का अस्तित्व कच्चे माल पर निर्भर था और उसको भी आपूर्ति इसके माध्यम से हो जाती। एक बार फिर विकसित पूंजीवादी देशों ने एक के बाद एक ऐसे क्षेत्रों की खोज शुरू की जहां पर वे अपनी अतिरिक्त पूंजी लगा सकें।

साम्राज्यवाद और विस्तारवाद ने इस चरण में साम्राज्यवादी देशों में एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक और राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति की। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जनता में गणतांत्रिक भावनाओं का तेजी से विकास हुआ तथा अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी देशों में उसे मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। शासन करने वाले इन देशों के उच्च वर्ग के लोगों में यह सोच कर घबराहट पैदा हुई कि किसान और मजदूर अपने वर्ग-हित की सिद्धि के लिए इस अधिकार का प्रयोग करेंगे। उन्हें यह भी आभास हो गया कि उच्च वर्ग द्वारा समाज का राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण करने के दिन धीरे धीरे समाप्त होने वाले हैं। साम्राज्यवाद ने एक मार्ग दिया। इसका उपयोग आम लोगों का ध्यान, उस चेतना की ओर से हटा कर बाहरी भव्यता से जोड़ने, उन में कट्टरपंथी राष्ट्रवादिता, देशभक्ति और आत्म-गौरव के भाव जगाने के लिए किया जा सकता था ताकि एक बार फिर उनका समाज साम्राज्यवाद के घेरे में लिपट सके। अंग्रेजों ने यह नारा लगा कर कि 'ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी डूबता ही नहीं है,' उन मजदूरों के मन में गौरव और संतोष का भाव जगाना चाहा जिनकी मैली कुचैली बस्तियों में वास्तविक जीवन में शायद ही कभी सूर्य चमका हो। जर्मनीवासी अपनी गौरव प्रतिष्ठा के लिए एकजुट हो गये। फ्रांसीसियों का ख्याल था कि सभ्यता का प्रसार करना उनका ध्येय है।

जापान ने एशिया और रूस ने स्लावों का मुक्तिदाता होने का दावा किया। उत्तरी अमेरिका ने दावा किया कि लातिनी अमेरिका की देखरेख की जिम्मेदारी उनकी है क्योंकि वे स्पष्टतया नियति से उससे जुड़े हैं। वे शीघ्र ही यह विश्वास करके चलने वाले थे कि 20वीं शताब्दी अमेरिकी शताब्दी होने वाली है। विस्तार, साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय महानता के सिद्धांतों ने जनता को अपना मत उसी तरह की सरकार के पक्ष में डालने की प्रेरणा दी जिस तरह की सरकार, उन्हें मतदान का अधिकार मिलने के पहले, शासन करती आ रही थी। इन सभी तत्वों और शक्तियों का एक ही परिणाम निकला। यानी ऐसे पूर्ण या अर्द्धउपनिवेश जहां के बाजार कच्चे माल और पूंजी निवेश पर संबद्ध पूंजीवादी देश अपने एकाधिकार स्थापित कर सकते थे। जैसे जैसे उपनिवेशों या अर्द्धउपनिवेशों पर कब्जा करने की संभावनाएं कम होती गयीं आधिपत्य की तीखी और गहरी प्रतिस्पर्द्धा में तेजी से विकास हुआ। उपनिवेशों में दुनिया को बांटने का संघर्ष इन नयी बस्तियों वाली दुनिया के पुनर्विभाजन के संघर्ष में बदल गया।

ब्रिटेन के लिए यह सारा दौर तनाव और दबाव से गुजरने का था क्योंकि विकसित पूंजीवादी देशों से आने वाले नये लोगों ने व्यापार और पूंजीनिवेश के क्षेत्र में बनी उसकी प्रधानता की स्थिति की आलोचना की। अतः ब्रिटेन ने अपने वर्तमान साम्राज्य पर नियंत्रण को मजबूत करने तथा उसे विस्तृत करने के लिए शक्तिशाली प्रयास शुरू किया।

भारत में ब्रितानी शासन का तीसरा चरण इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है कि उसमें साम्राज्यवादी आधिपत्य के अंकुश को नये सिरे से तेज किया गया और इसका प्रतिबिंबन लिटन, डफरिन, लैंसडाउन और सबसे अधिक कर्जन सरीखे वायसरायों की प्रतिक्रियावादी नीतियों में हुआ। चूंकि अंग्रेजों को सारी दुनिया में एक गहरी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ा था, उनकी

दृष्टि में भारत ही एक ऐसा आश्रयस्थल दिखाई दिया जहां उनकी पूंजी सर्वाधिक लाभदायक हो सकती थी।

सन् 1850 के बाद, ब्रिटेन की बहुत बड़ी पूंजी रेलवे, भारत सरकार को ऋण देने तथा अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर चाय बागानों, कोयले की खानों, चटकलों, जहाजरानी, व्यापार और बैंकों में लगायी गयी। इस पूंजी को आर्थिक और राजनीतिक खतरों का शिकार होने से बचाने के लिए जरूरी था कि भारत में ब्रितानी शासन की पकड़ को और अधिक मजबूर किया जाये। इस तथ्य को उस वक्त के ब्रितानी अधिकारियों और कूटनीतिज्ञों ने स्पष्ट रूप में स्वीकार किया। अतः एक प्रशासनिक अधिकारी रिचर्ड टेम्पुल ने, जो बंबई के राज्यपाल थे, सन् 1880 में लिखा कि ब्रिटेन को हर कीमत पर भारत पर अधिकार बनाये रखना होगा क्योंकि, ब्रिटेन की बहुत अधिक पूंजी, इस विश्वास पर इस देश में झोक दी गयी है कि ब्रितानी शासन यहां पर अनंतकाल तक बना रहेगा।

ब्रिटेन की साम्राज्यवादी योजना में भारत ने भी एक और महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अफ्रीका और एशिया में ब्रितानी सत्ता का संगठन और विस्तार करने का मुख्य साधन भारतीय सेना थी। इसने पूरी दुनिया में ब्रितानी साम्राज्य की रक्षा के लिए ब्रितानी नौ-सेना के साथ साथ नौ-सेना के एक मुख्य औजार के रूप में कार्य किया। परिणाम यह कि इस स्थायी सेना के महंगे रख-रखाव में सन् 1904 में भारतीय राजस्व का लगभग 52 प्रतिशत लग गया।

स्वायत्त शासन में भारतीयों को शिक्षित करने की सारी बातें इस दौर में खत्म हो गयी थीं। इनकी पुनः चर्चा सन् 1918 में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभाव के कारण शुरू हुई। बल्कि, इसकी जगह पर यह घोषित किया गया था कि ब्रितानी शासन का उद्देश्य भारत को स्थायी न्यासधारिता (अमानत) या उदार स्वेच्छाचारी शासन के अंतर्गत रखना है। यह कहा गया कि भौगोलिक, जातिगत, ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से भारत के लोग स्वयं शासन कर पाने में सदा सदा के लिए अयोग्य हो गये हैं। अतः ब्रिटेन को उनके लिए आने वाली कई शताब्दियों तक एक उदार और सभ्य शासन की व्यवस्था करनी है।

भारत में परिवर्तन की प्रक्रिया पहले ही शुरू हो गयी थी, और वह तीसरे चरण में भी जारी रही। यह बात अधिक महत्वपूर्ण हो गयी कि ब्रितानी शासन की व्याप्ति भारतीय समाज और भारत की हर जगह तक होनी चाहिये। उसके हर गांव और शहर को दुनिया की अर्थव्यवस्था से ब्रिटेन के लाभ के लिए जोड़ दिया जाये। लेकिन, पहले की ही तरह यह परिवर्तन या रूपांतरण सीमित या आंशिक रहा। ऐसा होने के कारण भारत के ब्रितानी उपनिवेशवाद के चरित्र में मौजूद थे।

प्रथमतया जिस तरह से प्रारंभिक समय में ब्रितानी जीत में लगी राशि की पूर्ति भारतीय राजस्व से की गयी, उसी तरह प्रशासन तथा आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन लाने में जो धन खर्च हुआ उसकी पूर्ति भी भारतीय राजस्व से की जाने वाली थी। लेकिन भारत एक गरीब देश था और उपनिवेशवाद ने उसके भविष्य को कंक बना दिया; जबकि आर्थिक दृष्टि से

विकासशील देश आसानी से बढ़े हुए राजस्व का भार वहन कर सकता था, भारत में इस तरह की राजस्व वृद्धि का मतलब, अधिक कराधान करना था। इस तरह की प्रक्रिया की कुछ स्पष्ट राजनीतिक सीमाएं भी थीं। जहां की अर्थव्यवस्था जड़ हो गयी हो, वहां पर करों के बढ़ाने का मतलब ही एक लोक सम्मत विद्रोह होता है। इतना ही नहीं भारत एक साथ ही महंगे प्रशासनिक और सैनिक ढांचे का खर्च, और शिक्षा, सिंचाई, सचार व्यवस्था और आधुनिक उद्योग, के विकास के लिए जरूरी धन व्यवस्था नहीं कर सकता था। वास्तव में भारत में उपनिवेशवाद में यह एक केंद्रीय अंतर्विरोधी रोष था। औपनिवेशिक शोषण के अधिक विस्तार के लिए आंतरिक विकास की आवश्यकता थी, लेकिन भारत को पिछड़ा हुआ रखा गया था अतः शोषण की इस प्रक्रिया ने ही अधिक विस्तार को असंभव बना दिया।

दूसरे, जब औपनिवेशिक अधिकारियों ने भारत को आधुनिक बनाने के परिणामों की ओर ध्यान दिया तो वे उसकी प्रक्रिया को बाधित करने को विवश हुए। यहां तक कि परिवर्तन के एक छोटे से अंश ने ऐसी सामाजिक शक्तियों को जन्म दिया जिन्होंने साम्राज्यवाद और भारत में उनके शोषण के तंत्र का विरोध करना शुरू कर दिया। अतः वे औपनिवेशिक अधिकारी एक दूसरे संकट के शिकार हो गये। जिस भारत मे परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव इसलिए किया गया था ताकि वह एक लाभकारी उपनिवेश बन सके उसी भारत में परिवर्तन ने साथ ही साथ ऐसे राष्ट्रवादी सामाजिक शक्तियों को जन्म दिया जिन्होंने उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष का संगठन किया और औपनिवेशिक शासन के सामने खतरा पैदा हो गया।

भारत में उपनिवेशवाद के मूल तत्व

ब्रितानी शासन के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के अंत तक पहुंचते पहुंचते भारत एक विशिष्ट उपनिवेश में बदल गया। वह ब्रितानी उत्पादकों का एक बड़ा बाजार, कच्चे माल और खाद्यान्नों का एक बड़ा स्रोत, और ब्रितानी पूंजी के निवेश का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था, परिवहन व्यवस्था का एक बड़ा हिस्सा, आधुनिक खान और उद्योग, विदेश व्यापार, समुद्र के तट की ओर अंतर्राष्ट्रीय जहाजरानी, बैंक और बीमा कंपनियां, सभी पर विदेशी नियंत्रण था। भारत ने मध्यवर्ग के हजारों अंग्रेजों की नौकरी की व्यवस्था की थी और इसके राजस्व का लगभग एक-तिहाई अंग्रेजों को वेतन देने में खर्च होना ही था। भारतीय सेना ने दूर-दराज के ब्रितानी साम्राज्य की देखभाल तथा पूर्व, दक्षिण-पूर्व, मध्य तथा पश्चिमी एशिया और उत्तरी, पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका में शाही हितों की रक्षा और बढ़ोत्तरी में एक मुख्य औजार के रूप में काम किया।

इन सबसे ऊपर, भारतीय अर्थव्यवस्था और उसका सामाजिक विकास पूरे तौर पर ब्रितानी अर्थव्यवस्था और उसके सामाजिक विकास के आधीन थे। भारतीय अर्थव्यवस्था को दुनिया की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पर आश्रित होने की ऐसी स्थिति के साथ जोड़ा गया था जिसमें

श्रम का एक विचित्र प्रकार का अंतर्राष्ट्रीय विभाजन था। सन् 1760 के बाद उन्हीं वर्षों में जबकि ब्रिटेन दुनिया में आगे बढ़े हुए पूंजीवादी देशों के रूप में विकसित एवं उन्नत हो रहा था, भारत का विकास ऋणात्मक रूप में किया जा रहा था ताकि वह दुनिया के औपनिवेशिक देशों में पिछड़ों का प्रतिनिधित्व कर सके। कारण और परिणाम के संदर्भ में ये दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे पर आश्रित थीं। व्यापार, वित्त और तकनीक का भारत और ब्रिटेन के बीच का आर्थिक संबंधों का सारा ढांचा ही निरंतर इस तरह विकसित हुआ जिसमें भारत औपनिवेशिक परतंत्रता और पिछड़ेपन का शिकार हुआ।

कृषि पर प्रभाव

ब्रितानी शासन और भारत पर उसके प्रभाव ने यहां की जनता को एक राष्ट्र के रूप में संगठित होने तथा एक शक्तिशाली साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन को उभारने की परिस्थितियां पैदा कीं। यहां के अंग्रेज प्रशासकों द्वारा ब्रिटेन की स्वार्थपूर्ण नीतियों पर अमल किये जाने से भारतीय कृषि तथा किसान वर्ग और उसके व्यापार तथा उद्योग सर्वाधिक प्रभावित हुए। सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी उन नीतियों का गहरा असर पड़ा।

अंग्रेजों ने भारत की कृषिजन्य अर्थव्यवस्था में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बदलाव पैदा किया लेकिन इसका उद्देश्य उत्पादन को बढ़ाकर भारतीय कृषि का सुधार और उससे संबद्ध लोगों की, सुख-सुविधा और संपन्नता को सुनिश्चित करना नहीं था। उद्देश्य था कृषि से उपलब्ध संपूर्ण राजस्व स्वयं प्राप्त करना और भारतीय कृषि को ऐसी स्थिति में पड़ जाने के लिए विवश कर देना ताकि वह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में एक नियत भूमिका निभा सके। पुराने संबंध और संस्थान नष्ट हो चुके थे, नयों का जन्म हुआ था। लेकिन ये नये रूप, न तो आधुनिकीकरण के क्षेत्र में किए गये परिवर्तन का प्रतिनिधित्व करते थे, न ही उनकी दिशा सही थी।

अंग्रेजों ने भू-राजस्व और लगानदारी की दो बड़ी पद्धतियों का सूत्रपात किया। एक थी जमींदारी पद्धति (बाद में इसी जमींदारी पद्धति को संशोधित रूप में महालवारी पद्धति के नाम से उत्तर भारत में लागू किया गया) दूसरी थी रैयतवारी पद्धति।

जमींदारी पद्धति के अंतर्गत कर देने वाले पुराने खेतिहरों, राजस्व एकत्र करने वालों और जमींदारों को भूमि संबंधी व्यक्तिगत संपत्ति के आंशिक अधिकार देकर निजी भू-स्वामियों में बदल दिया गया। इस स्थिति में काश्तकारों को प्राप्त लगान का एक बड़ा भाग सरकार को देना था। इसी के साथ साथ उन्हे ग्रामीण समुदाय का पूरे तौर पर मालिक बना दिया गया। खेतिहर और किसान 'मर्जी पर आधारित काश्तकारों' में बदल दिये गये।

रैयतवारी पद्धति के अंतर्गत सरकार खेती करने वाले उन व्यक्तियों से सीधे राजस्व वसूल करती थी जिन्हें कानूनी तौर पर अपने कब्जे की फसली जमीन के स्वामित्व का अधिकार प्राप्त था। लेकिन स्वामित्व का उनका अधिकार सीमित था। इसका कारण यह था कि राजस्व बंदोबस्त

स्थायी ढंग से नहीं किया गया था। और यह कि राजस्व बहुत ऊंची दर से मांगा जाता था। वे प्रायः इसका भुगतान नहीं कर पाते थे।

पद्धति का नाम कुछ भी हो तकलीफ खेतिहर और किसान ही उठा रहे थे। जहां तक व्यावहारिकता का प्रश्न है, उनकी हैसियत पूरी तौर पर 'मर्जी पर आधारित काश्तकार' की थी, हालांकि उन्हें बहुत ऊची दर पर लगाने देने के लिए विवश किया जाता था। उन्हें न केवल बहुत से गैरकानूनी कर और महसूल देने को मजबूर किया जाता बल्कि उनसे बेगार भी करायी जाती थी। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि राजस्व पद्धति का नाम या प्रकृति जो भी हो, परिणाम के रूप में सरकार ने भू-स्वामी की हैसियत ले ली। बहुत देर से, खासकर सन् 1901 के बाद लगान की दरों में धीरे धीरे कमी की गयी, लेकिन इस अवस्था तक पहुंचते पहुंचते भूमि संबंधी अर्थव्यवस्था उस सीमा तक नष्ट हो चुकी थी, और भू-स्वामियों, महाजनों और सौदागरों ने गांवों को भीतर से इतनी सख्ती से जकड़ लिया था, कि लगान में कमी करने से खेतिहरों-किसानों को व्यावहारिक अर्थो में कोई लाभ नहीं था।

भारत की कृषिजन्य अर्थव्यवस्था के लिए ब्रिटेन ने जो नीति अपनाई उसकी वजह से एक बड़ी बुराई यह पैदा हुई, कि देश में एक प्रभावशाली आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में कर्ज देने वाले महाजन वर्ग का उदय हुआ।ऊंची दर पर लगान की मांग और उसकी वसूली के सख्त तरीकों के कारण कर भुगतान के लिए खेतिहरों-किसानों को अक्सर कर्ज लेना पड़ता। अत्यधिक सूद देने के अलावा फसल तैयार हो जाने पर उसे अक्सर अपना अनाज सस्ते भाव पर बेच देने के लिए विवश कर दिया जाता। अपनी चिरकालिक गरीबी से विवश किसान को, खास तौर पर सूखा, अकाल और बाढ़ के दिनों में महाजन की शरण लेनी पड़ती थी। दूसरी तरफ महाजन अपने लाभ के लिए नयी न्याय व्यवस्था और प्रशासन तंत्र का तिकड़मपूर्ण प्रयोग करने में समर्थ था। सच्चाई यह है कि इस मामले में खुद सरकार ने ही उसकी मदद की, क्योंकि बिना महाजन के सहयोग के न तो समय के भीतर लगान की वसूली हो पाती न ही कृषि-उपज के निर्यात के लिए बंदरगाहों तक पहुंचाई जा सकती। यहां तक कि तिजारती फसलों को निर्यात के लिए तत्काल प्राप्त करने में सरकार को इन महाजनों का सहारा इसलिए लेना पड़ता था ताकि वे किसानों को वित्तीय मदद देकर राजी कर सकें। अतः यह आश्चर्यजनक नहीं कि समय के बीतने के साथ इस महाजन वर्ग ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में एक प्रभुत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त करना शुरू कर दिया। जमींदारी और रैयतवारी दोनों ही पद्धतियों में बहुत बड़े पैमाने पर जमीन वास्तविक खेतिहरों के हाथों से निकल कर महाजनों, व्यापारियों, अधिकारियों और धनी किसानों के हाथों में चली गयी। परिणाम यह हुआ कि भू-स्वामित्ववाद पूरे देश में भूमि संबंधी रिश्तो का एक प्रभुत्वपूर्ण अंग बन गया।

लगान वसूल करने वाले बिचौलिये भी पैदा हुए। इस प्रक्रिया को उप-भूप्रदान कहा जाता है। इन नये भू-स्वामियों और जमींदारों का जमीन से संबंध पुराने जमींदारों से भी कम था। यह तकलीफ उठाने के बदले, कि लगान की वसूली के लिए एक मशीनरी का संगठन हो, उन्होंने बिचौलियों के नाम अपने अधिकार का उपपट्टा कर दिया।

इस प्रकार ब्रितानी शासन के प्रभाव स्वरूप भूमि संबंधी रिश्तों के ऐसे नये ढांचे का विकास हुआ जो अत्यंत प्रतिगामी था, अग्रगामी का एकदम उल्टा। इस नयी पद्धति में कृषि के विकास की रत्ती भर भी संभावना नहीं थी। सामाजिक धरातल पर सतह से लेकर शिखर तक एक नये सामाजिक वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। शिखर पर भू-स्वामी, बिचौलिये, और कर्ज देने वाले महाजन तथा सतह पर मर्जी के काश्तकार, बंटाईदार और खेतिहर मजदूर पैदा हुए। यह नया स्वरूप न तो पूंजीवादी था न सामंतवादी और न ही मुगलों की पुरानी व्यवस्था की कोई कड़ी था। यह एक नया ढांचा था जिसे उपनिवेशवाद ने बनाया। यह अर्द्ध-सामंती और अर्द्ध-औपनिवेशिक कहा जाता है।

इस सबका सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह था कि खेती के तरीकों में सुधार करने या अधिक उत्पादन के लिए उसे आधुनिक ढंग से विकसित करने का सर्वथा कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। खेती करने का ढंग अपरिवर्तित रहा। बेहतर किस्म के औजार, अच्छे बीज, और विभिन्न किस्म के खाद और उर्वरकों के इस्तेमाल की कोई शुरुआत ही नहीं की गयी। दरिद्रता के मारे हुए खेतिहर-किसानों के पास कृषि को समुन्नत करने के साधन नही थे। भू-स्वामियों मे ऐसा करने का उत्साह नहीं था और उपनिवेशित सरकार का बर्ताव एक विचित्र किस्म के जमींदार का था। उसकी दिलचस्पी अधिक राजस्व खसोटने में थी और उसने भारतीय कृषि को विकसित और समुन्नत करने या उसका आधुनिकीकरण करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया।

परिणाम था कृषि के उत्पादन में एक लंबे समय तक का गतिरोध ! कृषि संबंधी आंकड़े केवल 20वीं शताब्दी के ही उपलब्ध हैं और यहां पर तस्वीर बहुत निराशाजनक है। सन् 1901 और 1919 के बीच, जबकि सारे कृषिजन्य उत्पादन में 14 प्रतिशत की गिरावट आयी, खाद्यान्नों के प्रति व्यक्ति उत्पादन में इस गिरावट का प्रतिशत 24 था। काफी दूर तक यह गिरावट सन् 1918 के बाद आयी।

उद्योग-व्यापार पर प्रभाव

कृषि की ही तरह भारत की ब्रितानी सरकार ने उद्योग और व्यापार पर भी अपना नियंत्रण शुद्ध रूप मे ब्रितानी हितों के पोषण की दृष्टि से किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत उपनिवेशवाद (जो एक व्यापारिकक्रांति थी) के प्रभाव में आया और विश्व बाजार से जुड़ गया लेकिन वह अपनी हैसियत को अधीनस्थ बनाने के लिए विवश कर दिया गया। खास तौर से सन् 1858 के बाद विदेशी व्यापार में बड़ी वृद्धि हुई। सन् 1834 में यह व्यापार 15 करोड़ का था, जो 1858 में 60 करोड़ और 1899 में 2 अरब 13 करोड़ हो गया। सन् 1924 में यह बढ़कर 7 अरब 50 करोड़ की ऊंचाई पर पहुंच गया लेकिन वृद्धि ने न तो भारतीय अर्थव्यवस्था के किसी स्वच्छ पक्ष का प्रतिनिधित्व किया, न ही भारतीय जनता के कल्याण मे इसका कोई अवदान

रहा, क्योंकि इसका इस्तेमाल ही, भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक और विश्व पूंजीवाद का आश्रित बनाने के लिए मुख्य औजार के रूप में किया गया था। भारत के विदेशी व्यापार का विकास न तो स्वाभाविक था न ही सामान्य। इसका पोषण साम्राज्यवाद के हितों की सिद्धि के लिए बनावटी ढंग से किया गया था। विदेशी व्यापार की बनावट और उसकी प्रकृति में असंतुलन था। ब्रिटेन में उत्पादित वस्तुओं का देश में ढेर लगा दिया था और उसे मजबूर कर दिया गया था कि वह ब्रिटेन तथा अन्य बाहरी देशों की आवश्यकता के अनुसार कच्चे माल का उत्पादन तथा निर्यात करे।

अंततः एक बात और। विदेशी व्यापार ने देश के भीतर के वितरण को बुरी तरह प्रभावित किया। ब्रितानी नीति ने साधनों को किसानों और कारीगरों से छीनकर सौदागरों, महाजनों और ब्रितानी पूंजीपतियों के हाथों में पहुंचाने में मदद की।

इस दौर के भारत के विदेशी व्यापार का एक विशिष्ट पक्ष यह था कि आयात की तुलना में निर्यात में निरंतर वृद्धि हुई। हमें यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि यह भारत के लिए लाभकारी था। इस निर्यात का मतलब भारत के धन और साधन का बाहर जाना था क्योंकि इसके नाम पर भारत बाहरी देशों पर भविष्य में कोई दावा नहीं कर सकता था। हमें यह अवश्य ही याद रखना चाहिए कि विदेशी व्यापार का विपुल भाग विदेशी हाथों में था और लगभग सारा माल विदेशी जहाजों पर ही बाहर भेजा जाता था।

ब्रितानी शासन का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव था शहरी और ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास और विनाश। न केवल भारत के हाथ से एशिया और यूरोप के विदेशी बाजार निकल गये, वरन् भारतीय बाजार भी बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा बनाये सस्ते माल से पट गये। परिणाम था देशी हस्तशिल्प की समाप्ति। देशी उद्योगों की बरबादी और रोजगार के अन्य साधनों के अभाव में लाखों की संख्या में कारीगर खेती की ओर तेजी से मुड़े। अतः कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ गया।

आधुनिक उद्योगों का विकास

ब्रितानी शासन ने आधुनिक पूंजीवादी उद्योग के पनपने की परिस्थितियां पैदा कीं। इसने पूरे देश में बड़े पैमाने पर परिवहन की व्यवस्था करके एक अखिल भारतीय बाजार बनाया। भारत में बहुत दिनों से कृषि और ग्रामीण उद्योगों के बीच एक सामंजस्य बना हुआ था। लेकिन चूंकि घरेलू ढंग के ग्रामीण उत्पादन का स्वरूप (जिसमें हस्तशिल्प उद्योग शामिल थे) या तो नष्ट या बुरी तरह छिन्न-विच्छिन्न हो गया था, ग्रामीण उद्योगों और कृषि के बीच का रिश्ता भी खत्म हो गया। लाखों की संख्या में कारीगर बेरोजगार हो गये थे। नयी राजस्व व्यवस्था में लाखों खेतिहर अपनी जमीन से वंचित हो गये। लेकिन इन दोनों स्थितियों के फलस्वरूप एक स्वतंत्र मजदूर शक्ति का भी जन्म हुआ। इन मजदूरों के पास रोजी-रोटी के लिए सिवाय इसके कोई

चारा नहीं था कि वे दैनिक मजदूरी पर काम करें। इस प्रकार एक आधुनिक पूंजीवादी उद्योग के लिए आवश्यक दो चीजें—अखिल भारतीय बाजार और प्रचुर संख्या में सस्ते मजदूर—उपलब्ध हो गयीं। आधुनिक उद्योगों की स्थापना का काम 19वी शताब्दी के अंतिम 50 वर्षो में निरंतर चला।

भारत में औद्योगिक विकास 20वीं शताब्दी के प्रारंभ तक मुख्यतया चार प्रकार के उद्योगों तक सीमित रहा। सूती कपड़े और पटसन, कोयला खानें और चाय बागान। कुछ और छोटे उद्योगों; जैसे, रूई की ओटाई-जमाई, ऊनी कपड़े, आटा पीसने, धान कूटने और कड़ियां चीरने की मिलें, चमड़े के शोधनालय, कागज और चीनी के कारखाने, नमक, कहवा, सुवर्चल, पेट्रोल, और लोहे की खानों आदि को विकसित किया गया। इंजीनियरी, रेलवे और लोहे तथा पीतल की ढलाई के कुछ कारखाने भी स्थापित किये गये।

इन तथ्यों के आधार पर हमे यह कल्पना नही करनी चाहिए कि एक औद्योगिक क्रांति की आधारशिला रखी जा रही थी। ऐसा दूर दूर तक नहीं था : सबसे पहली बात तो यह कि अधिकांश आधुनिक उद्योग, जो सचमुच विकसित हुए विदेशी पूंजीपतियों के नियंत्रण में थे। दूसरे, हालांकि इस दौर में औद्योगिक विकास नियमित और क्रमबद्ध रूप में हुआ लेकिन उसकी गति अत्यंत मद्धिम थी। देश की विशालता और उसकी उस वक्त की जनसंख्या की तुलना में औद्योगीकरण के प्रयत्न इतने नाम मात्र के थे कि उसके संदर्भ में औद्योगीकरण शब्द का प्रयोग ही गलत लगता है। यहां तक कि सन् 1913 तक फैक्टरी कानून के अंतर्गत आने वाले मजदूरों की कुल संख्या 10 लाख से कम थी।

प्रथम विश्व युद्ध और सन् 1930-40 के बीच की मंदी ने भारत के पूंजीपति वर्ग के लोगों को पहली बार अस्थायी तौर पर (व्यावसायिक दिशा में) आगे बढ़ने का अवसर दिया। विदेशी आयात से कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी और सरकार भी भारतीय पूंजीपतियों, व्यापारियों और ठेकेदारों को माल की आपूर्ति के बड़े बड़े आदेश देने को विवश कर दी गयी थी। इस दौर में भारतीय पूंजीपतियों ने पर्याप्त लाभ कमाया लेकिन युद्ध की समाप्ति के साथ विदेशी प्रतिस्पर्द्धा फिर शुरू हो गयी और जल्द ही उद्योगों में मदी या निष्क्रियता का समय आ गया।

इस प्रकार देखा जा सकता है कि सन् 1947 तक भारत का औद्योगिक विकास मद्धिम और बाधित रहा। औद्योगिक क्रांति का प्रतिनिधित्व तो दूर; उसकी शुरुआत तक नहीं हुई। इसमें अधिक महत्व की बात यह है कि सीमित विकास की स्वतंत्रता नहीं थी, वह भी विदेशी पूंजी पर आश्रित था। दूसरे यह कि विकास का ढांचा ही ऐसा बनाया गया था कि उसका और अधिक विस्तार ब्रिटेन पर आश्रित रहे। बड़ी पूंजी से उत्पादित माल और रसायन उद्योगों का लगभग पूरा अभाव था। इसके बिना उद्योग का स्वायत्त और तेज विकास मुश्किल से हो पाता। मशीनी औजार बनाने और धातुशोधन के उद्योग तो सही अर्थो में थे ही नहीं। इतना ही नहीं, तकनीक के क्षेत्र में भारत पूंजीवादी दुनिया पर पूरी तौर से आश्रित था। देश में किसी भी प्रकार का तकनीकी अनुसंधान कार्य नहीं किया गया।

संक्षेप में भारत में एक वाणिज्यिक परिवर्तन आया; औद्योगिक क्रांति नहीं हुई। झुकाव एक स्वतंत्र औद्योगिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर न होकर एक आश्रित, अर्द्धविकसित औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की ओर था। ब्रितानी शासन के अंतर्गत भारत की औद्योगिक प्रगति का एक निषेधक पक्ष और था, और उसे देश के कुछ क्षेत्रों और नगरों में केंद्रित कर दिया गया था। यहां तक कि सिंचाई की सुविधाओं और कारखानों के लिए बिजली का बंटवारा भी बहुत असमान अनुपात में किया गया था। इसकी वजह से आय के स्वरूप, आर्थिक विकास और सामाजिक स्तरीकरण में एक बड़ी क्षेत्रीय असमानता बढ़ी।

भारत में ब्रितानी शासन का एक बड़ा कुपरिणाम यह था कि दरिद्रता अपनी चरम सीमा पर रही और देश के अधिसख्य लोग सामान्य समय में जिंदा रहने के लिए आवश्यक न्यूनतम से भी कम पर गुजारा करते रहे और जब देश अकाल या बाढ़ की चपेट में आया तब लाखों की संख्या में मरते रहे। प्रति व्यक्ति आय कम थी और बेरोजगारी बहुत फैली हुई थी। दादाभाई नौरोजी ने सन् 1880 में यह दिखाया कि यहां की जेल के एक अपराधी के खाने-कपड़े पर एक भारतीय की औसत आमदनी से 50 प्रतिशत अधिक खर्च किया जा रहा था। इस दरिद्रता का परिणाम रहा दुर्बल स्वास्थ्य, आयु की क्षीणता, और समय से पहले मृत्यु। लोगों की यह दरिद्रता स्पष्ट रूप से 19वीं शताब्दी के अंतिम 50 वर्षो में निरंतर पड़ने वाले उन अकालों मे देखी गयी जिससे देश तहस-नहस हो गया था। सन् 1860 और 1908 के बीच के 20 वर्ष अकाल के वर्ष रहे। एक अनुमान के अनुसार सन् 1854 से लेकर 1901 के बीच अकाल से लगभग 2 करोड़ 90 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इन अकालों से ही जाहिर हो गया कि दरिद्रता और दीर्घकालिक भुखमरी ने उपनिवेशित भारत में गहरी जड़ें जमा ली थीं।

भारत की दरिद्रता, उसके भूगोल, या प्राकृतिक साधनों की कमी, या यहां के लोगों के चरित्र या क्षमता में अंतर्निहित किसी दोष से पैदा नहीं हुई थी। न ही वह मुगलकाल या पूर्व-ब्रितानी अतीत का अवशेष थी, यह दरिद्रता पिछले दो दशकों की देन थी। उसके पहले तक भारत पश्चिमी यूरोप के देशों से ज्यादा पिछड़ा हुआ नहीं था। न ही उस समय के रहन सहन के स्तर में दुनिया के अन्य देशों की तुलना में कोई बड़ा अंतर था। यथार्थ यह है कि जिस दौर में पश्चिमी देश विकसित और संपन्न हो रहे थे, भारत के कंधे पर आधुनिक उपनिवेशवाद का जुआ रखकर उसे विकसित होने से वंचित कर दिया गया। आज के बहुत से विकसित देशों का विकास लगभग पूरी तरह उसी दौर में हुआ जिसमें भारत पर अंग्रेजों का शासन था। उनमें से अधिसंख्य सन् 1850 के बाद तक यही करते रहे। सन् 1750 तक दुनिया के विभिन्न देशों के रहन-सहन के स्तर में बड़ा फर्क नहीं था। इस संबंध में यह बात दिलचस्पी के साथ ध्यान देने की है कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ और बंगाल पर उनकी विजय का संयोगवश समय एक ही है।

मूल तथ्य यह है कि जिन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं ने ब्रिटेन की सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति, और उसके औद्योगिक विकास को जन्म दिया उन्हीं प्रक्रियाओं

से भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन तथा उसके अपेक्षा से कम आर्थिक विकास का भी जन्म हुआ और इस स्थिति को बदस्तूर रखा गया। इसके कारण भी स्पष्ट हैं। ब्रिटेन ने भारत की अर्थव्यवस्था को अपनी अर्थव्यवस्था के अधीन रखा और भारत की मूलभूत सामाजिक प्रवृत्तियों का निरूपण अपनी आवश्यकताओं के अनुसार किया। परिणाम भारत के कृषि और उद्योग में गतिरोध का आना, जमींदारों, भू-स्वामियों, राजाओं, महाजनों, व्यापारियों, पूंजीपतियों और विदेशी सरकार के अधिकारियों द्वारा उसके किसानों-मजदूरों का शोषण और दरिद्रता, बीमारी, और अर्द्ध-भुखमरी की स्थिति का विस्तार।

सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रभाव

ब्रितानी शासन के साथ साथ पश्चिम से एक संबंध भी जुडा और वे आधुनिक विचार जो पहले पहल पश्चिमी यूरोम में विकसित हुए थे भारत में आये। यदि अंग्रेज भारत में आये ही न होते तो यह देश उन परिवर्तनों से अछूता रह गया होता जो 18वीं और 19वी शताब्दी में पश्चिम में आये थे। परिवर्तन की हवा निश्चय ही भारतीय तट पर भी पहुंची होती, क्योंकि इस देश ने कभी भी कूपमडूकता की नीति नहीं अपनायी। शताब्दियों से इसने न केवल एशिया बल्कि यूरोप के देशों से यात्रा और व्यापार के जरिये सपर्क स्थापित कर लिया था। यूरोप या अन्यत्र कहीं जो घटनाएं घटी, और पश्चिम में जो नये विचार आये, उनके समाचार इन्हीं साधनों से 18वीं शताब्दी में ही भारत मे पहुंचने लगे थे। लेकिन यह संभव है कि इस प्रक्रिया की गति मद्धिम रही होती, और इसमें बहुत समय लगा होता। ब्रितानी शासन ने उन्हें शीघ्र भारत पहुंचाने में न केवल मदद की बल्कि विदेशी आधिपत्य की प्रकृति के ही कारण उन प्रभावों का तेजी से विस्तार हुआ और वे देशी संदर्भो से जुड़कर सार्थक हो गये।

प्रभुसत्ता, मानवतावाद, जनतंत्र और युक्तिवाद ने भारत के लोगों के बौद्धिक जीवन को प्रभावित करना शुरू किया और उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन आये। इन नये विचारों से न केवल भारतवासियो को अपनी अर्थव्यवस्था, सरकार और समाज के गुण-दोष पर विवेचक दृष्टि से विचार करने बल्कि भारत में ब्रितानी साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति को समझने में भी मदद मिली।

आधुनिक विचारों का प्रसार कई माध्यमो, राजनैतिक दलों, छापाखानो, प्रचार पुस्तिकाओं और सार्वजनिक मंचो से हुआ। आधुनिक शिक्षा के प्रसार की जो शुरुआत सन् 1813 के बाद सरकार, ईसाई धर्म के प्रचारकों और भारतीयों के निजी प्रयत्नों द्वारा हुई, उसने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालांकि यह भूमिका पूरे तौर पर अंतर्विरोधों से भरी हुई और संकीर्ण रही।

पहली बात यह कि आधुनिक शिक्षा का प्रसार बहुत सीमित था। यह लगभग सौ वर्षो तक परंपरागत शिक्षा व्यवस्था की क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ रहा। विदेशी सरकार ने प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा की उपेक्षा की। उच्चतर शिक्षा के प्रति तो उसका दृष्टिकोण सन् 1858

के तत्काल बाद ही विद्वेषपूर्ण हो गया था। जैसे ही, बहुत से शिक्षित भारतीयों ने हाल ही में अर्जित अपने आधुनिक ज्ञान का प्रयोग, ब्रितानी शासन की साम्राज्यवादी और शोषक प्रकृति का विश्लेषण और आलोचना तथा साम्राज्यवाद विरोधी राजनैतिक आंदोलन के संगठन में किया, ब्रितानी शासकों ने उच्च शिक्षा में कटौती के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। वास्तव में सरकार उच्च शिक्षा के प्रसार को रोकने के अपने प्रयत्न मे असफल रही। क्योंकि एक बार शुरू हो जाने के बाद स्तर में निरंतर गिरावट आने के बावजूद, जनता की दबाई न जा सकने वाली मांग के कारण उसका क्रम चलता रहा।

यदि उस शिक्षा प्रणाली ने राष्ट्रवादिता के वाहक की भूमिका निभाई तो यह भूमिका इस रूप में अप्रत्यक्ष थी कि उसने शिक्षार्थियों को भौतिक तथा सामाजिक विज्ञान तथा कला विषयक आधारभूत साहित्य उपलब्ध किया जिससे उनकी सामाजिक विश्लेषण करने की क्षमता को प्रोत्साहन मिला। अन्यथा उस प्रणाली का ढांचा, स्वरूप, उद्देश्य, ढंग, और विषयवस्तु तथा पाठ्यक्रम सभी कुछ इस तरह तैयार किये गये जिनसे उपनिवेशवाद के हितों की सिद्धि होती थी।

उपनिवेशवादी प्रकृति के कारण भारतीय शिक्षा के जो कतिपय अन्य पक्ष उभरे उन पर भी ध्यान देना चाहिए। आधुनिक उद्योग के उद्‌भव और विकास के लिए आधुनिक तकनीकी शिक्षा की प्रारंभिक आवश्कता होती है। एक पक्ष यह है कि उस शिक्षा की पूरी उपेक्षा की गयी। दूसरा पक्ष यह कि शिक्षा के माध्यम के लिए भारतीय भाषाओं की जगह पर अंग्रेजी पर बल दिया गया। इसकी वजह से शिक्षा का न केवल जनता में प्रसार रुक गया बल्कि शिक्षित समुदाय और आम जनता के बीच भाषाई और सांस्कृतिक खाई पैदा हो गयी। शिक्षा के लिए आवश्यक फंड की सरकार द्वारा अस्वीकृति के कारण, धीरे धीरे उसके स्तर में ह्रास आया और वह अत्यत नीचे आ गया और क्योंकि विद्यार्थियों को स्कूलों-कालेजों में फीस देनी पड़ती थी अतः शिक्षा पर कस्बों और शहरों में रहने वालों तथा मध्य और उच्च वर्ग के लोगों का, वस्तुतया एकाधिकार हो गया।

नये विचार, एक नया आर्थिक और राजनीतिक जीवन तथा ब्रितानी शासन ने भारतीय लोगों के सामाजिक जीवन पर एक गहरी छाप छोड़ी। इसकी अनुभूति पहले शहरी क्षेत्रों में हुई। बाद में इसने गांवों में भी प्रवेश किया। आधुनिक उद्योग, संचार के नये साधन, विकसित होता शहरीकरण तथा कारखानों, दफ्तरों, अस्पतालों और स्कूलों में स्त्रियों की अधिकाधिक नियुक्ति से सामाजिक परिवर्तन में तेजी आयी। सामाजिक अलगाव और जातिगत कट्टरपंथिता समाप्त हो रही थी। भूमि और ग्रामीण संबंधों के पूरी तरह छिन्न भिन्न हो जाने की वजह से देहाती क्षेत्रों में जातीय संतुलन बिगड़ गया। हालांकि बहुत सी बुराइयां बनी हुई थीं लेकिन पूंजीवाद के प्रवेश ने सामाजिक हैसियत को धन का आश्रित बना दिया और लाभ कमाना सर्वाधिक चाहा जाने वाला सामाजिक काम हो गया।

शुरू शुरू में उपनिवेश सरकार की नीतियों ने सामाजिक सुधार को प्रोत्साहन दिया। भारतीय

समाज को आधुनिक बनाने के प्रयत्न हुए ताकि टेश पर आर्थिक अंकुश लग सके तथा ब्रितानी शासन की जड़ें मजबूत की जा सकें। भारत की जाति व्यवस्था से लिपटे घोर सामाजिक अन्याय, और समाज में स्त्रियों की हीन स्थिति की तरफ भी कुछ अधिकारियों का ध्यान लगा। इसका कारण उसकी इंसानी भावना थी, और इसने कुछ दूर तक एक भूमिका निभायी। इस अवस्था में भारतीय समाज के सुधार में ईसाई धर्म प्रचारकों का भी योगदान रहा। लेकिन शीघ्र ही उपनिवेशवाद के दीर्घकालीन हित और उसकी मूलभूत अनुदान प्रकृति का आग्रह प्रबल ढंग से सामने आ गया और सामाजिक सुधार की उपनिवेशवादी नीति बदल दी गयी। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने सुधारकों को समर्थन देना बंद कर दिया और वे धीरे धीरे समाज के उन लोगों के पक्ष में आ गये जो कट्टर और रुढ़िवादी थे।

जो भी हो, अंग्रेजों ने जिस सामाजिक नीति का अनुसरण किया था वह निष्क्रिय नहीं रह सकी। राष्ट्रवादिता की बढ़ती हुई चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए शासको ने तेजी के साथ **फूट डालो और राज्य करो** की नीति अपना कर साम्प्रदायिकता और जातिवाद को सक्रिय प्रोत्साहन दिया। परिणाम यह हुआ कि समाज की प्रतिक्रियावादी शक्तियां प्रभावशाली हुई।

जनता के मन में बौद्धिक और राजनीतिक स्तर पर जो हलचल पैदा हुई उसने भी सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन को आगे बढ़ाया। लेकिन सामाजिक परिवर्तन की सबसे अधिक प्रबल शक्तियां तब उभरीं जब छोटी जाति के लोगों तथा स्त्रियों ने अपनी दलित स्थिति के प्रति जागरूक होकर समाज पुनर्प्रतिरूपण के लिए संघर्ष करना शुरू किया। 19वीं शताब्दी के अत में ज्योतिबा फुले सरीखे लोगो के नेतृत्व मे निचली जाति का एक प्रभावशाली आंदोलन निर्मित हुआ। इसी तरह दक्षिण भारत तथा केरल में सन् 1920-30 के बीच उच्च वर्ग के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न के विरुद्ध निम्न वर्ग ने स्वयं को संघर्ष के लिए संगठित किया। स्त्रियां और आदिवासी लोग भी अपने अधिकारों की रक्षा मे उठ खड़े हुए। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सभी लोगों को तैयार करने के लिए राष्ट्रीय आंदोलन ने प्रतिबद्धता के स्वर में घोषणा की कि उसका उद्देश्य धर्म, जाति और स्त्री-पुरुष की विशिष्टताओं को समाप्त करना है। इतना ही नहीं, प्रदर्शनों में आम जनता की हिस्सेदारी, सार्वजनिक सभाओं, लोकप्रिय आंदोलनों, मजदूर संघों और किसान सभाओं ने जातीयता और आरोपित वरिष्ठता की धारणा को दुर्बल किया।

भारतीय संस्कृति का आधुनिकीकरण एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था। एक ओर भारतीय समाज के रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी वर्ग ने आधुनिक संस्कृति की शुरुआत का विरोध इसलिए किया ताकि खतरे की शिकार अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक हैसियत की रक्षा कर सकें, लेकिन दूसरी ओर मध्य और उच्च श्रेणी के कुछ खास वर्ग के भारतीय उसकी विरोधी प्रवृत्ति से दुखी हुए। उन्होने पश्चिमी जीवन और संस्कृति के स्वस्थ, मानवतावादी और वैज्ञानिक तत्वों को सावधानीपूर्वक अपनाने के बजाये बिना परीक्षण किये ही उसका अंधानुकरण किया। उन्होंने यूरोपीय तौर-तरीकों और रीति-रिवाजों की बंदरों की तरह नकल की। उन्हें यह अहसास नहीं

रहा कि आधुनिकता का प्रश्न सोचने विचारने की दृष्टि और मूल्यों से जुड़ा हुआ है न कि बातचीत करने के तरीके, पोशाक या खाने की आदतों से। उन्होंने यह महसूस नहीं किया कि आधुनिक विचार और संस्कृति को भारतीय संस्कृति में सुगंधित करके ही सब से अच्छी तरह अपनाया जा सकता है।

एक बार फिर, इस प्रतिभास की जड़ें वापस जाकर उपनिवेशित नीतियों से जुडीं। भारतीयों को 'राज' की वफादार प्रजा और अपने माल का बेहतर ग्राहक बनाने के लिए अंग्रेजों ने अपने उपनिवेश भारत पर अंग्रेजी संस्कृति थोपने का हर प्रयत्न किया।

ब्रितानी लेखकों और कूटनीतिज्ञों ने भी भारतीय समाज और संस्कृति की आलोचना भारत पर अपने राजनीतिक और आर्थिक शासन का औचित्य सिद्ध करने के लिए की। उन्होंने घोषणा की, क्योंकि भारत के समाज और संस्कृति में ही बुनियादी दोष हैं अतः वहां के लोगों की नियति ही यह है कि वे अनंतकाल तक विदेशियों द्वारा शासित होते रहें। इन दोनों ही चीजों की भारत में गहरी प्रतिक्रिया हुई। बहुत से भारतीयों ने स्वशासन संबंधी अपनी योग्यता को सिद्ध करने के लिए भारत के दूरस्थ अतीत को महिमा मंडित करना आवश्यक समझा। दूसरों ने पश्चिमी सभ्यता की नकल करने वालों को विषय बनाकर उनकी खिल्ली उड़ाई और आधुनिक विचार और संस्कृति के अवस्थापन का विरोध किया। उनका विश्वास था कि अपनी सास्कृतिक स्वायत्तता को सुरक्षित रखने का सबसे अच्छा तरीका होगा एक बार फिर अपने ही भीतर झांकना। हालांकि इस तरह से सोचने वालों की संख्या कम थी लेकिन उनका एक निश्चित प्रभाव लोगों पर (खास तौर से शहरों के निम्न–मध्य वर्ग पर) रहा।

ब्रितानी शासन ने भारत के संपूर्ण भौगोलिक क्षेत्र को एक शासन के अधीन ला दिया। उसने समान प्रशासन और कानून लागू करके देश को एकबद्ध भी किया। संचार के आधुनिक तरीकों (रेल, तार की आधुनिक व्यवस्था, सड़कों का विकास और मोटर परिवहन) ने भी एकबद्धता की दृष्टि से वैसा ही असर डाला। गांवों और स्थानिक जगहों को आर्थिक आत्मनिर्भरता के विनाश और भीतरी व्यापार के विकास ने भी एकबद्ध भारतीय अर्थव्यवस्था के उभार की परिस्थितियां पैदा कीं। आधुनिक उद्योगों ने कच्चे माल के स्रोत और बाजार दोनों ही दृष्टियो से पूरे भारत को अपना क्षेत्र बनाया था, और सारा देश उनकी बाहों मे आ गया। यहां तक कि उन्होंने मजदूरों की भर्ती भी एक व्यापक अंतर्क्षेत्रीय आधार पर की। धीरे धीरे भारतीय लोगों का आर्थिक भाग्य एक दूसरे से जुड़ता जा रहा था और भारत का जीवन एक समुच्चय का रूप लेने लगा था। सारे देश में शिक्षा का स्वरूप एक था। आधुनिक विचारों को ग्रहण करने की विधि एक थी। इसके कारण धीरे धीरे अखिल भारतीय स्तर पर एक ऐसे शिक्षित वर्ग का जन्म हुआ जिसका समाज की ओर देखने का तरीका और दृष्टिकोण समान था। इसी तरह इस दौर में दो नये वर्गो का जन्म हुआ। एक पूंजीपति वर्ग और दूसरा मजदूर वर्ग। इनकी प्रकृति पूरे देश के धरातल में समान थी और ये जाति, धर्म और क्षेत्र के परंपरागत विभाजनों से ऊपर उठे हुए थे।

इन सभी चीजों से अलग भारतीय लोगों का दमन करने वाले एक शत्रु का अस्तित्व बदस्तूर था। एक शत्रु ने भारतीयों को उनके सामाजिक वर्ग, जाति, धर्म और क्षेत्र के आग्रह से ऊपर उठाकर एकबद्ध किया। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में इस दौर में एकता की जो भावना पैदा हुई उसने लोगों को भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर एकबद्ध किया और एक समान राष्ट्रीय दृष्टिकोण का जन्म हुआ।

ब्रितानी शासन तथा भारत के सामाजिक गुट और वर्ग

समय के बीतने के साथ साथ, ब्रितानी शासन का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप में उभरा। ब्रितानी राज्य तथा भारतीयों के उद्देश्यों, लक्ष्यों और हितो की टक्कर और अंतर्विरोध एकदम खुलकर सामने आ गये। अधिक से अधिक भारतीयों ने महसूस किया कि अंग्रेज अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए भारत पर राज्य कर रहे हैं। उन्हें सामान्य रूप में अंग्रेजी राज्य, और विशेष रूप में अंग्रेज पूंजीपतियों के हितों की रक्षा के लिए भारतीय हितों की बलि चढ़ा देने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। उपनिवेशवाद ही भारत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पिछड़ेपन का बड़ा कारण बन गया है। भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों और गुटों ने धीरे धीरे यह पता लगा लिया कि ब्रितानी शासन सभी आधारभूत क्षेत्रों में उनके विकास में बाधा पहुंचा रहा है।

संभवतया किसान वर्ग ब्रितानी उपनिवेशवाद का मुख्य शिकार था। सरकार ने उसके उत्पादन का बड़ा अंश लगान और अन्य करों के रूप में ले लिया। वह जल्द ही भू-स्वामियों और कर्ज देने वाले महाजनों की मजबूत पकड़ में फंस गया। उसको लगा कि न तो वह अपनी जमीन का मालिक है, न अपनी पैदावार का और न ही अपनी श्रम-शक्ति का। और जब उसने जमींदारों, भू-स्वामियों और महाजनों के विरुद्ध राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष का संगठन किया तब सरकार ने कानून और व्यवस्था के नाम पर अपनी सारी पुलिस और मशीनरी का उसके विरुद्ध इस्तेमाल किया और अक्सर निर्दयतापूर्वक उसके संघर्ष को कुचल दिया। वक्त के साथ साथ किसानों ने साम्राज्यवादी भूमिका को समझ लिया और पाया कि उनके दुखमय संघर्ष की मुख्य जिम्मेदारी इस तंत्र की ही है।

कारीगरों और शिल्पकारों को भी साम्राज्यवाद के कारण मुसीबतें झेलनी पड़ीं थीं। बिना नौकरी और मुआवजे के, अन्य नये स्रोतों के विकास से उनके सदियों पुराने जीवन निर्वाह के साधनों को छीन लिया गया था। 19वीं शताब्दी के अंत तक उनकी हालत अत्यंत नाजुक और खस्ता हो गयी थी। फल यह हुआ कि 20वीं शताब्दी के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में उन्होंने बहुत सक्रिय भाग लिया।

आधुनिक उद्योगों के विकास के साथ भारत में एक नये सामाजिक वर्ग—मजदूर वर्ग का जन्म हुआ। यद्यपि यह वर्ग संख्या में छोटा था और पूरी आबादी में इसका अनुपात बहुत कम था, फिर भी इसने एक नये सामाजिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। इसके सामने सदियों

पुरानी परंपराओं, रीति-रिवाजों और जीवन के तौर-तरीकों के बोझ को ढोने की विवशता नहीं थी। प्रारंभ से ही उसके हित और दृष्टिकोण की प्रकृति अखिल भारतीय रही। अलावा इसके, मजदूरों का एकत्रण कारखानों और शहरों में हुआ। इन्हीं कारणों से उनके राजनीतिक कार्यो को, उनकी संख्या की तुलना में कहीं बहुत अधिक महत्व मिला।

भारतीय मजदूरों की काम करने और रहने की स्थिति बहुत ही असंतोषजनक थी। सन् 1911 तक उनके काम के घंटों को लेकर नियत्रण की कोई कानूनी व्यवस्था नहीं थी। बीमारी, बुढ़ापा, बेरोजगारी, दुर्घटना या आकस्मिक मृत्यु के विरुद्ध किसी प्रकार का सामाजिक बीमा नहीं था। भविष्य निधि की योजनाएं नहीं थीं। प्रसूति लाभ योजना सन् 1930-40 के बीच चलायी गयी हालांकि वह भी अत्यंत असंतोषजनक थी।

सन् 1889 और 1929 के बीच कारखाने के मजदूरों की वास्तविक मजदूरी मे गिरावट आयी। सन् 1880 और 1890 के बीच मिलने वाली मजदूरी के स्तर को 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में पुनः लाना केवल तब संभव हुआ जब एक शक्तिशाली मजदूर संघ के आंदोलन का विकास हो गया, और यह भी तब जब श्रम उत्पादकता में 50 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी। परिणाम यह कि एक औसत मजदूर, जिंदा रहने के लिए जितना आवश्यक है उससे भी कम पर जी रहा था। ब्रितानी शासन में भारतीय मजदूरों की हालत को निचोड़ के रूप में प्रस्तुत करते हुए जर्मनी के प्रसिद्ध आर्थिक इतिहासकार जुरगेत कुज्यास्की ने सन् 1938 में लिखाः

> आधा पेट भोजन और बिना हवा, रोशनी और पानी के जानवरों की जगह (दड़बे में) रहने वाला भारत का औद्योगिक मजदूर विश्व के औद्योगिक पूंजीवाद में सबसे अधिक शोषित प्राणी है।

चाय और काफी के बागानों में हालत इससे भी खराब थी। ये बागान क्षीण आबादी वाले ऐसे क्षेत्रों में स्थित थे जहां की जलवायु स्वास्थ्य को खराब करने वाली थी, लेकिन बागानो के मालिक इतनी पर्याप्त मजदूरी नहीं देते थे कि बाहर के मजदूर आकर्षित हो सकें। इसकी जगह पर मजदूरों की भर्ती में वे झूठे वायदे करते थे, जाल-फरेब करते थे। मजदूरों के बागानों में बिलकुल गुलामों की तरह पड़े रहने के लिए वे सख्ती, मारपीट और शारीरिक यातना का सहारा लेते थे। यह एक आम तरीका था। सरकार ने उन्हें पूरी सहायता दी और दंड के ऐसे कानून बनाये जिनका सहारा लेकर वे बागान के मजदूरों को अपने उत्पीड़नकारी नियंत्रण में रख सकें।

समय के साथ साथ भारत के इस मजदूर वर्ग ने भी एक शक्तिशाली साम्राज्य विरोधी रुख अपनाया।

राष्ट्रीय आंदोलन की रीढ़ का काम करने वाला आबादी का एक अन्य बड़ा सामाजिक गुट मध्य और निम्न-मध्य वर्ग का था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, जब अंग्रेजों ने छोटे मोटे सरकारी कर्मचारियों की बड़ी संख्या में भर्ती की और नये स्कूल तथा अदालतों के खुलने से

नयी नौकरियों की जगह बनी तो इस वर्ग के लोगों को रोजगार के नये अवसर मिले। देश के भीतर और विदेशी व्यापार में अचानक वृद्धि होने के कारण हर स्तर पर एक दूकानदार वर्ग का उदय हुआ। लेकिन जल्दी ही एक अर्द्धविकसित उपनिवेशित अर्थतंत्र के तर्क ने प्रभावशाली ढंग से अपने आग्रह को सामने रखा। 19वीं शताब्दी के अंत तक सीमित संख्या वाले शिक्षित भारतीय—जिनकी पूरे देश की संख्या दिल्ली जैसे छोटे राज्य के आज के शिक्षितों की भी संख्या से कम थी—बेरोजगारी के शिकार हो गये। यहां तक कि जिन्हें नौकरियां मिल गयीं उन्हें भी लगा कि बेहतर तनख्वाह वाली ज्यादा जगहें मध्य और उच्च वर्ग के अंग्रेजों के लिए आरक्षित हैं। विशेषकर नौकरी की संभावना उन लोगों के लिए क्षीण हो गयी जो बी. ए. का प्रमाण-पत्र पाने से पहले विश्वविद्यालय की पढ़ाई खत्म करने के लिए विवश थे। मध्य और निम्न-मध्य वर्ग के भारतीयों ने जल्द ही यह महसूस किया कि केवल आर्थिक दृष्टि से विकसित और सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक देश ही उन्हें एक सार्थक और उपयुक्त जीवन बिताने के आर्थिक और सांस्कृतिक अवसर दे सकता है। वही तेजी से बढ़ती गरीबी से, बेरोजगारी से और सामर्थ्य की सामाजिक-आर्थिक क्षति से बचा सकता है।

भारत के औद्योगिक-पूजीपति वर्ग का विकास सन् 1858 के बाद हुआ था। इस वर्ग ने शीघ्र ही ब्रितानी पूंजीपतियों से प्रतिस्पर्द्धा शुरू की और अनुभव किया कि उसका विकास सरकारी व्यापार, परियात शुल्क, परिवहन और सरकार की वित्तीय नीतियों के कारण बाधित हो रहा है। एक स्वतंत्र आर्थिक विकास के लिए संघर्ष करते हुए प्रायः हर आधारभूत आर्थिक मुद्दे पर साम्राज्यवाद से उसकी टक्कर हुई।

भारत का पूंजीवादी वर्ग अपनी प्रारंभिक दुर्बलताओं और बाधाओं के कारण हुई क्षति की पूर्ति के लिए सरकार से सीधी और सक्रिय मदद चाहता था ताकि वह दृढ़तापूर्वक जमे हुए पश्चिमी यूरोप के उद्योगों के मुकाबले में आ सके। फ्रांस, जर्मनी और जापान के तत्कालीन उद्योग बड़े पैमाने पर और सक्रिय रूप मे दी गयी सरकारी सहायता से विकसित हो रहे थे। इस प्रकार की सहायता भारतीय पूंजीपतियों को नहीं दी गयी। अधिकतर भारतीय उद्योग की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि परियात शुल्क से छूट मिले ताकि उनका उत्पादन विदेशों के अधिक सस्ते माल के नीचे दब न जाये। न केवल उन्हें ऐसी छूट ही दी गयी बल्कि मुक्त व्यापार को भारत में विश्व के किसी भी अन्य देश से अधिक संपूर्णता के साथ चालू किया गया।

एक सहानुभूतिपूर्ण नौकरशाही भारतीय पूंजीपतियों को अनेक तरीकों से सहायता और सहयोग दे सकती थी। पश्चिमी यूरोप में नौकरशाही पूंजीपति वर्ग की वैसी ही समर्थक थी जैसे कि स्वयं पूंजीपति वर्ग। दोनों सैकड़ों तरह के सबंधों में एक दूसरे से बंधे थे। भारत में यह नौकरशाही विदेशी थी। वह अंग्रेज पूंजीपतियों के साथ खाती पीती थी। उसकी स्वाभाविक सहानुभूति अपने देशवासियों और उनकी औद्योगिक महत्वाकांक्षाओं से थी, संबंध उसका चाहे ब्रिटेन से हो चाहे भारत से। दूसरी तरफ यह नौकरशाही भारत के औद्योगिक प्रयत्नों के प्रति असहानुभूतिपूर्ण—यहां तक कि विद्वेषपूर्ण थी।

भारतीय पूंजीपतियों को सबसे अधिक भय, उनकी तुलना में कहीं बहुत अधिक, शक्तिशाली विदेशी पूंजी के आधिपत्य और दबाव से था। अपने अस्तित्व को बचाये रखने की प्रवृत्ति उनमें विशेषकर सन् 1918 के बाद तब उभरी जब भारतीय उद्योग में बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी उंड़ेली जाने लगी और ब्रिटेन के भीमकाय औद्योगिक फ़र्मों ने भारत में 20वीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में स्वीकृत परियात शुल्क, सस्ते भारतीय श्रम और बाजार की निकटता का लाभ उठाने के लिए अपनी सहकारी कंपनियां गठित करनी शुरू कीं। भारतीय पूंजीपतियों ने इस समय नारा लगाया : 'भारतीय बाजार पर भारतीय आधिपत्य।'

इस प्रकार भारतीय पूंजीपतियों ने पाया कि वे तेजी के साथ औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के ढांचे, प्रशासनिक मशीनरी और उसकी नीतियों के खुले विरोध में पड़ गये है। धीरे धीरे उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें एक स्वायत्त राष्ट्र और सरकार की जरूरत है जो देशी पूंजीपतियों के अनुकूल हो। यह सच है कि धनी होने तथा एक कमजोर किंतु विकसित होते वर्ग के सदस्य के नाते उन्होंने तत्काल विदेशी शासकों का सीधा और खुला विरोध नहीं किया क्योंकि वे उनके कतिपय प्रशासनिक पक्षानुग्रहों पर आश्रित थे। लेकिन सन् 1918 के बाद उन्होंने तेजी से बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन और उसके राष्ट्रवादी नेताओं को समर्थन (अधिकतर रुपये-पैसे से) देना शुरू किया।

राष्ट्रीयता के उद्‌भव में सबसे महत्वपूर्ण रचनात्मक भूमिका भारत के आधुनिक शिक्षित वर्ग ने निभाई। देश में यह पहला सामाजिक गुट था जिसने इस तथ्य को पहचाना कि भारत में ब्रितानी सत्ता की स्थापना से तेजी के साथ अतीत से संबंध विच्छेद हुआ है और एक नये ऐतिहासिक दौर का प्रारंभ हुआ है। ब्रितानी शासन के प्रति उसकी प्रारंभिक प्रतिक्रिया बहुत सकारात्मक थी। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में राजा राममोहन राय जैसे व्यक्तियों ने साफ तौर पर देख लिया था कि अंधी देशभक्ति काफी नहीं होगी क्योंकि इतने बड़े देश के मुट्ठी भर विदेशियों से पराजित होने का कारण देंश के भीतर का वह सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक स्वरूप है जिस पर ब्रिटेन ने अपनी उत्कृष्ट संस्कृति और सभ्यता थोप दी है। उन्होंने स्पष्टता और निर्ममता से भारत के तत्कालीन सामाजिक ढांचे और संगठन का विश्लेषण किया। उनका ख्याल था कि वे ढांचे और संगठित भारत के भविष्य के विकास का आधार नहीं बन सकते। अतः उन्होंने अपने समाज और देश को आधुनिक बनाने का निश्चय किया।

आर्थिक क्षेत्र में वे आधुनिक उद्योग आर्थिक विकास और संपन्नता की संभावनाओं की ओर आकर्षित हुए। उन्हें उम्मीद थी कि ब्रिटेन (जो कि आर्थिक दृष्टि से उस समय का सर्वाधिक समुन्नत देश था) अपने उपनिवेशों में (जिसमें भारत भी शामिल है) आधुनिक विज्ञान और तकनीक तथा आर्थिक संगठन का सूत्रपात करेगा। राजनीतिक क्षेत्र में उनका आकर्षण आधुनिक विचारों और जनता की प्रभुसत्ता के सिद्धांत की ओर था जिसकी परिणति जनतंत्र, अभिव्यक्ति और अखबार की स्वतंत्रता, तथा संगठन बनाने और शासकों की खुले रूप में आलोचना करने के अधिकार की उपलब्धि में होती है। उन्होंने स्वयं अपनी आंखों से भारत की एकबद्धता और

उसके निवासियों के एक राष्ट्र में जुड़ने की प्रक्रिया को देखा। अपने विश्वासों के विरुद्ध वे आधुनिक युक्तिवाद की शक्ति की ओर खिंचे। उन्होंने यह महसूस करना भी शुरू किया कि साहित्य और कला को अनिवार्यतया कुछ विशिष्ट वर्ग की जगह आम जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति का माध्यम बनाना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, एक तरफ तो उन्होंने आधुनिक शिक्षा के प्रसार और आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास की पैरवी की और दूसरी तरफ सामाजिक स्वतंत्रता तथा समाज और व्यक्ति की इस मानवतावादी धारणा से आकर्षित हुए कि व्यक्ति को उसके अपने लिए ही पुरस्कृत करना चाहिए।

अतः भारत के आधुनिक बुद्धिजीवियों ने लगभग आधी शताब्दी तक यह विश्वास किया कि क्योंकि ब्रिटेन उस समय का सर्वाधिक समुन्नत देश था, भारतीय समाज को नयी आकृति देने या उसको रूपांतरित करने का काम ब्रितानी शासन के अंतर्गत ही हो सकता था, होगा भी। परिणाम यह कि उन्होंने उस शासन को ईश्वरीय कहा और उसका समर्थन किया।

बहरहाल, जब 19वीं शताब्दी के 75 वर्षो में विकास संबंधी उनकी आशाएं किसी भी क्षेत्र में पूरी नहीं हुई तो धीरे धीरे एक व्यापक मोहभंग शुरू हुआ। अब उन्होंने यह महसूस करना शुरू किया कि ब्रितानी शासन के स्वभाव और उसकी प्रवृत्ति की उनकी समझ गलत थी और उनकी उम्मीदें गलत हाथों में पड़ गयी थीं।

अतः व्यवहार में, अंग्रेजों ने आधुनिक तकनीक और उद्योग को भारत में स्थानांतरित नहीं किया। विनाशकारी अकाल का जो क्रम देश में सन् 1866 से लेकर 1901 तक चला उसमें निर्देशित विकास के दिवास्वप्न चकनाचूर हो गये। बुद्धिजीवियों पर यह स्पष्ट हो गया कि देशवासियों की नियति घनघोर दरिद्रता है और आर्थिक विकास के नाम पर देश पिछड़ेपन की ओर बढ़ रहा है। उन्होंने महसूस किया कि जब तक भारतीय अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादियों का नियंत्रण है, देश का आर्थिक विकास नहीं हो सकेगा, बल्कि उल्टे, वह निरंतर पिछड़ता जायेगा। राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेज अधिकारियों और नेताओं ने भारतीयों को स्वशासन में प्रशिक्षित करने के नारे को अस्वीकृत करके घोषणा की कि ब्रितानी शासन का उद्देश्य एक उदार, स्वेच्छाचारी शासन की स्थायी स्थापना करना है। उन्होंने कहा कि भारतीय स्वशासन जनतंत्र के योग्य नहीं हैं। जिस अखबारी स्वतंत्रता ने भारत के शिक्षित वर्ग को इतना आकर्षित किया था, उसमें भी गलत काटछांट शुरू हो गयी। यहां तक कि अभिव्यक्ति और विचार की आधारभूत स्वतंत्रता और संगठन बनाने के अधिकार का तेजी से हनन किया जाने लगा, उसे सीमित किया जाने लगा। जिस कानून और व्यवस्था को उन्होंने शुरू में शांतिपूर्ण विकास और आधुनिकीकरण की मुख्य शर्त माना था, वह धीरे धीरे उनके राजनीतिक और आर्थिक विरोध के कवच बन गये। भारत को एक सूत्र में बांधने की प्रक्रिया को पूरा करने तथा उसे एक राष्ट्र में पुष्पित करने की जगह पर अंग्रेजों ने सांप्रदायिकता, जातीयता और क्षेत्रीयता की विभाजक शक्तियों को उभारा--राजे रजवाड़ों की पतनोन्मुख परंपरा को सहारा दिया और ऐसा करके देश पर अपना नियंत्रण बना रखने की कोशिश की। भारतीय बुद्धिजीवियों ने देखा कि सांस्कृतिक

क्षेत्र में आगे बढ़ने की जो भावना उभरी थी वह भी तेजी से खत्म हो गयी। भारत की ब्रितानी सरकार ने शिक्षा पर अपने बजट का 2 प्रतिशत से भी कम खर्च किया, आम जनता और स्त्रियो की शिक्षा की उपेक्षा की, तथा आधुनिक विचारो के प्रसार और उच्च शिक्षा के प्रति विद्वेषपूर्ण हो गयी। सन् 1858 के बाद ब्रितानी शासकों ने सामाजिक सुधार के सारे प्रयत्नों से हाथ खींच लिया और अपने को समाज, धर्म और संस्कृति की सर्वाधिक पिछड़ी, परंपरागत और ज्ञान विरोधी शक्तियों से जोड़ लिया।

फलस्वरूप, भारत के आधुनिक बुद्धिजीवियों ने ब्रितानी शासन की मूल प्रवृत्ति को नये सिरे से समझने और उसका परीक्षण करने का कठिन काम शुरू किया। उनकी समझ को विकसित होने में समय लगा। लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत तक उन्होंने यह महसूस करना शुरू कर दिया था कि जिस चीज को उन्होंने पहले भारत का आधुनिकीकरण समझा था वह वास्तव में उसका उपनिवेशीकरण था। अब उन्होंने साम्राज्यवाद के विरोध में एक राष्ट्रवादी राजनीतिक आंदोलन संगठित करने के लिए कमर कस ली।

तीन अन्य सामाजिक वर्गो (जमींदार, भू-स्वामी, राजे-रजवाड़ों, उच्च सरकारी पदों पर आसीन भारतीय नौकरशाही, और परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग) का साम्राज्यवाद के प्रति दृष्टिकोण अनिश्चित और द्विपक्षी था। एक वर्ग के रूप में जमींदार, भू-स्वामी, और राजे-रजवाड़े विदेशी सरकार के प्रति वफादार थे क्योंकि उनके और शासकों के हित संयोगवश एक हो गये थे। इसी तरह नौकरशही में उच्चतर पदों पर आसीन भारतीयों ने अपने शासकों के साथ साथ एक गरीब देश में उच्च स्तरीय रहन-सहन, प्रशासनिक अधिकार के अहसास और ऊंची सामाजिक हैसियत के लाभ में हिस्सा बंटाया। वे पूरे तौर पर ब्रितानी शासन के प्रति अंतिम समय तक वफादार बने रहे। लेकिन इन सामाजिक वर्गो के भी बहुत से व्यक्तियों ने उस समय की देशभक्ति की भावना से प्रभावित होकर राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लिया।

परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग--जिसमें धार्मिक चिंतक, पंडे-पुजारी, उपदेशक और सनातन शिक्षा प्रणाली के शिक्षक आते थे--विरोधी दबावो में पिस गया। समाज और धर्म संबंधी अपने सनातनी दृष्टिकोण के कारण इस वर्ग के लोग राजनीतिक रूढ़िवाद की ओर आकर्षित हुए। सत्ताधारियो के प्रति वफादार बने रहने की उनकी एक लंबी ऐतिहासिक परंपरा भी थी। इसी दौर में इस वर्ग के निचले स्तर के अधिसंख्य लोगों की हालत में तेजी से गिरावट आयी क्योंकि आधुनिक स्कूलों-कालेजों के प्रसार के कारण परंपरागत पाठशालाएं और मदरसे तथा उच्च अध्ययन के पारंपरिक केंद्र बंद हो गये। परंपरा से बधे हुए बहुत से बुद्धिजीवी भी आधुनिक सस्कृति और विचार तथा धार्मिक समाज सुधार के आंदोलनों के (सैद्धांतिक आधार पर और यह सोचकर कि सभाज पर उनका प्रभाव क्षीण हो जायेगा) कट्टर विरोधी थे। ईसाई धर्म प्रचारकों के धर्म परिवर्तन के आक्रामक प्रचार ने भी उनके क्रोध को बढ़ाया।

परिणाम यह हुआ कि अंततः परंपराबद्ध बुद्धिजीवियों में दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का जन्म हुआ। एक का अनुसरण करने वालों ने आधुनिक विचारों के प्रति अपनी उदासीनता

को बनाये रखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लेने का समर्थन किया। दूसरे ने इस उम्मीद मे विदेशी शासन का समर्थन किया कि परंपरागत रूप से समाज पर आधिपत्य बनाये रखने की जो स्थिति उसे प्राप्त थी वह बनी रहेगी। सरकार ने इस दूसरी विचारधारा वाले लोगों को सक्रिय प्रोत्साहन दिया।

इसके कारण मंदिरों, मठों, मस्जिदों, दरगाहों, गुरुद्वारों और अन्य धार्मिक संस्थानों का नियंत्रण निर्बाध रूप मे और दृढ़तापूर्वक परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग के हाथ में आ गया। सरकार ने भी इस वर्ग को पेंशन, वित्तीय पुरस्कार, उपाधियां और सम्मान आदि के माध्यम से संरक्षण देना शुरू किया। उसने सनातन शिक्षा प्रणाली को बनावटी ढंग से जीवित रखने के लिए भी कदम उठाया। जैसा कि हमने पहले ही देखा है इसने सामाजिक और सांस्कृतिक सुधारों की ओर से हाथ खींचकर रूढ़िवादियों की निगाह में आदर प्राप्त कर लिया। राष्ट्रीयता, जनतंत्र और धार्मिक विकास के आधुनिक विचारों के प्रसार को रोकने के उद्देश्य से अंगेजों ने इस दृष्टिकोण तक का प्रचार किया कि भारत के परंपरागत विचार और संस्थान वहां के लोगों के सर्वथा अनुकूल हैं। भारतीयों को अपने अर्थतंत्र, राजनीति और प्रशासन की व्यवस्था अंग्रेजों पर छोड़कर अपना ध्यान भारत के दार्शनिक और धार्मिक उत्तराधिकार और जीवन के तथाकथित आध्यात्मिक पक्ष पर केंद्रित करना चाहिए। श्रम के इस विभाजन ने भी परंपराबद्ध शिक्षित वर्ग को आकर्षित किया।

एक अन्य बडा तत्व जिसने सभी भारतीयों—रजवाड़ों से लेकर रंकों, जमींदारों से लेकर काश्तकारों, नौकरशाही के ऊचे पदों के अधिकारियो से लेकर लिपिकों, और धनिकों से लेकर गरीबों—को राष्ट्रीयता के उन्माद में खड़ा कर दिया, शासकों का रंगभेद संबंधी अहंकार का प्रदर्शन था। भारत में अंग्रेजों ने यहां के लोगों से हमेशा एक दूरी बनाये रखी और यह महसूस करते रहे कि वे जातीय स्तर पर विशिष्ट हैं। लेकिन 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब दोनों के बीच की सामाजिक और जातिगत खाई चौडी हो गयी तो एक गुणात्मक परिवर्तन आया। साम्राज्यवाद और उसके सिद्धांतो को पुनर्जीवित करने के एक कार्यक्रम के रूप में यूरोप में जातीय सिद्धांतों को प्रचारित करने की एक लहर उठी और बताया गया कि गोरे लोग जन्मना काले लोगों से बेहतर हैं। भारत में अंग्रेजों ने खुले रूप में घोषणा की कि भारतीय एक हीन जाति हैं। उन्होंने विजेता शक्ति के अंग के रूप में विशेषाधिकारों के लिए आग्रह किया। वायसराय मेयो जैसे एक उच्चपदीय व्यक्ति ने सन् 1870 में पंजाब के उपराज्यपाल (लेफ्टिनेंट गवर्नर) को लिखा : "अपने मातहतों को सिखाइये कि हम सभी संभ्रांत अंग्रेज हैं जो एक हीन जाति पर शासन करने के एक शानदार काम में लगे हुए हैं।" जातीय अहंकार के ऐसे निर्लज्ज प्रदर्शन से ही सोचने समझने वाले हर आत्मसम्मानी भारतीय ने अपने को अपमानित और तुच्छ अनुभव किया। उसे राष्ट्रीय कार्यकलापों में हिस्सा लेने के लिए उत्तेजित कर दिया गया।

संक्षेप में, ब्रितानी शासन के मूलभूत औपनिवेशिक चरित्र और भारतवासियों के जीवन पर उसके हानिकारक प्रभाव ने भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी विरोधी आंदोलन के

उद्‌भव और विकास को रूप दिया। यह आंदोलन एक राष्ट्रीय आंदोलन था क्योंकि इसने अपने अंक में भारतीय समाज के विभिन्न वर्गो और दलो को समेट लिया। इन वर्गो और दलों में साम्राज्यवाद को लेकर अपने निजी अंतर्विरोध थे जिनके कारण वे एक ऐसे राष्ट्रीय आंदोलन में साथ हो लिए जो सभी का था। उनमें आपस में भी अपने हितों को लेकर टक्करें हुई। लेकिन एक समान शत्रु के विरुद्ध उन्होंने अपने मतभेदों को भुला कर स्वयं को एकबद्ध किया।

2

प्रारंभिक चरण

परंपरागत प्रतिरोध

भारतीय जनता ने ब्रितानी शासन का प्रतिरोध उसके आरंभ से ही किया। सन् 1857 तक मुश्किल से कोई साल बीता होगा जिसमें देश का कोई न कोई भाग सशस्त्र विद्रोह से प्रकंपित न हुआ हो। मोटे तौर पर यह क्रमबद्ध विद्रोह (जिसकी प्रकृति पूरे तौर पर परंपरागत थी) तीन रूपों में सामने आया—नागरिक विद्रोह, आदिवासियों के उपद्रव और किसानों के आंदोलन तथा विद्रोह।

नागरिक विद्रोह

भारत पर ब्रिटेन की विजय और उसके शासन की जड़ें जमाने की प्रक्रिया के साथ साथ जनता में गंभीर असंतोष और आक्रोश उपजा। यहां तक कि ब्रितानी भारत की सेना के भारतीय सैनिकों पर उसका प्रभाव पड़ा। यह जन-असंतोष लगभग 100 वर्षों तक अधिकार-च्युत सरदारों, उनके उत्तराधिकारियों और संबंधियों, जमींदारों, पोलीगरों, भूतपूर्व सैनिकों, अलहकारों और भारतीय रियासतों के अनुजीवियों के नेतृत्व में सशस्त्र प्रतिरोध का रूप लेता रहा। अपनी शिकायतों और मुसीबतों के कारण बहुत बड़ी संख्या में किसान और कारीगर इन विद्रोहों में हिस्सा लेते रहे। प्रायः वे ही इन विद्रोहों के आधार स्तंभ होते थे। ये नागरिक विद्रोह ब्रितानी शासन के बंगाल और बिहार में स्थापित होने के साथ ही शुरू हो गये थे। राजस्व की वसूली में तेजी लाने, ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके मुलाजिमों द्वारा कारीगरों के शोषण और पुराने जमींदारों की समाप्ति ने परिस्थिति को विस्फोटक बना दिया। प्रायः हर जिले और सूबे में जन विद्रोह हुए।

बंगाल के कार्यविरत सैनिकों और विस्थापित किसानों ने उस मशहूर संन्यासी विद्रोह में भाग लिया था जिसका नेतृत्व धार्मिक मठवासियों और बेदखल जमींदारों ने किया था। संन्यासी विद्रोह सन् 1763 से 1800 तक चला। उसके बाद सन् 1766 से 1772 तक चुआर विद्रोह चला जिसकी व्याप्ति बंगाल और बिहार के पांच जिलों तक थी। सन् 1795 और 1816 के बीच चुआरों का दूसरा विद्रोह चला।

ब्रितानी शासन के देश के दूसरे भागों में विस्तार के साथ भी ऐसे विद्रोहों का जन्म हुआ। उड़ीसा के जमींदारों का विद्रोह सन् 1804 से 1817 तक चला। दक्षिण भारत में विजयनगर के राजा ने सन् 1794 में विद्रोह किया। 18वीं शताब्दी के नवें दशक में पोलीगरों ने तमिलनाडु में, सन् 1801 में मलाबार और डिंडिगाल में, सन् 1801-05 में तटवर्ती आंध्र में, और सन् 1813 से 1834 तक परलाकिमिदी में विद्रोह किया। मैसूर वालों ने सन् 1800 में और सन् 1831 में विद्रोह किया। विजागापटनम विद्रोह सन् 1830-34 के बीच हुआ। त्रावणकोर के दीवान बेलू ताम्पी ने सन् 1805 में विद्रोह किया। पश्चिमी भारत में सौराष्ट्र के सरदारों ने सन् 1816-32 के बीच बार बार विद्रोह किया। गुजरात के कोलियों ने सन् 1824-25, 1828, 1839 और सन् 1849 में विद्रोह किया। महाराष्ट्र में अनेक विद्रोह हुए। वास्तविकता यह है कि यहां निरंतर विद्रोह होते रहे। सन् 1824-29 में कित्तूर, सन् 1824 में कोल्हापुर, सन् 1841 में सतारा और सन् 1844 में गदकरियों के विद्रोह की चर्चा विशेष रूप से की जा सकती है। उत्तर भारत कम अशांत नहीं था। सन् 1824 मे पश्चिमी उत्तर प्रदेश और हरियाणा के जाटों ने गंभीर अशांति पैदा की। सन् 1805 में बिलासपुर के राजपूतों, सन् 1814-17 में अलीगढ़ के ताल्लुकेदारों और सन् 1842 में जबलपुर के बुंदेलों ने जो विद्रोह किये, वे भी प्रमुख हैं।

ये विद्रोह जो ब्रितानी शासन के पहले 100 वर्षो के इतिहास में आदि से अंत तक व्याप्त हैं किसानों, जमींदारों और छोटे सरदारों के आपस के पारस्परिक संबंध और वफादारी पर आधारित थे। वे सर्वथा स्थानिक और अपनी अपनी तरह के थे। उनमें दृष्टि पीछे की ओर थी जिसमें राष्ट्रीयता की आधुनिक अनुभूति, उपनिवेशवाद के स्वभाव और प्रकृति, या नये सामाजिक संबंधों के आधार पर बनने वाले नये समाज की आधुनिक समझ का अभाव था। उनका नेतृत्व अनिवार्यतया परंपरागत था जिसमें उनके आसपास की बदलती हुई दुनिया की चेतना बिलकुल थी ही नहीं। कभी कभी उन विद्रोहों को दबाने के लिए अंग्रेजों को बड़ी सेनाओं का इस्तेमाल करना पड़ा लेकिन इसके बावजूद उन्होंने ब्रितानी शासन के सामने कोई वास्तविक चुनौती नहीं रखी। उन विद्रोहों की बड़ी देन यह है कि उन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने की मूल्यवान स्थानीय परंपराएं स्थापित कीं।

परंपरागत ढंग से ब्रितानी शासन का विरोध करने की परिणति सन् 1857 के विद्रोह में हुई जिसमें किसानों, कारीगरों और सैनिकों ने लाखों की संख्या में भाग लिया। सन् 1857 का विद्रोह ब्रितानी शासन की जड़ें हिलाने के लिए काफी था।

विद्रोह की शुरुआत ईस्ट इंडिया कपनी की फौज के सिपाहियों के गदर के साथ हुई लेकिन उसने बहुत जल्द ही व्यापक क्षेत्र के लोगों को अपनी जकड़ में ले लिया। यह जनता की विदेशी शासन के विरुद्ध वर्षो से जमी हुई शिकायतों का परिणाम था। किसान सरकार की भू-राजस्व की नीति से असंतुष्ट थे। उनकी जमीन चली गयी थी। वे पुलिस, छोटे अधिकारियों और निचली अदालतों के दमन और भ्रष्टाचार के शिकार थे, भारतीय समाज

के उच्च और मध्यम वर्ग के लोग, (खास तौर पर उत्तरी भारत के) इसलिए विपत्तिग्रस्त हो गये थे क्योंकि उन्हें नौकरी के ऊंचे पदों से अलग कर दिया गया था। धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वाले लोगों—जैसे पंडितो और मौलवियों, की आमदनी खत्म हो गयी क्योंकि उनके संरक्षक भारतीय राजाओं, राजकुमारों और जमींदारों के अधिकार खत्म हो गये थे। सन् 1856 में ब्रितानी सरकार ने अवध को अपने राज्य में मिला लिया। इसमें बड़े पैमाने पर लोगो मे विशेषकर अवध के लोगों में काफी आक्रोश पैदा हुआ। सरकार की इस कार्रवाई से सैनिकों में क्रोध जगा क्योंकि उनमें से अधिकांश अवध के रहने वाले थे। इसके अलावा उन्हें भूमि पर ज्यादा कर देना पड़ता था, क्योंकि उनके परिवार के लोग अवध में थे, जहां उनकी जमीने थीं, ब्रितानी सरकार ने अधिकतर ताल्लुकेदारी और जमींदारों की जागीरें जब्त कर ली थीं। ये बेदखल ताल्लुकेदार ब्रितानी सरकार के खतरनाक विरोधी बन गये। दूसरे क्षेत्रों को अपने राज्य में मिला लेने की ब्रितानी नीति का वायसराय लार्ड डलहौजी ने अनुसरण किया और उसकी जगह से भी देशी रियासतों के बहुत से राजाओं के मन में भय समा गया। इन राजाओं ने अब महसूस किया कि पूरी तरह समर्पित हो जाने और अपमानजनक ढंग से अपनी वफादारी की घोषणा के बावजूद ब्रितानी शासन उनके बने रहने का आश्वासन नहीं दे सका। विलयन की नीति का ही यह सीधा परिणाम था कि नाना साहेब, झांसी की रानी और बहादुरशाह ब्रितानी शासन के कट्टर शत्रु हो गये। कंपनी के सैनिक अपनी कम तनख्वाह, कष्टप्रद जीवन और अपने अंग्रेज अफसरों के दुर्व्यवहार के कारण असंतुष्ट थे—उस वक्त के एक अंग्रेज पर्यवेक्षक ने लिखाः "सिपाही को एक बदतर जीव समझा जाता है। उसके साथ भौंडा व्यवहार होता है, उसे मक्खीचूस माना जाता है। सूअर कहा जाता है... कनिष्ठ लोग भी उसके साथ जानवरों जैसा सुलूक करते हैं। इसके अलावा एक सिपाही की पदोन्नति की संभावनाएं बहुत कम हैं। कोई भी भारतीय साठ-सत्तर रुपये मासिक के सूबेदार के पद से ऊपर नहीं पहुंच सकता।"

इस प्रकार सन् 1857 तक एक जनव्यापी विद्रोह की परिस्थितियां पैदा हो गयी थीं। चर्बी लगे कारतूस के प्रकरण ने चिंगारी को भड़कने का अवसर दिया। इनफील्ड राइफलों के कारतूसों में एक चर्बी लगा कागज होता था, जिसे इस्तेमाल के पहले दांत से काटकर निकालना पड़ता था। चर्बी कभी कभी गो या सूअर के मांस की होती थी। इस तथ्य ने सिपाहियों की धार्मिक भावनाओं को उभारा और उनमें क्रोध पैदा हुआ। वे विद्रोह करने के लिए तैयार हो गये। उनके विद्रोह ने भारतीय समाज के दूसरे वर्गो को भी विद्रोह का अवसर प्रदान किया।

10 मई, 1857 को दिल्ली से 36 मील दूर मेरठ में गदर शुरू हुआ और उसके बाद उत्तर में पंजाब, दक्षिण में नर्मदा, पश्चिम में राजपूताना और पूर्व में बिहार तक बढ़ता गया। मेरठ में सिपाहियों ने अपने अफसरों को मारा और दिल्ली के लिए रवाना हुए। दूसरी सुबह

को दिल्ली में पहुचना वहां के सिपाहियों के लिये गदर का एक संकेत था। इन सिपाहियों ने शहर पर कब्जा कर लिया और बूढ़े बहादुरशाह जफर को भारत का शासक घोषित किया। इस प्रकार सिपाहियों ने गदर को एक क्रांतिकारी युद्ध में बदल दिया। इसके बाद सारे भारतीय सरदारों और जमींदारों ने विद्रोह में हिस्सा ले लिया और मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के प्रति अपनी वफादारी की शीघ्र घोषणा कर दी। जफर भारतीय एकता के प्रतीक बन गये थे।

उत्तर और मध्य भारत में हर जगह पर सिपाहियों का यह गदर जनता के विद्रोह में बदल गया। आम आदमी कुल्हाड़ी और भाले, तीर-धनुष, लाठी-दरांती, और देशी बंदूकों से लड़ा। विशेष रूप से आज के उत्तर प्रदेश और बिहार में किसानों और कारीगरों ने उस आंदोलन में व्यापक पैमाने पर हिस्सा लिया था और उन्हीं की वजह से विद्रोह को वास्तविक शक्ति मिली थी। एक अनुमान के अनुसार अंग्रेजों से लड़ते हुए अवध में डेढ़ लाख और बिहार में एक लाख नागरिक शहीद हुए थे।

सन् 1857 के विद्रोह की शक्ति का एक महत्वपूर्ण पक्ष हिंदू-मुस्लिम एकता थी। सिपाहियों, आम लोगों और उनके नेताओं में, हिंदुओं और मुसलमानों में पूरा सहयोग था। सारे विद्रोहियों ने एक मुस्लिम, बहादुरशाह जफर को अपना सम्राट स्वीकार किया। हिंदू और मुसलमान विद्रोही सिपाहियों ने एक दूसरे की भावना का आदर किया। प्रमाण के लिए विद्रोह जहां कहीं भी सफल हुआ वहां हिंदुओं की भावनाओं के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिए गोहत्या बंद करने के आदेश दिये गये—इसके अलावा सभी स्तरों पर हिंदुओं और मुसलमानों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व था। एक ऊंचे अंग्रेज अधिकारी ने बाद में शिकायत की, "इस मामले में हम मुसलमानो को हिंदुओं के खिलाफ खड़ा नहीं कर सके।" वास्तव में सन् 1857 का विद्रोह स्पष्टतया सिद्ध करता है कि भारत की राजनीति या उसके लोग मध्यकाल में या सन् 1858 के पहले साम्प्रदायिक नहीं थे।

ब्रितानी साम्राज्यवाद सारी दुनिया में अपनी शक्ति के शिखर पर था। रियासतों के अधिसंख्य रजवाड़ों और सरदारों ने उसे मदद दी। उसकी सैनिक शक्ति विद्रोहियों के मुकाबले में कहीं बहुत बड़ी थी। विद्रोहियों में शस्त्रों से लेकर संगठन, अनुशासन, और एकताबद्ध कृत-संकल्प नेतृत्व का अभाव था, इसके पहले कि विद्रोही अपनी इन कमियों पर काबू पा सकें, ब्रितानी सरकार ने अपनी अपार शक्ति और साधन का इस्तेमाल करके विद्रोह को निहायत बेरहमी से कुचल दिया। 20 सितंबर, 1857 को अंग्रेजों ने बहादुरशाह जफर को गिरफ्तार कर लिया और विद्रोहियों से लड़ते हुए एक के बाद एक पराजित होते गये। नाना साहेब को कानपुर में पराजित होना पड़ा। उनके एक वफादार सेनापति तांत्या टोपे ने अप्रैल, 1859 तक वीरता और कुशलता के साथ गुरिल्ला युद्ध जारी रखा। लेकिन अपने एक जमींदार दोस्त के विश्वासघात के शिकार हो गये। झांसी की रानी हाथ में तलवार लिये 17 जून, 1858 को लड़ती हुई वीरगति को प्राप्त हुई। सन् 1859 तक बिहार के

कुंवर सिंह, दिल्ली के विद्रोहियों का कुशल नेतृत्व करने वाले सिपाही बख्त खां, बरेली के खान बहादुर खां और फैजाबाद के मौलवी अहमदुल्लाह; सभी मारे जा चुके थे। अवध की बेगम को नेपाल भागना पड़ा। सन् 1959 के अंत तक भारत पर ब्रितानी शासन पूरी तरह स्थापित हो चुका था, लेकिन विद्रोह अकारथ नहीं गया था। यद्यपि भारत को बचाने का यह हताशा भरा प्रयत्न पुराने तरीके से और परंपरागत नेतृत्व में किया गया था, लेकिन वह ब्रितानी साम्राज्य से भारतीय जनता को मुक्त करने का पहला बड़ा संघर्ष था। देश में घर घर में विद्रोही नायकों की चर्चा होने लगी। हालांकि उनके नाम की चर्चा भी ब्रितानी शासकों को अत्यंत अप्रिय लगती थी।

आदिवासी विद्रोह

भारत के बड़े भाग में फैले आदिवासियों ने सैकड़ों विद्रोहों में हिस्सा लिया। उन्होंने उपनिवेशवादी शासन की घुसपैठ और ब्रितानी शासन के विस्तार पर आक्रोश प्रकट किया। सबसे बड़ी बात यह कि उन्हें अपने सहज और निश्चिंत जीवन में महाजनों, व्यापारियों और लगान वसूल करने वाले कृषकों की घुसपैठ पर आपत्ति थी जो उनकी उपनिवेशित्त अर्थव्यवस्था और शोषण के प्रभाव तथा शासन के अंतर्गत उनको लाने में सहायक थे। आदिवासियों का विद्रोह उनके अथक साहस और बलिदान तथा सरकारी मशीनरी द्वारा उन्हें क्रूर ढंग से दबा देने, दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय है। एक तरफ आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से युक्त ब्रितानी भारत की अनुशासित सेनाएं थीं, और दूसरी तरफ तीर-धुनष और टांगियों जैसे आदिकालीन हथियारों वाले आदिवासी। वे क्रुद्ध थे; गलत ढंग से संगठित थे; और गैर-बराबरी की लड़ाइयों मे लाखों की संख्या में मारे गये। उनके अनेक विद्रोहों में से, सन् 1820 से 1837 का कोलों का, 1855-56 का संथालों का, 1879 का रम्पाओं का और 1895-1901 का मुंडाओं का विद्रोह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

किसान आंदोलन और विद्रोह

औपनिवेशिक शोषण का मुख्य आघात भारतीय किसानों को सहना पड़ा और उन्होंने अंततः हर कदम पर उससे संघर्ष किया। किसानों ने ब्रितानी उपनिवेशवाद का जो प्रतिरोध किया, उसके विवरण, दुर्भाग्यवश आसानी से उपलब्ध नहीं हैं। भारत में ऐतिहासिक अध्ययनशीलता की दुर्बलताओं के कारण वे अभी भी सरकारी पुरालेख संग्रहालयों या आधुनिक इतिहास को संजोने वाली अन्य जगहों में बंद पड़े हैं। इतना ही नहीं, सरकारी दस्तावेजों में इन किसान विद्रोहों को डकैती या उच्छृंखलता का काम बताया गया। ब्रितानी

शासन का प्रतिरोध करने वाले किसानों के अनेक कार्यो की प्रारंभिक झलक पा लेने की कोशिश अभी हमने पिछले कुछ वर्षो से ही शुरू की है।

जैसा कि हमने पहले ही देखा; जमींदारों और छोटे सरदारों के नेतृत्व में होने वाले नागरिक विद्रोहों के आधार स्तंभ किसान ही थे। सन् 1857 के विद्रोह के बारे में भी यह बात सर्वाधिक सच है। किसान विद्रोह का एक दूसरा स्वरूप भी था जिसकी रंगत धार्मिक थी। वे धार्मिक सुधार और शुद्धि के आंदोलन के रूप में शुरू हुए थे, लेकिन उन्होंने शीघ्र ही, बिना इस बात का ख्याल किये कि जमींदार, भू-स्वामी और महाजन किस धर्म के है; उन पर सीधा आक्रमण करना शुरू कर दिया। इससे स्पष्ट हो गया कि आंदोलन की जड़ें जमीन से ही (धर्म से नहीं) निकली हैं। अंत में वे ब्रितानी साम्राज्यवाद से टकराये। ऐसा था स्वरूप। प्रमाण के लिए वहाबी आंदोलन (जिसने एक वक्त में बंगाल, बिहार, पंजाब और मद्रास को समेट लिया था), बंगाल का फरजी आंदोलन और पंजाब का कूका विद्रोह।

सन् 1858 के बाद ब्रितानी शासन के किसानी प्रतिरोध की प्रकृति में एक खास किस्म का बदलाव आया। अब किसानों ने सीधे सीधे अपनी मांगों के लिए सरकार, चाय बागानों के विदेशी मालिकों और देशी जमींदार-महाजनों के विरुद्ध लड़ाई शुरू की।

सन् 1859-60 का नील आंदोलन आधुनिक दौर के बड़े किसान आदोलनों में से एक है जिसने बंगाल को अपनी चपेट में ले लिया था। नील की खेती पर यूरोपीय किसानों का एकमात्र अधिकार था। विदेशी लोग किसानों को नील उगाने के लिए मजबूर करते थे और उन्हें अपने अकथनीय दमन का शिकार बनाते थे। उन्हें गैरकानूनी मारपीट तथा रोके रखने का सहारा लेकर अलाभकारी दर पर नील का उत्पादन करने के लिए मजबूर करते थे। सन् 1860 में प्रकाशित प्रसिद्ध बंगाली लेखक दीनबंधु मिश्र के नाटक नील दर्पण में इस दमन का स्पष्ट चित्रण है। सन् 1859 में किसानों के आक्रोश का विस्फोट हुआ। उन्होंने एक साथ ही हजारों-लाखों की संख्या में नील का उन्पादन करने से इंकार कर दिया तथा बागवानों और उनके सशस्त्र अनुजीवियों की मारपीट और हिंसा का डटकर मुकाबला किया। इस अवसर पर बंगाल का शिक्षित वर्ग सामने आया और उसने विद्रोही किसानों के समर्थन में एक प्रबल आंदोलन संगठित किया। सरकार एक ऐसा आयोग नियुक्त करने को विवश हुई जो इस प्रणाली में व्याप्त बुराइयों को कम करने के सुझाव दे सके। लेकिन बागवानों का दमन और किसानों के प्रतिरोध जारी रहे। सन् 1866-68 में दरभंगा और चंपारण में बिहार के नील उत्पादक किसानों ने बड़े पैमाने पर विद्रोह किया। इसी तरह सन् 1883 और 1889-90 में जैसोर (बंगाल) के किसानों ने विद्रोह किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में एक बार फिर भूमि संबंधी अशांति फैली। इस बार की जगह पूर्वी बंगाल थी। वहां के प्रभावशाली जमींदार काश्तकारों का दमन करने में कुख्यात थे। उन्होंने बेदखली, फसल और चलसंपत्ति को गैरकानूनी ढंग से हथियाने,

तंग और परेशान करने, बड़े पैमाने पर शक्ति का इस्तेमाल करके लगान बढ़ाने और काश्तकारो को खेत पर कब्जा करने के उनके हक से वंचित करने के तरीकों का खुलकर सहारा लिया। बंगाली किसानो की भी प्रतिरोध की एक लंबी परंपरा थी जिसका आरंभ सन् 1782 में तब हुआ था जब उत्तर बंगाल के किसानों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के मालगुजार देवी सिंह के खिलाफ विद्रोह किया था। सन् 1872-76 में वे 'लगान न देने' के लिए गठित संघों में एकबद्ध हुए और पूर्वी बंगाल के विभिन्न भागों में जमींदारों और उनके सिरवारों (अभिकर्त्ताओं) पर आक्रमण किए। किसानों का प्रतिरोध केवल तब कम हुआ जब सरकार ने हस्तक्षेप करके उसे दबाने के प्रभावशाली कदम उठाये। लेकिन इसके बावजूद आने वाले वर्षो में छुटपुट प्रतिरोध चले रहे। वे केवल तब खत्म हुए जब सरकार ने जमींदारों के दमन से किसानो को बचाने के लिए कानून बनाने का वायदा किया। एक बार फिर बहुत बड़ी संख्या मे नये शिक्षित वर्ग ने किसानों को समर्थन दिया।

जमीन संबंधी एक बडा उपद्रव सन् 1875 में महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर जिलों में हुआ। महाराष्ट्र में सरकार ने राजस्व का बंदोबस्त सीधे किसानों के साथ कर दिया था। लेकिन इसी के साथ सरकार की लगान की मांग इतनी ऊंची दर पर थी कि अधिकतर किसानो के लिए उसका भुगतान महाजनों से कर्ज लिए बिना असंभव था। ये महाजन ऊंची दर पर सूद लेते थे; अधिक से अधिक जमीन रेहन में या बिक कर महाजनों के कब्जे में चली जाती थी। महाजन भी किसान और उसकी जमीन पर अपनी जकड़ मजबूर बनाये रखने के लिए हर संभव कानूनी, गैरकानूनी हथकंडे और फरेब का सहारा लेता था। सन् 1874 के अंत तक पहुंचते पहुंचते किसानों का धैर्य टूट गया। पूना और अहमदनगर जिलों के किसान महाजनों का सामाजिक बहिष्कार करने के लिए संगठित हुए। इस प्रक्रिया ने शीघ्र ही भूमि संबंधी उपद्रवों का रूप ले लिया। उन्होंने हर जगह कर्ज के दस्तावेजों और डिग्री के कागजातों को जबरदस्ती अपने कब्जे में ले लिया और उन्हें खुलेआम आग के हवाले कर दिया। पुलिस किसानों के प्रतिरोध और रोष को दबाने में असफल रही। सरकार को पूना स्थित अपनी सारी पैदल और घुड़सवार सेना तथा तोपखाने का इस्तेमाल करना पड़ा, तब कहीं जाकर आंदोलन दब सका। एक बार फिर, महाराष्ट्र के आधुनिक शिक्षित वर्ग ने किसानों की भांगों का समर्थन किया। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि किसानों के दुख का असली कारण सरकार द्वारा बहुत ऊंची दर पर लगान मांगना, और किसानों को आसान तरीके से कर्ज दिला सकने में असफल होना है।

देश के अन्य भागों में भी किसानों ने प्रतिरोध किये। जेन्मी भू-स्वामियों के दमन से उत्तेजित होकर उत्तर केरल में मलाबार के मप्पिला किसानों ने सन् 1836 और 1854 के बीच 22 बार विद्रोह किये। मप्पिला किसानों के असंतोष की नये सिरे से अभिव्यक्ति सन् 1873-1880 के बीच के पांच बड़े विद्रोहों में भी हुई। इसी तरह से ऊंची दर पर लगान के निर्धारण के कारण सन् 1893-94 में आसाम के मैदानी भागों में एक के बाद एक किसान

विद्रोह हुए। किसानों ने बड़ी दर पर लगान देने से इंकार कर दिया। जमीन पर कब्जा करने वाले सरकारी कर्मचारियों का संगठित होकर मुकाबला किया और लगान वसूल करने वाले कुर्कअमीनों को मार कर भगा दिया। सरकार को किसान आंदोलन को दबाने के लिए बड़ी संख्या में सैनिक और सशस्त्र पुलिस लगानी पड़ी। निर्दयतापूर्वक गोली चलाने और संगीनों का इस्तेमाल कराने से बहुत से किसान मारे गये। आसाम के लोग आज भी पुलिस और सेना के उस समय के क्रूर वहशियाना बर्ताव को भूले नही हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के किसी भी चरण में किसान आंदोलनों या जन विद्रोहों से भारत में अंग्रेजों की सर्वोच्चता के सामने खतरा उपस्थित नहीं हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था को उपनिवेशवाद पर आश्रित करने के बाद के असहनीय दमन और बड़े पैमाने पर बेदखली ने किसानों और आदिवासियों को झकझोर दिया। वे आंदोलन और विद्रोह उनकी स्वाभाविक और स्वतः प्रेरित प्रतिक्रिया के परिणाम थे। वे अपना गुस्सा अक्सर उसी पर उतारते थे जो उनके दुख का तात्कालिक कारण दिखायी देता था। जैसे नील के बागवान, जमींदार या महाजन। लेकिन उन्होंने अंग्रेजों की उन कोशिशों का भी डटकर मुकाबला किया जिसके सहारे वे कानून और व्यवस्था की रक्षा के नाम पर भूमि संबंधी औपनिवेशिक ढांचे को सहारा देना चाहते थे। अतः व्यवहार में भारत की अशिक्षित और अज्ञानी जनता ने उच्च वर्ग के नवशिक्षित भारतीयों की तुलना में उपनिवेशवाद के अभिशाप को ज्यादा अच्छी तरह समझा। लेकिन इसी के साथ साथ यह भी निश्चित था कि उनका संघर्ष असफलता का शिकार होगा। उनका विश्वास, साहस, वीरता और अपार त्याग की इच्छा; दुनिया भर के साधनों और अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से युक्त शक्तिशाली साम्राज्य के मुकाबले में कुछ भी नहीं थी। उनके पास कोई नयी विचारधारा नहीं थी--उपनिवेशवाद से जन्मी नयी सामाजिक शक्तियों के विश्लेषण पर आधारित कोई नया सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था। उनमें समाज और जीवन जीने के नये ढंग की उस स्पष्ट अवधारणा का अभाव था जो बड़े पैमाने पर लोगों को संगठित कर सके। यहां वहा छुटपुट और असंगठित ढंग के विद्रोह चाहे जितनी बड़ी संख्या में हुए हों; वे आधुनिक साम्राज्यवाद को पराजित नहीं कर सके। उसके लिए आधुनिक विचार और विश्लेषण पर, समाज की एक नयी दृष्टि पर, ऐसे नये आदर्शों और दलों (जो राजनीतिक कार्यो के लिए पूरे देश के स्तर पर जनता को प्रेरित कर सकें) पर आधारित आक्रमण की आवश्यकता थी। यह स्थिति 20वीं शताब्दी में तब आयी जब किसान वर्ग का असंतोष साम्राज्यवाद विरोधी व्यापक असंतोष के साथ जुड़ गया और उनके राजनीतिक कार्यकलाप राष्ट्रीय आंदोलन और आधुनिक किसान आंदोलनों के माध्यम से सामने आये। बहरहाल, 19वीं शताब्दी के जन-आंदोलन और विद्रोह निश्चय ही साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने वाली उस अपार शक्ति के द्योतक हैं जो भारतीय जनों में सुसुप्त पड़ी हुई थी।

आधुनिक राजनीति और नये राजनीतिक संगठन

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध राजनीतिक-राष्ट्रवादी चेतना के फूलने फलने और एक संगठित राष्ट्रीय आंदोलन के उद्‌भव और विकास का साक्षी है। इस दौर में भारत के नये शिक्षित वर्ग ने राजनीतिक शिक्षा के प्रसार और देश में राजनीतिक कार्यकलाप प्रारंभ करने के लिए राजनीतिक संघों की स्थापना की।'इस कार्य के लिए नये राजनीतिक विचारों, यथार्थ की नयी बौद्धिक अनुभूति, संघर्ष और प्रतिरोध को नयी शक्तियों और राजनीतिक संगठन की नयी तकनीकों को आधार बनाना था। इसे विचारधारा, नीति, संगठन और नेतृत्व में आये मोड़ों की अगुवाई करनी थी। क्योंकि भारतीय नये राजनीतिक कार्यकलापों से बिल्कुल अपरिचित थे अतः यह कार्य कठिन था। यहां तक कि यह धारणा भी एकदम नयी थी कि जनता अपने शासकों के विरुद्ध राजनीतिक ढंग से संगठित हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि प्रारंभ के राजनीतिक कार्यकर्ताओं और संघों की गति अपेक्षाकृत धीमी रही और साधारण जनता को आधुनिक राजनीति के घेरे में लाने में आधी शताब्दी से अधिक समय लग गया।

राजा राममोहन राय पहले भारतीय नेता थे जिन्होंने राजनैतिक सुधार के लिए आंदोलन का सूत्रपात किया। उन्होंने अखबार की स्वतंत्रता, जूरियों द्वारा मुकदमे की सुनवाई, कार्यपालिका और न्यायपालिका के अलगाव, उच्चतर पदों पर भारतीयों की नियुक्ति, जमींदारों के दमन से प्रजा की रक्षा और भारतीय उद्योग व्यापार के विकास के लिए संघर्ष किया। उन्हें उम्मीद थी कि एक दिन ब्रितानी शासन का अंत होगा और भारत स्वतंत्र होगा। इसी को उन्होने सार्वजनिक जीवन के अपने सारे कार्यकलापों का आधार बनाया। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में गहरी दिलचस्पी ली और हर जगह स्वाधीनता, जनतंत्र और राष्ट्रीयता के उद्देश्य का समर्थन किया।

राममोहन राय के स्वर्गवास के बाद उनकी परंपरा को डेरोजियस नाम के एक क्रांतिकारी बंगाली युवक ने आगे बढ़ाया। यह नाम उन्हें विख्यात आंग्ल-भारतीय शिक्षक हेनरी विवियन डेरोजियो के बाद मिला था। डेरोजियो ने अपने शिष्यों को स्वतंत्रता और देशभक्ति के उस प्रखर प्रेम की प्रेरणा दी थी जिसका वैचारिक आधार फ्रांसीसी क्रांति, टॉम पेन और जैरमी बैंथम थे। डेरोजियो ने अनेक जन-संस्थाएं आधुनिक विचारों और भारत में उनके प्रयोग पर विचार विमर्श करने के लिए खोली थीं। उन विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक समाचारपत्र और पत्रिकाएं भी प्रकाशित कीं। अतः आधुनिक राजनीतिक चेतना के बीज 19वीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में राजा राममोहन राय और डेरोजियो द्वारा बोये गये।

भारत में पहली राजनीतिक संस्था सन् 1838 में कलकत्ता में 'लैंड-होल्डर्स सोसायटी' के नाम से बनी लेकिन इसकी शुरुआत बंगाल, बिहार और उड़ीसा के जमींदार वर्ग के

हितों की रक्षा के संकीर्ण उद्देश्य से की गयी थी। सन् 1843 में बंगाल 'ब्रिटिश इंडियन सोसायटी' का गठन एक वृहत्तर राजनीतिक उद्देश्य से किया गया। सन् 1851 में 'ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन' बनाया गया। उसके बाद सन् 1852 में 'मद्रास नेटिव एसोसिएशन' और 'बंबई एसोसिएशन' स्थापित हुए। पूरे देश में छोटे शहरों और कस्बों में ऐसी ही अनेक संस्थाएं और क्लब स्थापित हुए। वे सभी स्थानीय किस्म के थे और प्राय· अधिसंख्य पर धनाढ्य व्यापारियों और जमींदारों का प्रभुत्व बना रहा। उन्होंने ब्रितानी भारतीय शासन तथा ब्रितानी संसद के सामने राजनीतिक और आर्थिक मांगें रखीं और मुख्य रूप से प्रशासनिक सुधार; अधिक अनुपात मे प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों की नियुक्ति, शिक्षा के प्रसार, सरकार में भारतीयों की भागीदारी और भारतीय उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन दिलवाने के लिए कार्य किया।

सन् 1857 के विद्रोह की असफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि उच्च वर्गो (जमींदारों, रजवाड़ों और भू-स्वामियों) के नेतृत्व में ब्रितानी शासन के विरुद्ध चलने वाला परंपरागत राजनैतिक प्रतिरोध बिलकुल सफल नहीं हो सकता था, और यह भी कि उपनिवेशवाद का प्रतिरोध अनिवार्यतया नये तरीकों से होना चाहिए। दूसरी तरफ, जैसा कि हमने पहले ही देखा, ब्रितानी शासन और उसकी नीतियों की प्रकृति में सन् 1858 के बाद एक बडा परिवर्तन आया। वह अधिक प्रतिक्रियावादी हो गयी। भारत का शिक्षित वर्ग धीरे धीरे लेकिन व्यापक तौर पर ब्रितानी नीतियों की पहले से अधिक आलोचना करने लगा। उसने ब्रितानी शासन की शोषण की प्रकृति को समझमा शुरू किया। यह ध्यान देने की बात है कि उपनिवेशवाद संबंधी किसान वर्ग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया की तुलना में आधुनिक भारतीय शिक्षित वर्ग की प्रतिक्रिया संकोचपूर्ण, कम सशक्त और कम वैज्ञानिक थी। भारतीय शिक्षित वर्ग की समझ को विकसित होने में काफी समय लगा—लेकिन क्योंकि विचारो पर आधारित प्रक्रिया एक बार शुरू हो गयी थी, उसने साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति को गहराई में उतरकर समझा और नतीजा यह हुआ कि वह एक आधुनिक राजनीतिक कार्यकलाप में बदल गयी।

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध भारतीयों ने अनुभव किया चूंकि उस वक्त के राजनीतिक संगठनों की स्थापना संकीर्ण दृष्टि से की गयी थी अतः वे बदली हुई परिस्थितियों मे लाभकारी नहीं होंगे। उदाहरण के लिए ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन, जिसने अपने को तेजी के साथ जमींदारों के हितों से जोड़ लिया था और अंततः शासकों के साथ हो गया। लेकिन नयी राजनीति को, तीव्रतापूर्वक ब्रितानी शासन के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण पर आधारित करना था। इसीलिए उन्होंने एक नये प्रकार के राष्ट्रवादी राजनैतिक संगठन का रास्ता टटोल निकाला।

सन् 1866 में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय प्रश्नों पर विचार विमर्श करने और ब्रितानी जनता के मत को प्रभावित करने के लिए लंदन में 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' का संगठन

किया। भारत के बड़े नगरो में भी उसकी शाखाएं संगठित की गयीं। दादाभाई नौरोजी शीघ्र ही अपने समकालीनों और भारत की बाद की पीढ़ियों में 'भारत के महान वृद्ध पुरुष' के रूप में परिचित होने वाले थे। उनका जन्म सन् 1825 में हुआ था। वह एक सफल व्यवसायी हुए लेकिन उन्होंने अपना सारा जीवन और संपत्ति राष्ट्रीय आदोलन को समर्पित कर दी। उनकी सबसे बड़ी देन ब्रितानी शासन का आर्थिक विश्लेषण है। उन्होंने दिखाया कि भारत की गरीबी और आर्थिक पिछड़ापन स्थानीय स्थितियों में निहित नहीं है, वरन् उसका कारण औपनिवेशिक शासन है जो भारत की पूंजी और संपत्ति को निचोड़ ले रहा था। अपने जीवन में आदि से अंत तक वे युवकों के संपर्क में रहे और निरंतर अपने चिंतन और राजनीति को परिवर्तनवादी दिशा में विकसित करते रहे। सन् 1870 में न्यायमूर्ति रानाडे, गणेश वासुदेव जोशी, एस.एच. चिपलुणकर तथा अन्य लोगों ने 'पूना सार्वजनिक सभा' का संगठन किया। सभा ने आने वाले 30 वर्षो तक सक्रिय रूप से राजनीतिक शिक्षण का कार्य किया।

सन् 1876-80 के बीच मे लिटन के वायसराय होने के दौर में खुले ढंग से प्रतिक्रियावादी और भारत विरोधी जो कदम उठाये गये, उनके कारण भारतीय राष्ट्रवादियों के कार्यकलाप की मंद गति तेज हो गयी। लंकाशायर के उत्पादको को तुष्ट करने के लिए ब्रितानी कपड़ों पर से आयात-शुल्क की समाप्ति से अपने पैरो पर खड़ा होते हुए भारत के कपड़ा उद्योग से संबद्ध लोगो में ईर्ष्या जगी। अफगानिस्तान के विरुद्ध आक्रमण और विस्तारवादी युद्ध हुआ। इसके खर्च की पूर्ति की जिम्मेदारी भारतीय खजाने पर थोपी गयी। शस्त्र कानून को इस उद्देश्य से लागू किया गया कि भारतीय जनता के लिए किसी भी तरह का प्रतिरोध असंभव हो जाये और वह अपने बचाव तक के लिए अपने को प्रशिक्षित न कर सके : भारतीय भाषा प्रेस विधेयक जिसके सहारे ब्रितानी शासन की बढ़ती हुई आलोचना पर प्रतिबंध लगाने की व्यवस्था हुई। दिल्ली मे उस समय शाही दरबार का आयोजन किया गया जब लाखों की संख्या में लोग अकाल से मर रहे थे। भारतीय नागरिक सेवा की तुलनात्मक परीक्षा के लिए नियत 21 वर्ष की अधिकतम आयु को 19 वर्ष कर दिया गया और उसके फलस्वरूप भारतीयों के उस सेवा में आने की संभावना और कम हो गयी। ये सारे कदम ब्रितानी शासन के शोषक और औपनिवेशिक चरित्र की स्पष्ट अभिव्यक्ति थे। पूरे देश में एक साथ ही इन कदमों के विरोध में आयोजन हुए। स्वदेशी के सिद्धांत का पहला उपदेश 19वीं शताब्दी के सातवें दशक में, भारतीय उद्योग को ब्रितानी उत्पादकों के हमले से बचाने की पद्धति के रूप में सामने आया।

युवा भारतीयों की नयी राजनीतिक मनस्थिति का दर्शन पहले पहल बंगाल में हुआ। ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन की रूढ़िवादी और जमींदार समर्थक राजनीति उन मध्य और शिक्षित वर्ग के लोगों के अनुकूल नहीं पड़ती थी जिन्होंने जमींदारों के मुकाबले में खडी होने वाली जनता की अगुवाई का दावा किया। उन्होंने इस सिद्धांत को भी मानने से इंकार कर दिया कि भारत को अनिवार्यतया अनंत काल तक ब्रितानी शासन के अंतर्गत रहना

है। उन्होंने आनंद मोहन बोस और सुरेंद्रनाथ बैनर्जी के नेतृत्व में जुलाई 1876 में'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की। इस नये संघ ने आंदोलन के लिए जिस पहले मुद्दे का चुनाव किया वह था नागरिक सेवाओं की परीक्षा पद्धति में सुधार। संघ ने सुरेंद्रनाथ बैनर्जी को, आंदोलन के लिए समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से देश के दूसरे भागों में विशेष प्रतिनिधि के रूप में भेजा। संभवतया वे पहले आधुनिक भारतीय थे जिन्हें देशव्यापी लोकप्रियता मिली। व्यापक राजनैतिक आंदोलन में आम जनता को खींचने के लिए, इंडियन एसोसिएशन के नेताओं ने काश्तकारों के अधिकारों के लिए जमींदारों के विरुद्ध और चाय बागानों के मजदूरों के अधिकारों के लिए विदेशी बागवानों के विरुद्ध आंदोलन संगठित किये। संघ ने बंगाल के विभिन्न नगरों और गांवों में तथा उसके बाहर के बहुत से शहरों में अपनी शाखाएं खोलीं।

देश के अन्य भागों में युवा लोग भी सक्रिय थे। सन् 1884 में एम. वीरराघ्त्वाचारी, जी. सुब्रह्मनिया अय्यर, आनंद चारलू तथा अन्य लोगों ने 'मद्रास महाजन सभा' बनायी। सन् 1885 में फीरोजशाह मेहता, के.टी. तेलंग आदि ने 'बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' की स्थापना की।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध भारतीय इस तथ्य के प्रति तेजी से सजग हो रहे थे कि न केवल मेधावी पुरुषों के मिल-जुलकर बात करने और एक समानभाषी कार्यक्रम की संरचना के लिए एक सामूहिक मंच की व्यवस्था करनी है बल्कि एक व्यापक आधार पर चलाये जाने वाले स्वतंत्रता संघर्ष के निमित्त जनता को शिक्षित करने के लिए एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता है। इस प्रकार के संगठन की सामाजिक आधारशिला मजबूती के साथ रख दी जा चुकी थी और पर्याप्त अनुभव भी प्राप्त किया जा चुका था। देश के विभिन्न भागों के बहुत से भारतीयों ने एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की योजना पर एक के बाद एक काम करना शुरू कर दिया था। पश्चिम भारत में दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानाडे, फिरोजशाह मेहता, के.टी. तेलंग, रहमतुल्लाह मुहम्मद सयानी, झवेरी लाल उमाशंकर याग्निक और बदरुद्दीन तैयबजी; दक्षिण भारत में जी. सुब्रह्मनिया अय्यर, एस. सुब्रह्मनिया अय्यर, और आनंद चारलू; पूर्वी भारत में डब्ल्यू.सी. बैनर्जी, सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, आनंद मोहन बोस, लाल मोहन घोष और कालीचरण बैनर्जी इस दिशा में अग्रणी रहे। दिसंबर 1883 में 'इंडियन एसोएिशन' ने एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन कर ही दिया था, लेकिन वह प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ था। इस विचार को अधिक ठोस रूप बंबई गुट के राष्ट्रवादी राजनैतिक कार्यकर्ताओं ने दिया। उन्होंने देश के विभिन्न भागों के राजनीतिक नेताओं को दिसंबर 1885 में बंबई में इकट्ठा करने के

ए. ओ. ह्यूम के प्रयास में समर्थन दिया। ह्यूम एक अंग्रेज थे जो भारत की नागरिक सेवा से अवकाश प्राप्त कर चुके थे। इन नेताओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का निश्चय किया। प्रारंभ में इसकी अध्यक्षता डब्ल्यू.सी. बैनर्जी को करनी थी।

यह कहा गया है कि कांग्रेस की स्थापना को प्रोत्साहन देने के पीछे ह्यूम का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी 'सुरक्षा नालिका' की व्यवस्था करना था जिसके माध्यम से शिक्षित भारतीयों का बढ़ता हुआ असंतोष बाहर निकलता जाये। उन्होंने शिक्षित वर्ग के असंतुष्ट राष्ट्रवादियों और असंतुष्ट किसानों को एक साथ होने से रोकना चाहा। एक नरमपंथी राष्ट्रीय आंदोलन को संरक्षण देकर उन्होंने उम्मीद कर ली कि वे उसे नियंत्रण से बाहर जाने से बचा लेंगे--उन्होंने बाद में लिखाः "जिन लोगों ने आंदोलन को प्रारंभिक प्रेरणा दी उनके सामने कोई और विकल्प था ही नहीं। विक्षोभ निरंतर उग्र रूप में बढ़ता जा रहा था। बजाय इसके कि उसे सतह के नीचे छोड़कर नासूर बनने दिया जाये; (और ऐसी स्थिति आने भी लगी थी) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह हो गया कि उसे खर्चते रहने के लिए कोई बाहरी और वैधानिक रास्ता ढूंढ़ निकाला जाये।"

जो भी हो, राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का यह स्पष्टीकरण बिलकुल अपर्याप्त और भ्रामक है। अधिक से अधिक यह कांग्रेस की स्थापना में एक सीमा तक श्री ह्यूम की भूमिका को स्पष्ट करता है। जिन देशवासियों ने एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए सक्रिय ढंग से काम किया वे उन नयी सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधि थे जो ब्रितानी हित के लिए भारत के शोषण का तेजी से विरोध कर रही थीं। उन्हें एक ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो भारत के राजनैतिक और आर्थिक विकास के लिए लड़ सके। वे विदेशी सरकार के 'जी हुजूर' न होकर ऊंचे चरित्र वाले देशभक्त पुरुष थे। उन्होंने श्री ह्यूम से इसलिए सहयोग किया, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि उनके शुरू शुरू के राजनीतिक प्रयत्न सरकारी विद्वेष के शिकार हों। उन्हें यह उम्मीद थी कि एक अवकाश प्राप्त प्रशासक की सक्रिय उपस्थिति सरकारी संदेह को दूर करेगी। यदि श्री ह्यूम ने कांग्रेस का उपयोग एक 'सुरक्षा नालिका' (सेफ्टी वाल्व) के रूप में करना चाहा तो कांग्रेस के प्रारंभिक नेताओं ने भी उम्मीद की थी कि वे श्री ह्यूम का इस्तेमाल विद्युत प्रतिरोधक (लाइटनिंग कंडक्टर) के रूप में करेंगे। बाद में सन् 1913 में गोपाल कृष्ण गोखले को इस ओर इशारा करते हुए लिखना पड़ा :

> भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना कोई भारतीय कर ही नहीं सकता था। यदि ऐसा अखिल भारतीय आंदोलन प्रारंभ करने के लिए कोई भारतीय आगे आता तो अधिकारी उसे अस्तित्व में आने ही नहीं देते। यदि कांग्रेस के संस्थापक एक महान अंग्रेज और अवकाश प्राप्त विशिष्ट अधिकारी न होते तो, चूंकि उन दिनों राजनीतिक आंदोलन संदेह से देखा जाता था, शासन ने कोई न कोई बहाना ढूंढ़कर उस आंदोलन को दबा दिया होता।

किसी भी हालत में, इसमें कोई संदेह नहीं कि सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ छोटे स्तर पर; संकोचपूर्वक मंद गति से लेकिन संगठित रूप में देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष शुरू हो गया। इसे साल दर साल अपनी शक्ति को बढ़ाकर; अंततः भारतीय जनता को विदेशी सरकार के विरुद्ध चलने वाले सशक्त और जुझारू आंदोलन से संपृक्त करना था।

जो भी हो, यह मानना गलत होगा कि सन् 1805 और 1905 के बीच राष्ट्रीय चेतना को जो प्रसार हुआ उसका एकमात्र या मुख्य माध्यम कांग्रेस ही थी। उस दौर में राष्ट्रीयता को धारदार बनाने या उसे विकसित करने की अनेकों और दिशाएं थीं, बहुत से स्थानीय और प्रांतीय स्तर के राजनीतिक संगठन अनुदिन राजनीतिक आंदोलन चला रहे थे। हर वर्ष प्रांतीय सम्मेलन होते थे जिनमें बड़ी संख्या में जनता हिस्सा लेती थी। राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने राष्ट्रीयता के प्रचारक और संगठनकर्ता का काम किया। उस समय के अधिकतर समाचारपत्र व्यापारिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि सजगतापूर्वक राष्ट्रीय कार्यकलापों के अंग के रूप में प्रकाशित किये गये। उनके स्वामियों और संपादकों को अक्सर निजी रूप में अपार त्याग करना पड़ा था। उस काल के सभी बड़े समाचारपत्रों की स्थापना राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म से पहले ही हो चुकी थी। बंगाल में **अमृत बाजार पत्रिका**, **इंडियन मिरर**, **संजीवनी** और **बंगाली**; मद्रास में **हिंदू**, **स्वदेशमित्रन**, **आंध्रप्रकाश** और **केरल पत्रिका**; बंबई के **मराठा**, **केसरी**, **इंदुप्रकाश** और **सुधारक**; उत्तर प्रदेश के **एडवोकेट**, **हिंदुस्तानी** और **आजाद**; पंजाब के **ट्रिब्यून**, **अखबार-ए-आम** और **कोहेनूर** उस दौर के प्रमुख राष्ट्रीय समाचारपत्रों में से थे।

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों के क्रियाकलाप और कार्यक्रम

प्रारंभिक दौर के भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं का विश्वास था कि राजनीतिक मुक्ति के लिए सीधे संघर्ष का कार्यक्रम इतिहास की कार्यसूची में अभी नहीं था। कार्यसूची में था, राष्ट्रवादी भावना का पैदा किया जाना, उसे गहन करना, राष्ट्रवादी राजनीति के दायरे में भारतीय जनता को अधिक संख्या में लाना और उन्हें राजनीति और राजनीतिक आंदोलन और संघर्ष के लिए प्रशिक्षित करना। इस दृष्टि से पहला महत्वपूर्ण कार्य था राजनीतिक प्रश्नों में जनता की रुचि उत्पन्न करना और देश में जनमत का संगठन। दूसरा, देशव्यापी स्तर पर लोकप्रिय मांगों को व्यवस्थित रूप में रखना ताकि विकसित होता हुआ जनमत सारे देश का ध्यान आकर्षित कर सके। पहले चरण में, सबसे महत्वपूर्ण था राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध देशवासियों और राजनीतिक नेताओं-कार्यकताओं में राष्ट्रीय एकता की भावना का जागरण। प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादी इस तथ्य के प्रति पूर्णतया सतर्क थे कि भारत निर्माण की प्रक्रिया में है। भारतीय राष्ट्रीयता धीरे धीरे अस्तित्व में आ रही थी, अतः यह मानकर नहीं चला

जा सकता था कि इसकी सिद्धि हो गयी है। राजनीतिक नेताओं को क्षेत्र, जाति और धर्म के पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर राष्ट्रीय एकता की भावना को गहराने और विकसित करने का काम निरंतर और अनिवार्य रूप में करना ही था। उदाहरण के लिए, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आशा की कि वह देश के विभिन्न भागों के सक्रिय राष्ट्रवादियों के बीच मित्रता के संबंधों को प्रगाढ़ करने की दिशा में एक छोटी सी शुरुआत करेगी। प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक मांगों को इस दृष्टि से तैयार किया था ताकि वे भारतीय जनता को एक समान आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर संगठनबद्ध कर सकें।

साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन

संभवतया प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक काम उनका साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन था। उन्होंने उस वक्त के आर्थिक शोषण के तीनों रूपों; यानी व्यापार, उद्योग और वित्त पर नजर रखी। वे अच्छी तरह समझ गये कि ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्यवाद के पीछे सार दृष्टि भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रितानी अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। उन्होंने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के मूलभूत लक्षणों (यानी भारत को कच्चे माल के आपूर्तिकर्ता, ब्रितानी उत्पादको के बाजार, तथा विदेशी पूंजी लगाने के एक क्षेत्र में बदलने) को विकसित करने के ब्रितानी प्रयत्न का जोरदार विरोध किया। उन्होंने उपनिवेशवादी ढांचे पर खड़ी सरकार की प्रायः सभी आर्थिक नीतियों के विरोध में प्रभावशाली आंदोलन आयोजित किये। अलावा इसके, उन्होंने आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह पैरवी की कि भारत पर ब्रिटेन की आर्थिक अधीनस्थता कम की जाये—यहां तक कि उसे समाप्त कर दिया जाये।

इस दौर के राष्ट्रवादियों ने भारत की बढ़ती हुई गरीबी की चर्चा अपने लेखों और भाषणों में निरंतर की और उसे ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण से जोड़ा। दादाभाई नौरोजी ने इशारा किया कि भारतवासी 'मात्र परजीवी-दास' थे। वे अमरीकी गुलामों से भी बदतर थे क्योंकि, कम से कम उनकी देखरेख उन अमेरिकी मालिकों द्वारा की जाती था जिनकी वे संपत्ति थे। उन्होंने घोषणा की कि ब्रितानी शासन, अनंतकाल तक का बढ़ता, निरंतर बढ़ता हुआ ऐसा विदेशी आक्रमण है जो 'धीरे धीरे लेकिन पूरी तरह देश को नष्ट' कर रहा है।

इन राष्ट्रवादियों ने परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग के विनाश और आधुनिक उद्योगों के विकास को बाधित करने वाली सरकार की आर्थिक नीतियों की निंदा की। उनमें से अधिकतर ने भारत की रेलों, उद्योगों और चाय-काफी के बागानों में लगाये जाने के लिए बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी के आयात का इस आधार पर विरोध किया कि उसकी वजह से भारतीय

पूंजीपति दब जायेंगे, और साथ ही भारत की अर्थव्यवस्था पर, उसके शासनतंत्र पर ब्रिटेन की जकड़ और मजबूत होगी। उन्हें यकीन था कि विदेशी पूंजी के निवेश ने न केवल वर्तमान बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए भी एक गंभीर आर्थिक और राजनीतिक खतरा पैदा कर दिया है। उन्होंने विदेशी पूंजी को देश से बाहर रखने के लिए सक्रिय प्रशासनिक कदम उठाने की मांग की।

गरीबी को दूर करने के मुख्य उपाय के रूप में प्रारंभिक दौर के इन राष्ट्रवादियों ने भारतीय जीवन के हर क्षेत्र को आधुनिक बनाने और खास तौर पर आधुनिक उद्योगों को विकसित करने का सुझाव दिया। लेकिन तीव्रगामी उद्योगीकरण के लिए सरकार की सक्रिय सहायता और परियात शुल्क से बचाव के लिए एक नीति की आवश्यकता थी। उन्होंने सरकार से आग्रह किया कि वह वित्तीय रियायतें देकर, सरकारी सहायता प्राप्त या सरकारी नियंत्रण में चलने वाले बैंकों से ऋण और जमानत दिलवाकर, तथा विदेशों से कर्ज प्राप्त करने और उसे देश में लगाने की व्यवस्था करके भारतीय उद्योग की सहायता करे। क्योंकि भारतीय पूंजीपतियों में इस्पात और खान जैसे क्षेत्रों में प्रवेश कर सकने की बिल्कुल सामर्थ्य नहीं थी, लेकिन औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक था, अतः सरकार अपनी पूंजी लगाकर उस क्षेत्र के उद्योग को बढ़ावा दे। औद्योगिक-व्यापारिक सूचनाओं के एकत्रण और प्रसारण तथा तकनीकी शिक्षा को आगे बढ़ाने की व्यवस्था करे।

भारतीय उद्योगों को बढ़ावा देने की दृष्टि से उन राष्ट्रवादियों ने माध्यम के रूप में स्वदेशी के विचार को भी प्रचारित किया। सन् 1877 के शाही दरबार में गणेश वासुदेव जोशी हाथ की बुनी विशुद्ध खादी की पोशाक में उपस्थित हुए थे। सन् 1896 में महाराष्ट्र में एक प्रभावशाली स्वदेशी आंदोलन आयोजित किया गया था जिसमें छात्रो ने खुलेआम विदेशी कपड़ों की होली जलायी।

राष्ट्रवादियों ने सन् 1875 से 1880 के बीच आयात पर परियात शुल्क खत्म करने और सन् 1894-96 में रूई पर आबकारी कर लगा देने के विरोध में अखिल भारतीय स्तर पर सशक्त आंदोलन चलाया। इस आंदोलन ने पूरे देश में राष्ट्रीयता की भावना को उभारने और ब्रितानी शासन के वास्तविक लक्ष्यों और उद्देश्यों की जानकारी देने में एक बड़ी भूमिका निभाई। 28 जनवरी 1896 को पूना के केसरी ने लिखा : "निश्चय ही भारत को एक विस्तृत चारागाह समझा जाता है जो मात्र यूरोपियों के चरने के लिए आरक्षित है।" भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक भूतपूर्व अध्यक्ष पी. आनंद चारलू ने विधानमंडल में सन् 1896 में कहा, "गो, भारत ब्रितानी सत्ता की शक्तिशाली बांहों में, विदेशी खतरे से सुरक्षित है। लेकिन उन मामलों में उसके पास कोई जवाब नहीं है, जहां एक अंग्रेज और भारतीय के स्वार्थ टकराते हों। एक तमिल कहावत के अनुसार यहां मेंड़ ही फसल को खाना शुरू कर देती है।"

प्रारंभिक दौर के नेताओं ने भू-राजस्व में हुई भारी वृद्धि को कम करने के लिए निरंतर

आदोलन चलाया। उन्होंने सरकार से राज्य द्वारा संचालित कृषि बैंकों से किसानों को कम सूद पर ऋण दिलवाने और बड़े पैमाने पर सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करने की मांग की। उनमें से कुछ ने भूमि-संबंधी उन अर्द्धसामंती रिश्तों की भी निंदा की जिसे अंग्रेज बनाये रखने के प्रयत्न में थे। उन्होंने बागानों के मजदूरों की हालत में सुधार लाने के लिए आंदोलन किये। कराधान और व्यय के उस समय के स्वरूप में भी आमूल परिवर्तन करने की माग की। उन्होंने ध्यान दिलाया कि कराधान की वर्तमान प्रणाली से गरीबों पर भारी बोझ पड़ता है जबकि धनवान, खासकर विदेशियों पर उसका असर बहुत कम पड़ता है। अतः उन्होंने नमक कर और अन्य करों को समाप्त करने की मांग की जिनसे गरीब और निम्न-मध्य वर्ग के लोग बुरी तरह प्रभावित थे। उनका कहना था कि व्यय का उस वक्त का स्वरूप भारतीयों के विकास और कल्याण की अभिवृद्धि करने के बजाए ब्रिटेन की शाही आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन था। उन्होने उस सेना पर ऊंची रकम खर्च किये जाने की निंदा की जिसका इस्तेमाल एशिया और अफ्रीका में ब्रिटेन का आधिपत्य बनाये रखने के लिए होता था। उन्होंने उच्च नागरिक सेवा के खर्च पर भी आक्रमण किया जिसके सदस्यों को देश के आर्थिक विकास के अनुपात से बहुत अधिक वेतन दिया जाता था। उन्होंने निंदा की उस सरकारी नीति की जो विदेश व्यापार और रेलों के विकास की अभिवृद्धि इसलिए कर रही थी ताकि उत्पादित माल का आयात और कच्चे माल का निर्यात बढ़े। उनका कहना था कि व्यापार और यातायात की नीतियां इस तरह चलायी जानी चाहिएं जिससे देश के भीतर आर्थिक विकास हो।

साम्राज्यवाद विरोधी आलोचना के राष्ट्रवादियों के शस्त्रागार में एक सर्वाधिक सशक्त हथियार था, 'निष्क्रमण सिद्धांत'। उन्होंने कहा कि भारतीय धन और पूंजी का एक बड़ा भाग या तो देश के बाहर भेज दिया जाता है या उसका एकपक्षीय ढंग से कर्जो के ब्याज, भारत में लगी ब्रितानी पूंजी की कमाई, और यहां पर सेवा करने वाले सैनिक या नागरिक अधिकारियों के वेतन और पेंशन के रूप में निर्यात कर दिया जाता है। निष्क्रमण ही विदेश द्वारा भारत के आर्थिक शोषण का प्रकट और ठोस स्वरूप था। इस निष्क्रमण पर हमला करके उन राष्ट्रवादियों ने साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र के सारतत्व पर ही आपत्ति कर दी। यह एक प्रतीक भी था जिसके माध्यम से आम जनता औपनिवेशिक शोषण की स्थिति को समझ सकती थी।

उन दिनों यह दावा किया जाता था कि ब्रितानी शासन ने भारत को जानमाल की सुरक्षा का लाभ दिया। इस दावे पर आपत्ति करते हुए दादाभाई नौरोजी ने कहा :-

> कल्पना यह है कि भारत में जान और माल की सुरक्षा है। वास्तविकता यह है कि ऐसी कोई चीज नहीं है। जान और माल की सुरक्षा एक अर्थ मे या एक तरह से यों है कि लोग आपस की या देशी निरंकुश राजाओं की हिंसा से सुरक्षित हैं... लेकिन, इंग्लैंड की जकड़न कुछ ऐसी है कि संपत्ति की सुरक्षा बिलकुल नहीं

> है, और परिणामस्वरूप जान की सुरक्षा नहीं है। भारत की संपत्ति सुरक्षित नहीं है। जो कुछ सुरक्षित है, और अच्छी तरह सुरक्षित है वह यह है कि इंग्लैंड पूरी तरह निश्चिंत और सुरक्षित है। वह ऐसा ही करता है। पूर्णतया सुरक्षित ढंग से भारत से धन ले जाता है। उसकी संपत्ति को, आजकल की दर से 3 या 4 करोड़ पौंड सालाना हजम कर रहा है। अतः मैं विनम्रता के साथ यह कहने का साहस करता हूं कि भारत जान और माल की सुरक्षा का सुख नहीं भोग रहा है। भारत में लाखों लोगों के लिए जीवन का अर्थ है आधा पेट भोजन, भुखमरी, अकाल और बीमारी।

अंग्रेजों ने यह सुझाने का भी प्रयत्न किया कि उनके आने के साथ साथ देश में कानून और व्यवस्था के सक्षम निर्वाह का प्रारंभ हुआ। इसका खंडन करते हुए उन्होंने तिरस्कार के साथ व्यंग्यात्मक ढंग से कहाः

> एक भारतीय कहावत है, 'प्रार्थना करता हूं कि मारना है तो पीठ पर मारो; पेट पर मत मारो'। देश के निरंकुश राजाओं के राज्य में लोग जो कुछ भी पैदा करते हैं, उसे रखते हैं और उसका सुख भोगते हैं, यद्यपि कभी कभी उन्हें पीठ पर मार खानी पड़ती है। ब्रितानी भारत के निरंकुशों के राज्य में आदमी शांतिपूर्वक है; कहीं हिंसा नहीं है। उसके स्वत्व को निचोड़ कर बाहर ले जाया जा रहा है। परोक्ष रूप में, शांतिपर्वूक और निपुणता के साथ वह कानून और व्यवस्था का पालन करते हुए शांति में भूखा रहता है और शांति में मर जाता है।

इस तरह आर्थिक प्रश्नों पर जो आंदोलन हुए उनके फलस्वरूप देशव्यापी स्तर पर यह मत विकसित हुआ कि ब्रितानी शासन भारत के शोषण पर टिका है और देश को निर्धन बना रहा है। उसने आर्थिक पिछड़ेपन और विकासहीनता को जन्म दिया है। ये हानियां उन परोक्ष लाभों से वजन में बहुत भारी थीं, जो ब्रितानी शासन के कारण संभवतया मिले हों।

प्रशासनिक सुधार

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादी अधिकारीविशेष द्वारा उठाये गये प्रशासनिक कदमों के निर्भय आलोचक थे। उन्होंने भ्रष्टाचार, अक्षमता और दमन में लिपटी प्रशासनिक प्रणाली में सुधार लाने के लिए निरंतर कार्य किया। जिस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रशासनिक सुधार के लिए उन्होंने आंदोलन किया वह था प्रशासनिक सेवा की उच्चतर श्रेणी के पदों का भारतीयकरण। यह मांग आर्थिक, राजनीतिक, और नैतिक आधार पर प्रस्तुत की गयी। आर्थिक आधार यह कि यूरोपवासियों को दिये जाने वाले ऊंचे वेतन के कारण भारतीय वित्त पर एक बड़ा बोझ पड़ता था, और क्योंकि उस वेतन का बड़ा भाग ब्रिटेन भेज दिया जाता था, अतः

निष्क्रमण को बढ़ावा मिलता था। राजनीतिक आधार यह कि यूरोपीय नागरिक प्रशासक भारतीय आवश्यकताओं को नजरअंदाज करते थे। खासकर भारतीय पूंजीपतियों की कीमत पर यूरोपीय पूंजीपतियों की पक्षधरता करते थे। नैतिक आधार यह कि उसने भारतीय चरित्र को बौना बना दिया और उसे अपने ही देश में हीनता की एक स्थायी स्थिति में ला दिया। इसी के साथ उन राष्ट्रवादियों ने कम वेतन पाने वाले निचली श्रेणी के कर्मचारियों को अधिक वेतन दिलवाने के लिए आंदोलन किया। वे मानते थे कि निचले स्तर पर अक्षमता और भ्रष्टाचार काफी दूर तक इसलिए था क्योंकि नौकरियों का वेतन बहुत कम था।

पुलिस और सरकार के एजेंटों का व्यवहार आम जनता के प्रति क्रूरतापूर्ण और दमनकारी था। उन राष्ट्रवादियों ने उसके विरुद्ध भी लगातार आंदोलन किया। राष्ट्रीय समाचारपत्रों में नित्य ही इस तरह के अत्याचारों का विवरण देने वाले अनेक समाचार प्रकाशित होते थे। राष्ट्रवादियों ने न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग कर देने की मांग की कि जनता को उससे कुछ सुरक्षा प्राप्त हो सके। उन्होंने मुकदमों में विभिन्न स्तरों पर कम और ज्यादा रुपये खर्च किये जाने की कानूनी बाध्यता के कारण पैदा होने वाले विलंब की निंदा की। जब भी किसी भारतीय और यूरोपीय के बीच फौजदारी का मुकदमा हो जाता था, न्यायाधीश यूरोपियो का पक्ष लेने लगते थे। राष्ट्रवादियों ने इस न्यायिक विकार की निंदा करते हुए मांग की कि कानून द्वारा प्रदत्त समानता का अधिकार यूरोपियों पर भी लागू किया जाना चाहिए। उन्होंने जनता को निरस्त्र करने की नीति का विरोध किया और पैरवी की कि हर व्यक्ति को अस्त्र रखने का अधिकार है। उन्होंने भारत के पड़ोसी देशो के प्रति सरकार की आक्रामक विदेश नीति का, तथा बर्मा को भारत में मिलाने, अफगानिस्तान पर आक्रमण करने और पश्चिमोत्तर भारत के आदिवासियों के दमन का विरोध किया।

भारत में जनकल्याण संबंधी सेवाएं बहुत छोटे स्तर पर चल रही थीं। उन राष्ट्रवादियों ने इसकी निंदा करते हुए मांग की कि सरकार राज्य के जनकल्याण संबंधी कामों का उत्तरदायित्व ले और उसे विकसित करे। खास तौर पर उन्होंने आम जनता में शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने तकनीकी और उच्चतर शिक्षा के लिए अधिक सुविधाओं तथा चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं को विस्तृत करने की भी मांग की। इन सबसे आगे, जैसा कि हमने पहले ही देखा है, उन्होंने भारतीय उद्योग और कृषि के विकास के लिए प्रभावशाली शासकीय कदम उठाने की मांग की।

उन नेताओं ने दक्षिण अफ्रीका, मलाया, मारिशस, फिजी, वेस्ट इंडीज और ब्रिटिश गुयाना जैसे ब्रितानी उपनिवेशों में विस्थापित भारतीय मजदूरों की स्थिति को भी अपने आंदोलन का मुद्दा बनाया। इन देशों में भारतीय मजदूरों को रंगभेद की सबसे अधिक विकृत नीति और हर तरह के दमन का शिकार होना पड़ता था। ज्यादातर अर्थो मे उनकी हालत गुलामों से अच्छी नहीं थी। सन् 1893 के बाद दक्षिण अफ्रीका में मोहनदास करमचंद गांधी ने मानवीय अधिकारों के लिए जो जनव्यापी संघर्ष किया उसे राष्ट्रवादियों ने पूरा समर्थन दिया।

विदेशी किसानों ने कम मजदूरी देकर ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी जिसमें मजदूर लगभग गुलामी की जिंदगी जीने के लिए मजबूर हो गये थे। राष्ट्रवादियों ने उनके मसले को भी अपने हाथ में लिया। लेकिन इसी के साथ यह बात भी ध्यान देने की है कि उन्होंने भारतीय कारखानों और खानों में काम करने वाले उन मजदूरों के बचाव में कोई आवाज नहीं उठायी जो निर्दयी शोषण के शिकार बना दिये गये थे। इस मामले में भारतीय नेताओं ने देशी पूंजीपतियों के हितों को प्राथमिकता दी।

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा

राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध भारतीयों के मन मे शुरू से ही आधुनिक नागरिक अधिकारों (भाषण, प्रेस, विचार और संगठन बनाने की स्वतंत्रता) के प्रति तीव्र आकर्षण था। परिणाम यह कि जब कभी भी सरकार ने इन नागरिक अधिकारों को सीमित करने का प्रयत्न किया, उन्होंने जोरदार ढंग से उनका बचाव किया। भारतीय भाषा प्रेस विधेयक (1878) द्वारा कोशिश की गयी थी कि प्रांतीय भाषाओं में छपने वाले समाचारपत्रों की जबान बंद कर दी जाये। इसका दृढ़तापूर्वक तब तक विरोध किया जाता रहा जब तक कि सन् 1880 में विधेयक को निरस्त नहीं कर दिया गया। इसी तरह सन् 1880-90 के बीच सरकारी गोपनीयता को बचाये रखने के नाम पर समाचारपत्रों के आलोचना करने के अधिकार को खत्म करने की कोशिश की गयी और इसका भी कड़ा विरोध किया गया।

इस सिलसिले में सबसे नाटकीय घटना थी बालगंगाधर तिलक तथा और बहुत से नेताओं तथा संपादकों की सन् 1897 में गिरफ्तारी। कुछ पर ब्रितानी भारत की सरकार के प्रति विद्वेष फैलाने का अभियोग लगाया गया था। श्री तिलक उस समय तक एक महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी नेता के रूप मे विख्यात हो चुके थे। उन्हें 18 महीने की कठोर बर्बर जेल की सजा दी गयी। नाटू बंधू के रूप में ख्यात पूना के दो नेताओ को बिना मुकदमे की सुनवाई किये कालापानी भेज दिया गया। अन्य बहुत से संपादकों को भी ऐसी ही सजाएं दी गयीं। राष्ट्रीय समाचारपत्र और राजनैतिक संगठन नागरिक अधिकारों पर हुए इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए कमर कसकर तैयार हो गये और एक देशव्यापी विरोध आंदोलन आयोजित हुआ। बालगंगाधर तिलक रातोरात एक अखिल भारतीय स्तर के लोकप्रिय नेता हो गये और जनता ने उन्हें लोकमान्य की उपाधि दी।

अब सरकार ने भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता को कम करने और पुलिस के अधिकार बढ़ाने के लिए नये कानून बनाये। विधेयक के बाद राष्ट्रवादी कार्यकर्ताओं पर भी वे ही कानून लागू किये जा सकते थे जिनका इस्तेमाल गुंडों-बदमाशों के लिए होता था। इन कानूनों का देशव्यापी विरोध हुआ। वास्तव में इसी के साथ साथ नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का संघर्ष स्वतंत्रता के संघर्ष का एक अविच्छिन्न अंग बन जाने वाला था।

संवैधानिक सुधार और स्वशासी सरकार की मांग

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादी शुरू से ही यह विश्वास करते थे कि भारत को अंततः एक स्वशासी सरकार की मांग की दिशा में बढ़ना चाहिए। लेकिन उन्होंने इस उद्देश्य को तत्काल पूरा कर देने की मांग नहीं की। इसकी जगह पर उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति की दिशा में एक एक करके कदम रखने का सुझाव दिया। उनकी तात्कालिक राजनीति अत्यंत सामान्य थी। प्रारंभ उन्होंने यह कह भर दिया कि विधान परिषदों का विस्तार और सुधार करके भारतीय जन को सरकार में अधिक हिस्सा देना चाहिए। भारतीय विधान परिषद विधेयक (इंडिया काउंसिल्स एक्ट), सन् 1861 के अनुसार परिषदों में कुछ गैरकानूनी लोगों को मनोनीत करने की व्यवस्था हुई थी। सरकार द्वारा मनोनीत वे गैरसरकारी व्यक्ति प्रायः जमींदार या बड़े व्यापारी होते थे जो पूरे तौर पर सरकारी दृष्टिकोण के समर्थक थे। प्रमाण के लिए सन् 1888 मे उन्होंने बिना किसी संकोच के नमक कर की वृद्धि का समर्थन किया। कांग्रेसी मच पर उन्हें अक्सर व्यग्य के साथ 'जी हुजूरो' या शानदार 'धुरहू-कतवारू' के रूप में याद किया जाता था। राष्ट्रवादियों ने विधान परिषदों के अधिकारों को व्यापक करने और सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि करने की मांग की ताकि वे बजट पर बहस कर सकें, आये दिन के प्रशासन की समालोचना कर सकें, उस पर आपत्ति कर सकें। इन सबसे आगे उन्होंने मांग की कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को परिषद का सदस्य बनाया जाये।

सार्वजनिक दबाव में सरकार ने पुरानी व्यवस्था में संशोधन करके नया भारतीय विधान परिषद विधेयक (1892) पास किया। विधेयक ने गैरसरकारी सदस्यों की संख्या में वृद्धि की, लेकिन उनमें से कुछ सदस्यों का चुनाव परोक्ष रूप में होना था। सदस्यों को बजट पर बोलने का अधिकार भी दिया गया लेकिन उन्हें उस पर मत देने का अधिकार नहीं मिला। इस तरह का अल्प सुधार भारतीयों के असंतोष को बिलकुल कम नहीं कर सका। उन्हें लगा कि उनकी मांगों का मजाक उड़ाया गया है। अब उन्होंने इस बात के लिए आंदोलन किया कि परिषद में गैरसरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। बल्कि उनकी सबसे बड़ी मांग यह थी कि जन-कोष पर गैरसरकारी भारतीय नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने नारा लगाया, 'बिना प्रतिनिधित्व के कराधान नहीं'। लेकिन इसी के साथ वे अपनी जनतांत्रिक मांगों के आधार को व्यापक बनाने मे असफल रहे। उन्होंने आम जनता या स्त्रियों को मतदान का अधिकार दिलाने की मांग नहीं की। जाहिर था कि उनकी मांगों से केवल मध्य और उच्च वर्ग को लाभ मिलता।

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की दिशा में शताब्दी की समाप्ति के वक्त तक काफी प्रगति की। उनकी मांगें मामूली सुधारों तक सीमित नहीं थीं। अब उन्होंने मांग की कि आस्ट्रेलिया और कनाडा जैसे स्वशासी उपनिवेशों की तरह भारत में भी पूर्णतया स्वशासी सरकार हो, और वित्त तथा विधान दोनों पर भारत का पूर्ण नियंत्रण

हो। उन्होंने प्रणाली में परिवर्तन की मांग की। प्रमाण के लिए सन् 1904 में दादाभाई नौरोजी ने और सन् 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले ने भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में भाषण देते हुए यह मांग की। दादाभाई नौरोजी पहले भारतीय थे जिन्होंने सन् 1906 में कलकत्ता में कांग्रेस के अधिवेशन में इस मांग के लिए स्वराज्य शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार आरंभिक दौर और उसके बाद के राष्ट्रवादियों में मूलभूत असहमति राजनीतिक लक्ष्य की परिभाषा को लेकर नहीं थी। वास्तविक असहमति थी सम्मत लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष के तरीके को लेकर और उन सामाजिक वर्गों या गुटों के चरित्र को लेकर जिनके आधार पर संघर्ष शुरू करना था। दूसरे शब्दों में असहमति लक्ष्यों को लेकर नहीं, उन्हें व्यावहारिक रूप में प्राप्त करने के तरीके को लेकर थी।

राजनीतिक कार्य के तरीके

राजनैतिक कार्य करने के लिए प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने जो तरीके अपनाये, उन्हीं की वजह से उन्हें नरमपंथी की उपाधि मिली। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ये तरीके छोटे रूप में धीरे धीरे व्यवस्थित राजनीतिक प्रगति के लिए अपने को संवैधानिक आंदोलन के चौखटे में सीमित रखकर काम करते थे। वे विश्वास करते थे कि उनका मुख्य काम जनता को आधुनिक राजनीति में शिक्षित करना, राष्ट्रवादी राजनीतिक चेतना को विकसित करना और राजनीतिक प्रश्नों पर एक संगठित जनमत तैयार करना था। इस लक्ष्य के लिए उन्होंने बहुत से तरीकों पर भरोसा किया। उन्होंने बैठकें आयोजित कीं जिनमें बहुत उच्च स्तर के राजनैतिक और बौद्धिक भाषण दिये जाते थे तथा लोकप्रिय मांगों को लेकर प्रस्ताव पारित किये जाते थे। समाचारपत्रों के जरिये उन्होंने निरंतर सरकार के गुणदोष का विवेचन किया। उन्होंने उच्च सरकारी अफसरों और ब्रितानी संसद को अनेकों याचिकाएं और स्मरणपत्र तक दिये। वे याचिकाएं और स्मरणपत्र सावधानीपूर्वक तैयार किये गये दस्तावेज होते थे जिनमें परिश्रमपूर्वक तर्कों और तथ्यों को क्रमबद्ध रूप में रखा गया होता था। हालांकि प्रत्यक्ष रूप में वे याचिकाएं सरकार को संबोधित होती थीं लेकिन उनका वास्तविक उद्देश्य भारतीय जनता को शिक्षित करना होता था। प्रमाण के लिए जब सन् 1891 में पूना सार्वजनिक सभा द्वारा सावधानीपूर्वक तैयार किये गए स्मरणपत्र का सरकार की ओर से दो पंक्तियों में उत्तर आया और उस पर युवक गोखले ने निराशा प्रकट की तो न्यायाधीश रानाडे ने उत्तर देते हुए कहा :

> आप यह महसूस नहीं करते कि हमारे देश के इतिहास में हमारा क्या स्थान है। ये स्मरणपत्र सरकार को नाममात्र के लिए संबोधित किये जाते हैं। वास्तव में वे संबोधित होते हैं जनता को ताकि वह जान सके कि इन मामलों में कैसे

सोचा जाता है। क्योंकि इस तरह की राजनीति यहां के लिए एकदम नयी है, अतः किसी और परिणाम की आशा किये बगैर इस काम को आने वाले अनेकों वर्षों तक करते रहना आवश्यक है।

उन नेताओं के राजनीतिक कामों का दूसरा उद्देश्य इच्छित परिवर्तन लाने के लिए ब्रितानी सरकार और जनमत को प्रभावित करना था। उन्हें यकीन था कि अंग्रेजों को भारत की वास्तविक स्थिति का पता नहीं था। अतः उन्होंने याचिकाओं और स्मरणपत्रों के जरिये और ब्रिटेन में सक्रिय राजनैतिक प्रचार करके ब्रितानी जनता और उसके नेताओं को (भारत की परिस्थिति के प्रति) प्रबुद्ध करना शुरू किया। सन् 1889 में राष्ट्रीय कांग्रेस की एक ब्रिटिश कमेटी की स्थापना की गयी। भारत के शीर्षस्थ नेताओं के प्रतिनिधिमंडल ब्रिटेन भेजे गये। इस समिति ने सन् 1890 में इंडिया नाम की पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटेन में रहकर वहां की जनता और राजनीतिज्ञों के बीच प्रचार कार्य करने में अपने जीवन और आय का एक बड़ा भाग लगा दिया।

हालांकि प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने केवल कानूनी आंदोलन में विश्वास किया, लेकिन उसे भी, सीमित आधार पर ही सही; (सिवाय समाचारपत्रों के माध्यम के) वे देशव्यापी स्तर पर संगठित करने या निरंतर चलाते रहने में सफल नहीं हुए। इसका एक कारण कोष की नितांत कमी थी। वे निरंतर धन के अभाव में रहे। उस वक्त तक धनी भारतीयों, जैसे जमींदारों, व्यापारियों और पूंजीपतियों ने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए वित्तीय सहायता नहीं दी थी। अधिसंख्य राजनीतिक नेताओं को अपनी ही कमाई का सहारा था जो प्रायः बहुत अल्प थी। प्रमाण के लिए सुरेंद्रनाथ बैनर्जी और गोपाल कृष्ण गोखले। दोनों शिक्षक थे। उन्हें उसी मामूली कमाई पर निर्वाह करना पड़ता था। तिलक ने कानून के छात्रों को पढ़ाने के लिए निजी क्लास खोल रखा था। अंशतः कोष की इस कमी की वजह से प्रारंभिक दौर में राष्ट्रवादियों में, वकालत और पत्रकारिता के दो स्वतंत्र पेशों के लोगों की प्रधानता रही।

जनता की भूमिका

प्रारंभिक दौर के आंदोलन की मूलभूत कमजोरी उसके सामाजिक आधार की संकीर्णता में थी। उस वक्त लोग उसके प्रति व्यापक रूप से आकर्षित नहीं हुए थे। उसके प्रभाव का क्षेत्र मुख्यतया शहरों के शिक्षित भारतीयों तक सीमित था। विशेषकर नेतृत्व भी पेशेवर वर्गों यथा, वकीलों, डाक्टरों, पत्रकारों, शिक्षकों और कुछ व्यापारियों तथा भू-स्वामियों के दायरे में बंधा हुआ था।

जहां तक राजनीति का प्रश्न था—नेतागण जनता में विश्वास नहीं करते थे। वे मानते

थे कि भारतीय लोगों में उस चरित्र और क्षमता का अभाव है जिसके बल पर आधुनिक राजनीति में भाग लिया जा सकता है, उस समय की सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध सफल संघर्ष किया जा सकता है। सक्रिय राजनैतिक संघर्ष के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का जिक्र करते हुए गोखले ने कहा था : "देश में अनगिनत वर्ग और उपवर्ग हैं। आबादी का बहुलांश अज्ञानी है, सनातनी भावों और विचारों से दृढ़तापूर्वक चिपका हुआ है, वह किसी भी प्रकार के परिवर्तन के प्रति न केवल उदासीन है बल्कि उसे समझता ही नहीं है।" यहां पर नरमपंथी नेताओं ने एक भयंकर भूल की। उन्होंने जनता के केवल सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पिछड़ेपन को देखा। उन्होंने यह नहीं देखा कि केवल जनता के पास ही शौर्य और बलिदान के वे गुण है जिनकी एक लंबे साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष को आवश्यकता है। केवल जनता ही उनकी राजनैतिक मांगों को आगे बढ़ाने की वास्तविक शक्ति दे सकती थी, यहां तक कि समय के साथ साथ उसके सांस्कृतिक और राजनैतिक पिछड़ेपन को दूर भी किया जा सकता था। वे यह मानकर चले थे कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जुझारू जन संघर्ष केवल तभी छेडा जा सकता था जबकि भारतीय समाज के विविध वर्गो के लोग एक राष्ट्र के रूप में संयुक्त कर दिये गये हों। लेकिन वास्तव में देश के एक राष्ट्र के रूप में सयुक्त हो जाने की स्थिति संघर्ष के ही दौरान आई। जनता के प्रति अपनाये गये इस गलत रुख का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रवादिता के प्रारंभिक दौर में जनता को एक निष्क्रिय भूमिका निभाने का दायित्व दिया गया। हालांकि वह गलत रुख भी नेताओं में इसलिए पैदा हुआ था कि वे जनता से अलग-थलग थे। उस भूमिका के कारण राजनीति में नरमपंथिता आयी। जन समर्थन के अभाव में नेताओं ने महसूस किया कि विदेशी सरकार को चुनौती देने का अभी उपयुक्त समय नहीं है। ऐसा करने का मतलब वक्त के पहले ही दमन को न्यौता देना है। गोखले ने कहा भी : "आप यह महसूस नहीं करते कि सरकार के पीछे कितनी अपार शक्ति है। यदि आपके सुझाव के अनुसार कांग्रेस कुछ करेगी तो सरकार को पांच मिनट में ही उसका गला घोंट देने में कोई कठिनाई नहीं होगी।" वस्तुतः बाद के राष्ट्रवादियों और उन नरमपंथियों में इसी मामले में असहमति थी। उन्हें भारतीय जनता की संघर्ष करने की क्षमता मे पूरा विश्वास था। इसलिए उन्होंने साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक जुझारू संघर्ष चलाने की योजना की पैरवी की। उन्हें यकीन था कि सरकार के दमन से आंदोलन का गला नहीं घुटेगा बल्कि जनता शिक्षित होगी और साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने का उसका इरादा पहले से ज्यादा मजबूत होगा।

जो भी हो, आरंभिक दौर के राष्ट्रीय आंदोलन के सामाजिक आधार की संकीर्णता से यह नतीजा नहीं निकलना चाहिए कि संघर्ष केवल उन सामाजिक वर्गो या गुटों के हित के लिए हुआ, जो उनमें शामिल थे। उन्होंने अपने कार्यक्रम और नीतियों द्वारा भारतीय जनता के हर वर्ग के मसलों को उठाया, और औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध सारे देश में हितों की अगुवाई की। लेकिन साम्राज्य विरोधी संघर्ष के विरुद्ध सारी जनता को तैयार

कर पाने में सफलता नहीं मिली। परिणाम यह हुआ कि उसे साम्राज्यवाद से अक्सर समझौता करने को विवश होना पड़ा। यहां तक कि 'राज' के प्रति वफादारी की भी बात करनी पड़ी।

सरकारी रवैया

सरकार शुरू से ही राष्ट्रीय शक्तियों के विकास की विरोधी रही। सन् 1878 मे जब भारतीय प्रेस ने औपनिवेशिक नीतियों की निंदा करते हुए राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की कोशिश की तो सरकार ने उसे बुरी तरह दंडित किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना को डफरिन ने संदेह की दृष्टि से देखा था। उन्हें लगा : "ऐसी संस्था अनिवार्य रूप से शासकीय नीति और कार्यो की आलोचना करेगी तथा उसकी असंबद्ध मांगों को पूरा करना असंभव होगा।" उन्होंने ह्यूम को यह सुझाव देकर कि 'कांग्रेस को राजनीतिक मसलों के बजाय सामाजिक मसलों पर काम करना चाहिए' आंदोलन की दिशा बदलने की कोशिश की थी।[1] लेकिन कांग्रेसी नेताओं ने ऐसा करने इंकार कर दिया था। उस वक्त तक सरकारी अधिकारियों ने खुले ढग से विरोधी रवैया नहीं अपनाया था। उन्होंने उम्मीद की थी कि कांग्रेस खुद राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध कुछ गिनेचुने भारतीयों के बीच सैद्धांतिक बहस-मुबाहिसा चलाने तक अपने को सीमित रखेगी। वे राष्ट्रवादी नेतावर्ग के कुछ अधिक प्रतिभाशाली लोगों को विधान परिषद मे जगह या न्यायपालिका और दूसरी सेवाओं में अच्छे वेतन वाले पद देने के लिए भी तैयार थे।

लेकिन यह तथ्य जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीय कांग्रेस या दूसरे राष्ट्रवादी संगठन और व्यक्ति या समाचारपत्र, सामाजिक मसलो जैसे काम तक अपने को सीमित नहीं रखेंगे। समाचारपत्र जनता तक पहुंचने लगे और कांग्रेस ने भारतीय भाषाओं मे जनप्रिय प्रचार पुस्तिकाए प्रकाशित करना शुरू किया। राष्ट्रवादियों के संदेश जन सभाओं मे सुनाये जाने लगे। अंग्रेज आम जनता में विकसित होती हुई राजनीतिक चेतना को बर्दाश्त नहीं कर सके। यह और कुछ नहीं, देशद्रोह था। राष्ट्रवादियों के आर्थिक आंदोलन ने साम्राज्यवाद के शोषक मुखौटे को खोल कर असलियत का पर्दाफाश कर दिया। सन् 1900 में भारत संबंधी मामलों के ब्रितानी मंत्री जार्ज हैमिल्टन ने दादाभाई नौरोजी से शिकायत की : "अपने आपको आप ब्रितानी सरकार का विश्वसनीय समर्थक घोषित करते हैं, आप उन परिस्थितियों और परिणामो की तीव्र भर्त्सना करते हैं, जो प्रशासन चलाते रखने की प्रक्रिया में पैदा होते

---

1. आम धारणा यह है कि डफरिन के सुझाव पर ही कांग्रेस ने सामाजिक मसलो से हटकर राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया था। यह धारणा गलत है और इसे सुधारना चाहिए। यह गलत दृष्टिकोण सबसे पहले डब्ल्यू. सी. बैनर्जी (उमेशचंद्र) द्वारा सन् 1898 में एक लेख में प्रस्तुत किया गया था। उसके बाद अन्य लेखक इसी की पुष्टि करते रहे। डफरिन के निजी कागज-पत्रों से पता चलता है कि श्री बैनर्जी ने अपनी क्षीण स्मृति से जो कुछ लिखा, वास्तविकता उससे उल्टी थी।

हैं और जिन्हें उससे अलग नहीं किया जा सकता।" इससे पहले सन् 1886 में राष्ट्रवादी समाचारपत्रों की भूमिका के बारे में उन्होने लिखा था : "इस तरह बिना किसी संदेह के कहा जा सकता है कि जो लोग ये समाचारपत्र पढ़ते हैं उनके मन में पक्के तौर पर यह विश्वास पैदा कर दिया जाता है कि हम सभी लोग आमतौर पर मनुष्य मात्र के और खासतौर पर भारतवर्ष के दुश्मन हैं।"

अब अंग्रेज अधिकारियों ने खुले रूप में भारतीय कांग्रेस तथा अन्य राष्ट्रवादी प्रवक्ताओं की आलोचना और निंदा करनी शुरू कर दी। राष्ट्रवादियों को 'नमकहराम बाबू', 'देशद्रोही ब्राह्मण' और 'हिंसक खलनायक' जैसे विशेषण दिये गये। कांग्रेस को 'देशद्रोह का कारखाना' और कांग्रेसियों को 'पद न पाने वाले निराश उम्मीदवार' और ऐसे 'असंतुष्ट वकील' कहा गया जो किसी और के बदले खुद अपना प्रतिनिधित्व करते हैं। सन् 1887 में डफरिन ने अपने एक सार्वजनिक भाषण में कांग्रेस की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था, 'वह जनता के उस अल्पसंख्यक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी संख्या कम से कम है।' जार्ज हैमिल्टन ने कांग्रेसी नेताओं पर यह आरोप लगाया कि 'वे देशद्रोही द्विपक्षी चरित्र के हैं।' दादाभाई नौरोजी ने ब्रितानी सरकार का जो पर्दाफाश किया था उससे वे इतने बौखला गये कि उस महान नेता को लेकर आम गाली के स्तर पर उतर आये। उन्होंने घोषित किया कि 'इग्लैंड में रहने तथा उग्रवादी और समाजवादी अंग्रेज नेताओ की सोहबत के कारण उनका (दादाभाई नौरोजी का) दिमाग (जो पहले जितना भी अच्छा क्यों न रहा हो) खराब हो गया है।' वायसराय कर्जन ने सन् 1900 में घोषणा की : "कांग्रेस अपनी मौत की घड़ियां गिन रही है। भारत में रहते हुए मेरी एक सबसे बड़ी इच्छा यह है कि मैं उसे शांतिपूर्वक मरने में मदद दे सकूं।" उन्होंने कांग्रेस को एक 'गंदी चीज' कहा। कुछ अंग्रेज प्रचारकों ने तो कांग्रेस पर यह अभियोग तक लगाया कि उसे रूस से पैसा मिलता है।

बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन का मुकाबला करने के लिए ब्रितानी सरकार ने फूट डालो और राज्य करो की नीति पर और अधिक बल दिया। उन्होंने महसूस किया कि भारतीय जनता की बढ़ती हुई एकता उनके शासन के लिए मुख्य खतरा है। जार्ज हैमिल्टन ने सन् 1897 में वायसराय एल्गिन को लिखा : "भारतीय जनमानस में, वहां की जातियों और धर्मो में, हमारे शासन के विरुद्ध जो एकता बढ़ रही है, उसकी वजह से मैं भविष्य की कल्पना करते हुए डर जाता हूं।" अतः अंग्रेज अधिकारियों ने सैयद अहमद खां, राजा शिवप्रसाद तथा अन्य ब्रिटेन समर्थक व्यक्तियों को एक कांग्रेस विरोधी आंदोलन शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने हिदुओं और मुसलमानों के बीच एक दरार पैदा करने की भी कोशिश की। उन्होंने सरकारी नौकरियों को लेकर शिक्षित भारतीयों में सांप्रदायिक प्रतिद्वंद्विता की भावना को उभारा। सन् 1857 के विद्रोह के तत्काल बाद उन्होंने उच्च वर्ग के मुसलमानों को दबाकर मध्य और उच्च वर्ग के हिंदुओं की पक्षधरता की थी। लेकिन सन् 1870 के बाद उन्होंने मध्य और उच्च वर्ग के मुसलमानों से राष्ट्रीय आदोलन का

विरोध कराने की कोशिश की। सांप्रदायिक भावनाओं को उभारने के लिए उन्होंने बड़ी चालाकी के साथ हिंदी और उर्दू के विवाद का फायदा उठाया। कट्टरपंथी हिंदुओं द्वारा शुरू किये गये 'गोवध बंद' आंदोलन का भी इस्तेमाल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया। भारतीय मामलों के मंत्री किंबरले ने 25 अगस्त, 1893 को वायसराय लैंसडाउन को लिखा : "यह आंदोलन हिंदुओं और मुसलमानों के सारे मेलजोल को असंभव बना देता है। इस तरह वह भारतीय जनता को एकबद्ध करने के कांग्रेस के आंदोलन की जड़ काट देता है।" फूट डालो और राज करो की नीति केवल हिंदुओं और मुसलमानों के मतभेद तक सीमित नहीं थी। परंपरागत सामंती वर्ग को नये शिक्षित वर्ग से, एक प्रांत को दूसरे प्रांत से, एक जाति को दूसरी जाति से, और एक गुट को दूसरे गुट से लड़ाने का भी प्रयत्न किया गया। इसके लिए भी प्रयत्न किये गये कि राष्ट्रवादियों में से, रूढ़िवादी या नरमपंथी वर्ग के लोगों के प्रति अधिक मित्रता का रुख अपना कर, उनमें आपस में फूट पैदा कर दी जाये। सन् 1870 और 1890 के बीच ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन जैसे पुराने संगठनों के नेताओं को सतुष्ट करने की कोशिश इस उद्देश्य से की गयी कि वे उग्रवादी कांग्रेसी नेताओं के विरुद्ध हो जायें। सन् 1890 और 1900 के बीच कोशिश हुई कि उमेशचंद्र-बैनर्जी, न्यायाधीश रानाडे और गोखले जैसे कुछ पुराने कट्टरपंथी नेताओं को उग्रवादी समझे जाने वाले दादाभाई नौरोजी और सुरेंद्रनाथ बैनर्जी जैसे नेताओं से अलग अलग कर दिया जाये। सन् 1905 के बाद जब कांग्रेस के नरमपंथी और उग्रपंथी नेताओं में मतभेद पैदा हो गये तो ब्रितानी शासकों ने उनमें फूट डाल देने का कृतसंकल्प प्रयत्न किया।

ब्रितानी अधिकारियों ने 'डांट-पुचकार' की नीति का भी अनुसरण किया। एक तरफ दिखावे के लिए रियायतें और दूसरी तरफ राष्ट्रवादिता के विकास को खत्म करने के लिए निर्ममतापूर्ण दमन। नागरिक सेवाओं में भरती के लिए अधिकतम आयु सीमा में रियायत, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के लिए संभावनाओं को बढ़ाकर, जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं के अधिकारों को व्यापक करके और भारतीय परिषद विधेयक, 1892 को पारित करके राष्ट्रवादियों के अपेक्षाकृत अधिक नरमपंथी वर्ग के लोगों को संतुष्ट किया गया। लेकिन उसी के साथ कमजोर दिलवालों को दहलाने के लिए दमन की नीति भी अपनायी गयी। सन् 1898 में वायसराय एल्गिन ने भारतीयों को खुली धमकी देते हुए घोषणा की: "भारतवर्ष तलवार के बल पर जीता गया था और तलवार के ही बल पर उसे ब्रितानी कब्जे में रखा जायेगा।" जैसा कि हम देख ही चुके हैं बालगंगाधर और दूसरे पत्रकारों की गिरफ्तारी के साथ पश्चिमी भारत के राष्ट्रवादियों पर एक सशक्त आक्रमण किया गया था। सन् 1898 में एक कानून लागू करके समाचारपत्रों की स्वतंत्रता सीमित कर दी गयी और पुलिस तथा दंडनायकों के अधिकार बढ़ा दिये गये।

ब्रिटिश अधिकारियों का विश्वास था कि शिक्षा का प्रसार राष्ट्रीयता के विकास का एक प्रमुख कारण रहा है। अतः उस पर सरकार के अधिक नियंत्रण और उसके आधुनिक

उदार चरित्र को बदल देने की योजनाएं आगे बढ़ाई गयीं। इन योजनाओं का खाका खींचते हुए जार्ज हैमिल्टन ने सन् 1899 में वायसराय से कहा : "सबसे पहले शिक्षा, उसके संगठन और पाठ्य-पुस्तकों पर अधिक नियंत्रण रखें।" सन् 1903 में शिक्षा विधेयक लागू करके और स्कूल-कालेजों के निरीक्षण की पद्धति द्वारा शिक्षकों पर सख्त नियंत्रण करके उस उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश की गयी। दूसरे, सरकार ने धार्मिक न्यासों द्वारा संचालित कालेजों को प्रोत्साहन देने का फैसला किया। जिस आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के कारण विवेकयुक्त, जनतांत्रिक और राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार हुआ था, उसे धार्मिक और नैतिक प्रणाली को आधार बनाकर चलने वाली शिक्षा में बदलने के प्रयत्न हुए।

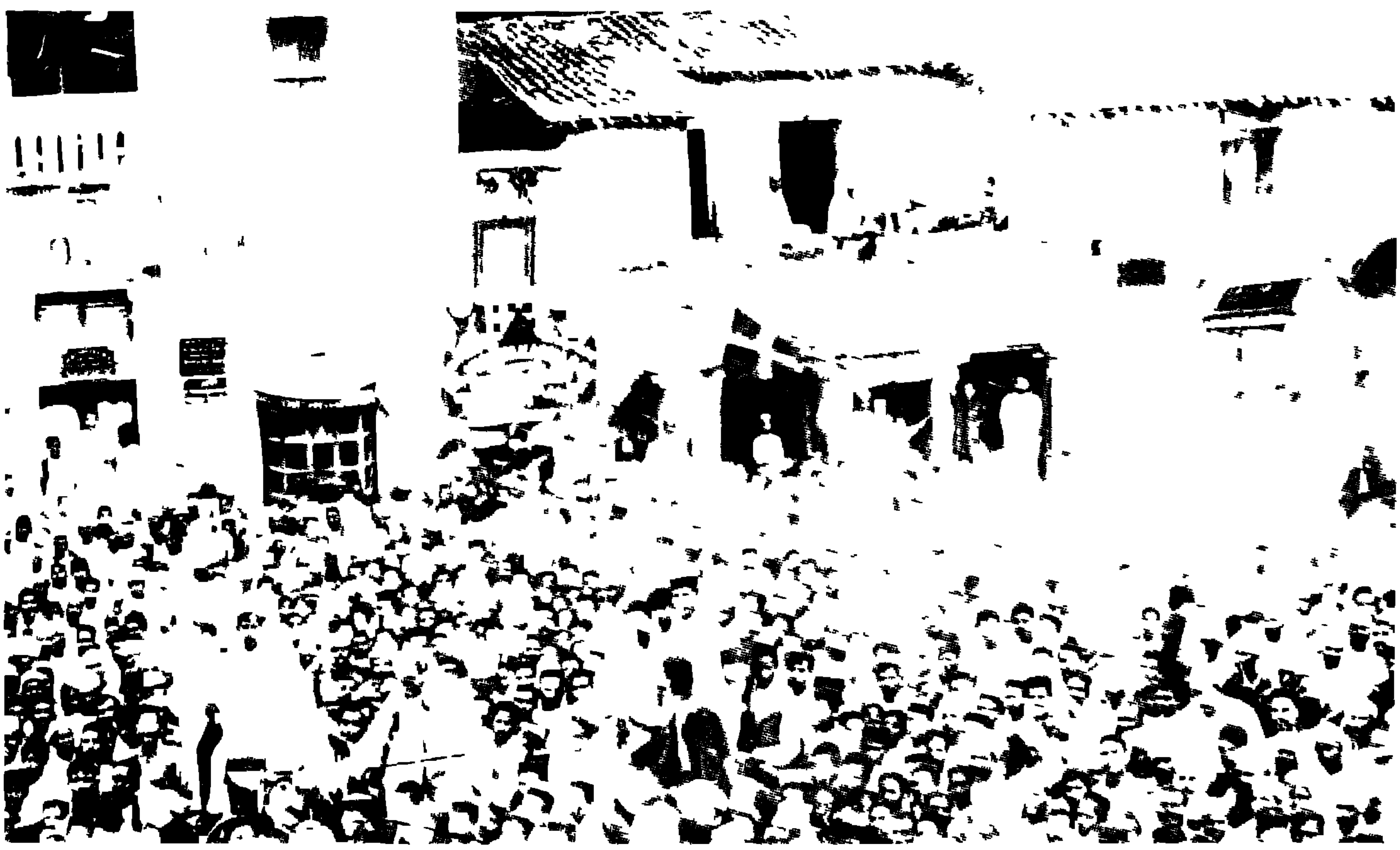
यद्यपि शिक्षा की यह नयी प्रणाली भारतीय धर्मो और भारतीय संस्कृति के महिमामंडन पर आधारित थी, लेकिन वह प्रतिक्रियावादी थी; क्योंकि वह युवकों को प्रगतिशील नहीं बना सकी। उनमें आधुनिकता का बोध नहीं पैदा कर सकी। इस नीति ने उन्नीसवीं शताब्दी का अंत आते आते यह स्पष्ट कर दिया कि किस तरह ब्रितानी साम्राज्यवाद के सारे प्रगतिशील तत्व नष्ट हो गये और यह भी कि वह सामाजिक और बौद्धिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी और निष्प्राण शक्तियों से गठजोड़ करने को तैयार था। अब उसे रूढ़िवाद और धार्मिक पुनर्जागरणवाद से कोई गंभीर आपत्ति नहीं थी। ब्रितानी शासन के ढांचे मे सामाजिक और सांस्कृतिक रूढ़िवाद को जगह दी जा सकती थी। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह आधुनिक विचारों के प्रसार से भयभीत था।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

बाद में आलोचकों ने कहा था कि प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों को व्यावहारिक धरातल पर अधिक सफलता नहीं मिली थी। जिन सुधारो के लिए उन्होंने आंदोलन किया था उनमें बहुत कम पर अमल हुआ। विदेशी शासकों ने उनके साथ उपेक्षापूर्ण बर्ताव किया और उनकी राजनीति की खिल्ली उड़ायी जैसा कि लाजपतराय ने बाद में लिखा : "अपनी शिकायतों का निवारण कराने तथा रियायतें पाने के लिए उन्होंने 20 साल से अधिक समय तक कमोबेश जो निरर्थक आंदोलन चलाया उसमें उन्हें रोटियों के बजाय पत्थर मिले।" वास्तविकता यह है कि सरकार अधिक उदार होने के बदले अधिक प्रतिक्रियावादी और दमनकारी हो गयी। इतना ही नहीं, प्रारंभिक दौर का आंदोलन आम जनता में अपनी जड़ें जमाने में असफल रहा और जिन लोगों ने बड़ी उम्मीदों के साथ उसमें हिस्सा लिया था, वे भी अधिक से अधिक तीव्रता के साथ महसूस करने लगे कि वे भ्रम में थे। उसके आलोचकों ने उसकी राजनीति की खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि वह 'लंगड़ी' और 'आधे मन' की थी तथा उसके याचिकाओं और निवेदन के तरीके भीख मांगने जैसे थे। उन्होंने इशारा किया कि कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर उस दौर के अधिसंख्य नेताओं ने न कोई व्यक्तिगत



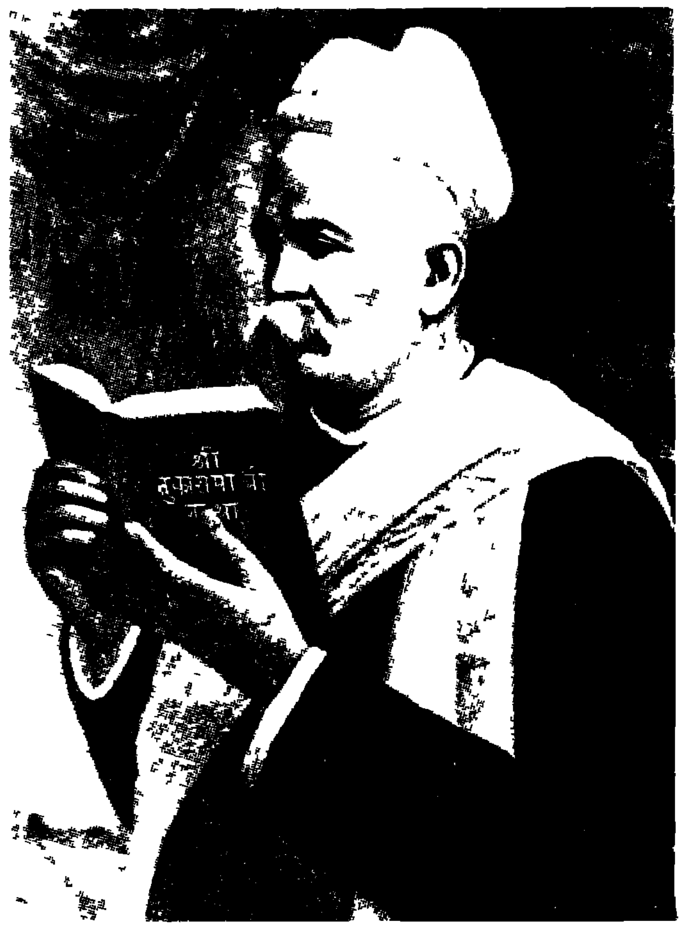
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन, 1885



पूना में होम रूल लीग का जलूस



दादाभाई नौरोजी



राना जी रानडे



बदरुद्दीन तैयबजी



सुरेन्द्र नाथ बेनर्जी



गोपालकृष्ण गोखले



श्री अरविंद



लाला लाजपत राय, बालगंगाधर तिलक और बिपिनचन्द्र पाल

Proclamation.

Whereas the Government has thought fit to effectuate the Partition of Bengal in spite of the universal protest of the Bengali nation, we hereby pledge and proclaim that we as a people shall do everything in our power to counteract the evil effects of the dismemberment of our Province and to maintain the integrity of our race. So help us God.

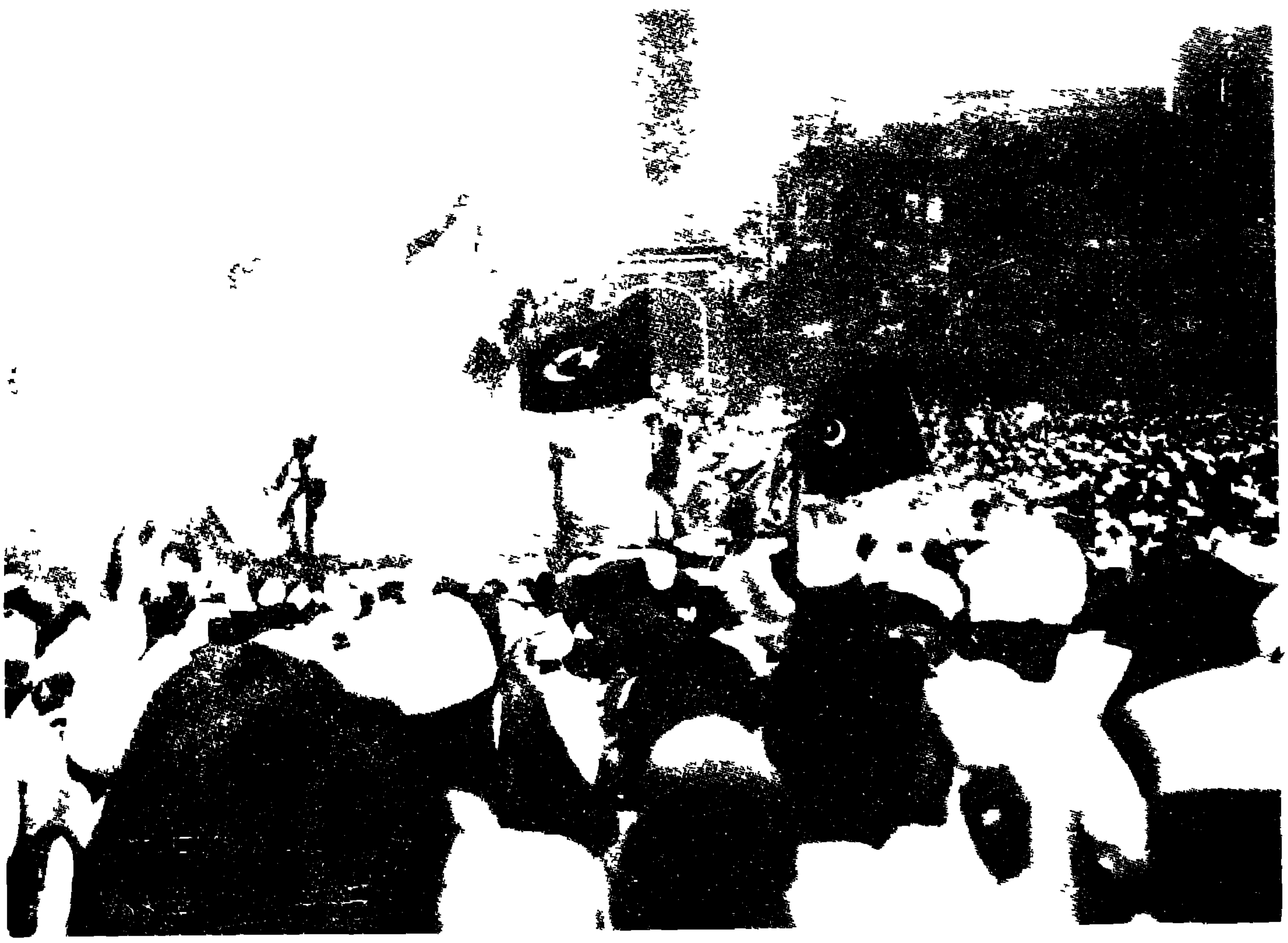
Dated this First day of November [illegible]
[illegible] Hundred
and Five [illegible]



बंग भंग के खिलाफ घोषणा



[illegible] 1921



बम्बई में विदेशी कपडा की होली



मोहम्मद अली



सर शंकरन नायर



एम० ए० अंसारी



सरोजनी नायडू



चितरंजन दास



मोतीलाल नेहरू



मोहम्मद अली जिन्ना



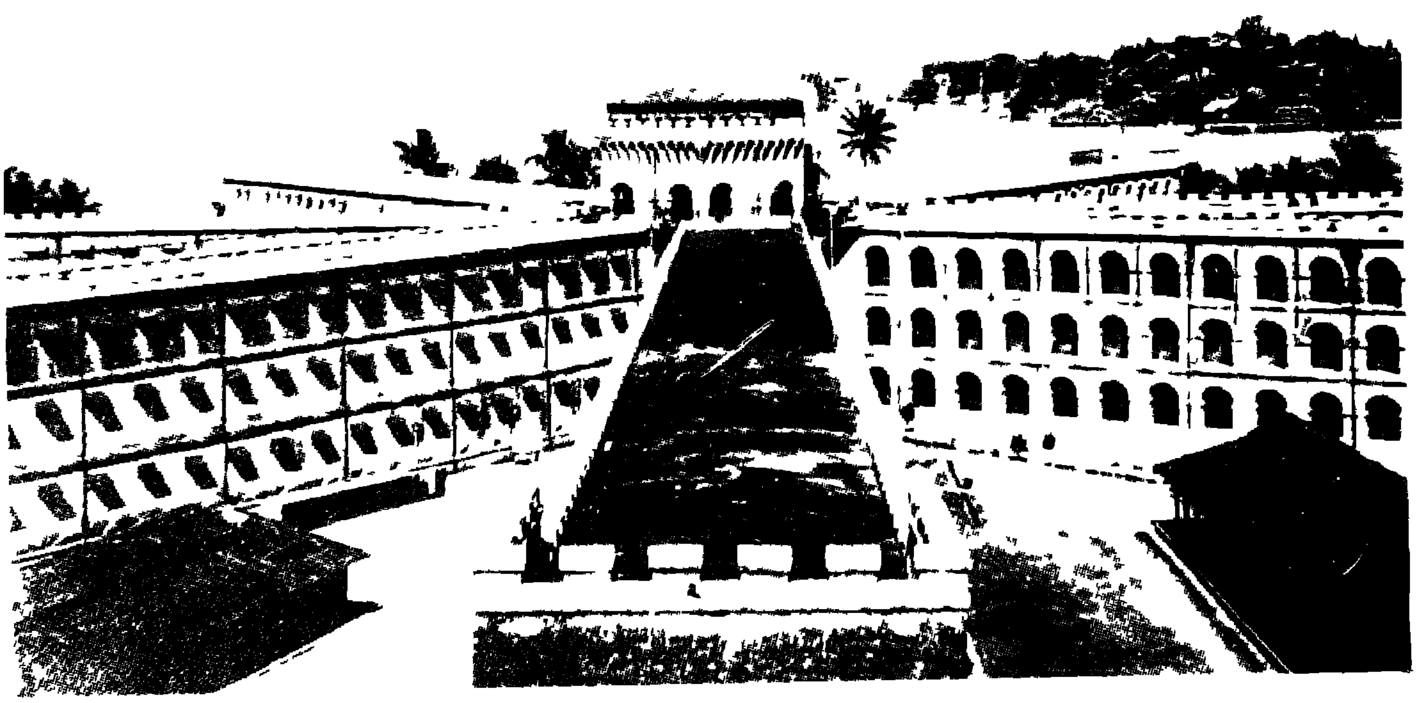
मदन मोहन मालवीय



सरदार भगत सिंह



सूर्यसेन



सेलुलर जेल, पोर्ट ब्लेयर

त्याग किया, न मामूली किस्म की निजी तकलीफ उठायी। इतना ही नहीं उनका कार्यक्रम पूंजीवाद के संकीर्ण दायरे में सीमित था। वे सोच ही नहीं सके कि भारत का विकास पूंजीवादी चौखटे से बाहर हो सकता है। इसका एक निश्चित परिणाम यह हुआ कि आम जनता पर उनकी अपील का उतना असर नहीं पड़ा जितना पड़ सकता था और इसी की वजह से उसे किसी राजनैतिक कार्यक्रम में आगे ले जाने की उनकी क्षमता भी सीमित हो गयी।

बहरहाल, आलोचकों की यह घोषणा कि प्रारंभिक दौर का राष्ट्रीय आंदोलन असफल रहा, बहुत सही नहीं है। इसमे कोई शक नहीं कि उनकी व्यावहारिक उपलब्धि मामूली थी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रितानी शासन के चरित्र में परिवर्तन आ जाने के कारण उनकी पूर्व-धारणाएं और दृष्टिकोण पुराने पड़ गये थे। यहां तक कि वे देशव्यापी स्तर पर संवैधानिक आंदोलन चलाने में भी असफल हो गये। युवा वर्ग अब उनकी ओर आकर्षित नहीं होता था और आम जनता उनके संगठन और प्रचार से अप्रभावित रही। सन् 1905 तक वे अपने राजनीतिक विकास की सीमा पर पहुंच गये थे।

लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाये तो प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों का राजनीतिक आमालनामा सचमुच उतना धुधला नहीं है बल्कि उसके विपरीत--यदि हम उन अपरिमित कठिनाइयों को ध्यान में रखें, जिनका उन्हे अपने काम के सिलसिले में मुकाबला करना पड़ा-तो स्पष्ट हो जायेगा कि उनका आमालनामा काफी रौशन है। व्यापक अर्थ में यह उनकी उपलब्धि ही थी, जिसने बाद के राष्ट्रीय आंदोलन को अधिक उन्नत अवस्था तक पहुंचाया और उनके दृष्टिकोण को ऐतिहासिक दृष्टि से अव्यवहार्य बना दिया। अतः प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अपने समय की सर्वाधिक प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने भारतीय राजनीति में एक निर्णायक मोड़ की स्थिति को संभव बनाया।

उन्हें व्यापक स्तर पर राजनीतिक चेतना पैदा करने में सफलता मिली। उन्होंने ही मध्य, निम्न मध्य और शिक्षित वर्ग के भारतीयों में यह भावना पैदा की कि उनका संबंध एक राष्ट्र से है--भारत नाम के राष्ट्र से। उन्होंने भारतीय जनों को इस दृष्टि से जागरूक किया कि उनके राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित एक हैं और उन सभी का एक ही शत्रु है जो साम्राज्यवाद के रूप में वर्तमान है। इस प्रकार उन्होंने उन भारतीय जनों को एक समान राष्ट्रीयता से जोड़ दिया। उन्होंने जनता में जनतंत्र और नागरिक स्वतंत्रता के विचारों को प्रचारित किया। भारतीय कांग्रेस तथा अन्य लोकप्रिय और राष्ट्रवादी संगठनों के निर्माण के ही दौर में भारतीयो को जनतंत्र का व्यावहारिक ज्ञान मिला। यह वह समय था जब शासक उन्हें लगातार यह बता रहे थे कि वे केवल 'परोपकारिता' या प्राच्य तानाशाही वाले शासन के उपयुक्त हैं। इतना ही नहीं, एक बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रवादी राजनैतिक कार्यकर्ता आधुनिक राजनीति की कला में प्रशिक्षित किये गये थे और (उनके माध्यम से) जनता आधुनिक राजनीति के विचार और अवधारणा से परिचित हुई।

सबसे बड़ी बात यह है कि ब्रितानी साम्राज्यवाद के वास्तविक चरित्र का पर्दाफाश

करने में उन्होंने दिशा-निर्देशक का काम किया। उन्होंने लगभग सारे महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्नों को भारत की राजनीतिक स्वाधीनता से जोड़ा और इस प्रकार, यद्यपि वे राजनीति और उसके तरीकों में नरमपंथी थे, उन्होंने इस भारतीय वास्तविकता के (कि आर्थिक शोषण के उद्देश्य से ही विदेशी उस पर शासन कर रहे हैं) सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं को सफलतापूर्वक उजागर किया। कोई भी शासन राजनैतिक ढंग से केवल तभी तक सुरक्षित रह सकता है जब तक जनता में या तो उसके परोपकारी चरित्र में मूलभूत विश्वास है या उसने चुपचाप यह स्वीकार कर लिया है कि उस शासन को बने ही रहना है। यह स्थिति शासन को वैधता प्रदान करती है और यही उसकी नैतिक आधारशिला है। प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों के आर्थिक आंदोलन ने ब्रितानी शासन की इस नैतिक आधारशिला में पूरी तरह सुरंग लगा दी। उसने ब्रितानी शासन के चरित्र के, उसके अच्छे आशय और अच्छे परिणाम के बारे में, जनमन में बैठे विश्वास को धीरे धीरे खत्म कर दिया। बौद्धिक बेचैनी के इस दौर में जहां एक बार यह काम हो गया, निश्चय था कि ब्रितानी साम्राज्यवाद की नंगी असलियत को उघाड़ने का काम राजनैतिक क्षेत्र में भी होता। उसके बाद ही संघर्ष का, उसके सामाजिक आधार को व्यापक करने का, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक लक्ष्यों को आमूल सुधारवादी बनाने का, आम जनता को संघर्ष में लगाने और उससे दिमागी तौर पर जुड़ने का, और जन-आंदोलन चलाने का काम किया जा सकता था और वह हुआ भी। एक बार मुख्य मुद्दों के साफ हो जाने पर, राजनैतिक संघर्ष की व्यूह रचना और उसकी शक्तियों को समझने में हुई भूल को ठीक उन मुद्दों के संदर्भ मे कभी भी सुधारा जा सकता था। अपने राजनैतिक कार्य के इस नाजुक और प्राथमिक चरित्र को प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने अच्छी तरह पहचाना था। उदाहरण के लिए 12 जनवरी, 1905 को डी. ई. वाचा ने दादाभाई नौरोजी को एक पत्र में लिखा :

> अपने धीमे और प्रगतिशील न होने का जो अधैर्य और असतोष कांग्रेस ने उभरती हुई पीढ़ी के मन में अपने ही विरुद्ध जगाया, वही उसका सबसे अच्छा परिणाम व फल है। यह उसकी ही प्रगति है, उसका ही विकास है। अब काम है अपेक्षित क्रांति लाने का। भले ही वह हिंसक हो या शांतिपूर्ण। क्रांति के चरित्र का स्वरूप ब्रितानी सरकार की बुद्धिमत्ता या अज्ञानता और अंग्रेज जनता के काम के आधार पर बनेगा।

सन् 1858 और 1905 के बीच का समय भारतीय राष्ट्रवादिता के बीजारोपण का समय था, और उस दौर के राष्ट्रवादियों ने उस बीज को अच्छी तरह और गहराई में बोया। उन्होंने अपनी राष्ट्रवादिता को सतही संवेगों और अस्थाई भावनाओं को जागृत करने के आग्रह या स्वाधीनता और स्वतंत्रता के अमूर्त अधिकार या धुंधले अतीत को याद दिलाने की अपील पर आधारित नहीं किया, वरन् उसकी जगह पर उसे आधुनिक साम्राज्यवाद

के पेंचीदा ढांचे के भावुकता से मुक्त और गहरे विश्लेषण तथा भारतीय जनता और ब्रितानी शासन के हितों के मुख्य अंतर्विरोध को जमीन में गाड़ा। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसा समान राजनीतिक और धार्मिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसने भारत के विभिन्न वर्गों के लोगों को विभाजित करने की जगह एकबद्ध कर दिया। बाद में भारतीय जनता उस कार्यक्रम से संबद्ध हुई और उसने एक सशक्त सघर्ष शुरू किया।

अतः यह कहा जा सकता है कि अपनी कतिपय असफलताओं के बावजूद प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन की एक ऐसी ठोस नींच रखी जिस पर उसका अगला विकास हुआ। आधुनिक भारत के निर्माताओं में वे ऊंचा स्थान पाने के अधिकारी हैं। भारतीय राष्ट्रवादिता के जनक नेताओं की भूमिका का मूल्यांकन करते हुए महान नरमपंथियों की अंतिम कड़ी गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा :

> हम यह न भूलें कि हम देश की प्रगति के उस बिंदु पर खड़े हैं, जहां हमारी उपलब्धियां अनिवार्यतया नगण्य और असफलताएं बार बार की तथा पीड़क और परीक्षा लेने वाली होंगी। यही वह प्राप्ति है जो नियति की अनुकंपा से हमें इस सघर्ष में मिली है; यह काम हम ज्यों ही पूरा कर लेंगे हमारा दायित्व खत्म हो जायेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आने वाली पीढ़ियों को देश सेवा के कार्य में सफलताएं मिलती रहेगी। हमें, यानी वर्तमान पीढ़ी के लोगों को, अपनी असफलताओं के बावजूद उसकी सेवा करके संतुष्ट होना ही चाहिए क्योंकि वे असफलताएं कठोर भले ही हों, शक्ति उन्हीं से फूटेगी जिससे अंततः महान कार्य पूरे होंगे।

3

युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादिता का दौर

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जनता की राजनैतिक चेतना तेजी के साथ विकसित हुई थी। लेकिन नेताओं को ब्रितानी शासकों से रियायतें लेने में सफलता नहीं मिली। इसके साथ ही साथ देश का औपनिवेशिक शोषण चलता रहा।

वाणिज्य-व्यापार में पर्याप्त अवसरों के अभाव के कारण मध्य वर्ग के शिक्षित लोग सरकारी नौकरियों और वकालत जैसे पेशों की ओर अधिक से अधिक झुकने लगे। उनमें कुछ अधिक साहसी लोगों ने पत्रकारिता अपनाई। सरकारी नौकरियों के अवसर अत्यंत सीमित थे। उदाहरण के लिए सन् 1903 में 75 रुपये मासिक से ऊपर वेतन पाने वाले भारतीयों की संख्या केवल 16 हजार थी। वकालत का पेशा प्रायः असफल था। पत्रकारिता का पेशा भी उन दिनों अत्यंत खतरनाक था। समस्या का मूल बेरोजगार स्नातकों की संख्या नहीं बल्कि वे लोग थे जो बहुत बड़ी तादाद में परीक्षा में असफल हो जाने के कारण अयोग्य हो गये थे। नौकरी न पा सकने वाले इस युवा वर्ग के लोगों में ही निराशा की भावना सबसे अधिक थी।

शताब्दी की समाप्ति के समय तक किसानों, मजदूरों और गांवों के संभ्रांत लोगों की मनस्थिति असंतोष और निराशा की थी। अतः आश्चर्य नहीं कि उन नरमपंथी नेताओं की लोकप्रियता निरंतर घटने लगी थी, जो सरकार से सुधार की पैरवी करते आ रहे थे। जो अवश्यंभावी था, वह घटा। परिस्थितियों ने बड़ी संख्या में उन नेताओं को मैदान में उतार दिया जो अपनी मांगों में आमूल परिवर्तनवादी थे, और जो राष्ट्रवादिता के एक युद्धोन्मुखी रूप में विश्वास करते थे। उन्हें उग्रपंथी कह कर पुकारा जाने लगा। यदि नरमपंथी नेताओं को शिक्षितों और शहर के मध्य वर्ग से मुख्य समर्थन मिला तो इन नये नेताओं ने निम्न-मध्य वर्ग, छात्रों, और यहां तक कि किसानों-मजदूरों के एक वर्ग को व्यापक धरातल पर अपनी ओर आकर्षित किया।

बौद्धिक नेतृत्व शुरू में बंगाल के राजनारायण बोस और बंकिमचंद्र चैटर्जी तथा महाराष्ट्र के विष्णु शास्त्री चिपलुणकर सरीखे व्यक्तियों ने किया। बंकिम के गीत **वंदे मातरम्** से शुरू हुए जो बाद में देशभक्ति और आत्म बलिदान की झकझोर देने वाली पुकार बन गये।

इस तथ्य को निश्चय ही ध्यान में रखना चाहिए कि राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारंभिक दौर में जो अनुभव प्राप्त हुए उनसे नेताओं को एक प्रौढ़ता मिली, एक हैसियत मिली। उनमें आत्मसम्मान और आत्मविश्वास का विकास हुआ। उन्होंने महसूस किया कि वे अपना शासन

खुद चला सकते हैं। उन्होंने अपने देश के भावी विकास के प्रति विश्वास प्राप्त कर लिया था।

स्वामी विवेकानंद राजनीतिक नेता नहीं थे लेकिन उन्होंने भी कई बार इस आवश्यकता पर बल दिया कि व्यक्ति में अपनी निजी शक्ति का दृढ़ विश्वास होना चाहिए। उन्होंने कहा, "अगर दुनिया में पाप है, तो वह दुर्बलता है। हर तरह की दुर्बलता से बचो। दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है। जो भी चीज तुम्हें शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक रूप में दुर्बल बनाती है, उसे जहर की तरह तिरस्कृत करो। उसमें कोई जीवन नहीं है। वह सत्य नहीं हो सकती।"

विवेकानंद पहले पुरुष थे जिन्होंने स्पष्टतया और साहस के साथ अतीत की महिमा के दिवास्वप्न देखने की प्रवृत्ति का विरोध किया। उन्होंने चाहा कि भारतीय राष्ट्र के भविष्य का निर्माण दूरदर्शिता और दृढ़ता से किया जाये। उन्होंने पूछा, "हे परमेश्वर ! वह समय कब आयेगा, जब हमारे देश के लोग निरतर अतीत में जीने की प्रवृत्ति से मुक्त होंगे?" यद्यपि वह एक धार्मिक नेता थे लेकिन उन्होंने घोषणा की कि धर्म भूखे पेट वालों के लिए नहीं है; कि उसे मानव कल्याण में अपनी भूमिका अदा करनी चाहिए।

इस दौर में बाहर के देशों में ऐसी घटनाएं घटीं जिन्होंने भारतीय लोगों में एक युद्धोन्मुख राष्ट्रवादिता की भावना पैदा करने में मदद दी। विशेषकर सन् 1868 के बाद जापान ने एक आधुनिक और शक्तिशाली देश के प्रादुर्भाव के रूप में भारतवासियों को एक नयी उम्मीद दी। जापान ने साबित कर दिया था कि एशिया का एक पिछड़ा हुआ देश भी अपने प्रयत्नों से विकास कर सकता है और बिना पश्चिमी देशों की सहायता के शक्तिशाली बन सकता है। 50 वर्षो से कम की अवधि में ही जापान एक औद्योगिक राष्ट्र और मजबूत सैनिक शक्ति बन गया था। उसने सभी के लिए प्रारंभिक शिक्षा और एक सक्षम आधुनिक प्रशासन की व्यवस्था की थी। भारत के लिए अनुसरण करने का एक उदाहरण वहां था। इसी तरह सन् 1896 में इटली पर इथियोपिया की और सन् 1905 में रूस पर जापान की विजय से यह सिद्ध हो गया था कि गोरों का दूसरे देशों से बेहतर होने का दावा झूठा है।

आयरलैड, रूस, मिस्र, तुर्की और चीन की जनता के स्वतंत्रता के संघर्ष से भारतीय लोगों पर यह साबित हो गया था कि अपने सिद्धांतों के लिए तकलीफें सहने को तैयार एक संगठित देश सर्वाधिक शक्तिशाली देश तक से संघर्ष कर सकता है।

उग्रपंथियों में सबसे विशिष्ट नेता थे बालगंगाधर तिलक। बाद में उनकी प्रसिद्धि लोकमान्य तिलक के रूप में हुई। उनका जन्म सन् 1866 में हुआ था। उन्होंने बंबई विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षा पास की और अपना सारा जीवन राष्ट्र की सेवा में लगा दिया। जनमत को अपने राजनीतिक लक्ष्यों और उद्देश्यों के अनुकूल ढालने में उन्होंने अपनी पत्रकारिता की प्रतिभा का अद्‌भुत उपयोग किया। उन्होंने जी. जी. अगारकर के साथ दो समाचारपत्रों की स्थापना की। एक था अंग्रेजी का **मराठा** और दूसरा मराठी का **केसरी**।

सन् 1889 से उन्होंने स्वयं केसरी का संपादन शुरू किया। और समाचारपत्र राष्ट्रीय मसलों का वाक्‌पटु पैरवीकार बन गया। तिलक ने अपने भाषणों और लेखों द्वारा जनता से आग्रह

किया कि वह आत्मविश्वासी, स्वाभिमानी, निर्भय और निस्वार्थी बने। उन्होंने परंपरागत गणेशपूजा का संगठन किया और आम जनता में राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार करने के लिए शिवाजी पर्व की शुरुआत की।

तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महाराष्ट्र के किसानों को सलाह दी कि जब भी सूखा, अकाल या किसी दैवी विपत्ति से फसल नष्ट-भ्रष्ट हो जाये तो वे लगान देना बंद कर दें। जैसी कि उम्मीद थी, ब्रितानी अधिकारियों में घबराहट शुरू हुई। उन्होंने सन् 1897 में तिलक को गिरफ्तार कर लिया। उन पर सरकार के विरुद्ध घृणा और द्वेष फैलाने का अभियोग लगाया गया। उनके बचाव में निर्भीकता और अडिगता थी। उन्होंने माफी मांगने से इंकार करके गर्व के साथ 18 महीने की कठोर कारावास की सजा स्वीकार की। उनके इस त्याग ने बिजली जैसा असर पैदा किया। वह नयी राष्ट्रवादिता के जीवंत प्रतीक बन गये। जब वायसराय एलगिन ने भारत में बने कपड़ों पर आबकारी कर लगाया तो उन्होंने ब्रितानी चीजों का बहिष्कार करने और स्वदेशी को अपनाने का आह्वान किया।

लोकमान्य तिलक के अलावा, विपिनचंद्र पाल, अरविंद घोष और लाला लाजपतराय सरीखे नेता युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादिता की विचारधारा के मुख्य व्याख्याताओं में से थे। सबसे पहले उन्होंने चाहा कि भारत के लोग खुद स्वतंत्रता पाने के लिए कार्य करें। दृढ़ता के साथ कोशिश करें कि विदेशी शासन के अंतर्गत उन्हें हीनता की जिस स्थिति में रहने को विवश कर दिया गया है उससे वे ऊपर उठ सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कोई त्याग बहुत बड़ा नहीं था, कोई तकलीफ बहुत बड़ी नहीं थी। अतः उन्होंने साहस, आत्मविश्वास और त्याग की भावना के लिए पैरवी की। दूसरे, इस झूठे सुझाव को भी उन्होंने पूरी तरह निर्मूल कर दिया कि भारत को एक 'उदार निर्देशक' या विदेशी सहायता की आवश्यकता है। उन्होने विदेशी शासन से घृणा की और दृढ़ता के साथ यह दावा किया कि मात्र स्वराज्य या पूर्ण स्वतंत्रता ही उनका लक्ष्य है जिसके लिए वे संघर्ष कर रहे हैं। तीसरा या अंतिम तथ्य है कि उन्हें जन शक्ति में अटूट विश्वास था और उन्होंने जन कार्यो के जरिये ही स्वतंत्रता पाने की तैयारी की।

बंग-भंग और बंगाली प्रतिक्रिया

जब कर्जन आये, उस वक्त तक उग्रपंथ के बगूलों ने उबलना शुरू कर दिया था। उनकी नीति ने उस उबाल को जल्द ही उफान में बदल दिया। भारतीय लोग स्वशासी सरकार, शिक्षा की स्वायत्तता और समाचारपत्रों की स्वतंत्रता के जिन आदर्शो में जी रहे थे, उन्हीं पर कर्जन ने आक्रमण किया। उन्होंने कलकत्ता नगर निगम के भारतीय सदस्यों की संख्या कम कर दी। शैक्षिक सुधार के नाम पर भारतीय विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण और बढ़ा दिया। उन्होंने एक विश्वविद्यालय आयोग का गठन किया जिसने सिफारिश की कि द्वितीय श्रेणी के कालेजों और कानून की कक्षाओं को बंद कर दिया जाये, शिक्षा शुल्क में वृद्धि की जाये, व्यवस्थापिका

सभा (सीनेट) के सदस्यों का कार्यकाल और उनकी संख्या घटा दी जाये और शिक्षण संस्थानों को मान्यता देने के अधिकारों को व्यापक बनाया जाये। कानून की कक्षाओं और द्वितीय श्रेणी के कालेजों को तोड़ देने का परिणाम केवल उनमे पढ़ाने और उन्हें संचालित करने वाले भारतीयों को अपेक्षाकृत कम नौकरियां मिलना ही नहीं था। उसकी वजह से उच्चतर शिक्षा और कानूनी पेशे में जाने के अवसर भी कम हो जाते। शिक्षा-शुल्क में वृद्धि के कारण क्लर्की या मास्टरी की नौकरी करने के इच्छुक गरीब लोगों के रास्ते बंद हो जाते। नरमपंथियों ने विधेयक का विरोध किया लेकिन कर्जन ने बहुत थोड़ी रियायते दीं। राष्ट्रीय शिक्षा की मांग अधिक तीव्र हो गयी।

उनके भारतीय सरकारी गोपनीयता (संशोधन) विधेयक का लक्ष्य दमनकारी अधिकारियों को सार्वजनिक आलोचना से बचाना था। ऐसा लगा कि वह लिटन की नीति की ही एक अगली कड़ी था जिसने भारतीय समाचारपत्रों को पहले से भी अधिक राष्ट्रवादी बना दिया। उन्होंने विदेशी विनियोगों, दिल्ली दरबार और तिब्बती आक्रमण में बुरी तरह भारतीय कोष खर्च किया। भूमि कर में कमी करने से इंकार कर दिया। अंततः आया बंगाल का विभाजन। प्रगट रूप में कहा गया कि एक अलाभकारी प्रांत को बेहतर प्रशासन देने के लिए ऐसा किया जा रहा है लेकिन वास्तविक उद्देश्य था आमूल परिवर्तन चाहने वाले बंगाली राष्ट्रवादियों पर नियंत्रण करना। प्रशासनिक सुविधा और आसाम का विकास योजना के स्वीकृत उद्देश्य थे, लेकिन उसमें राजनीति घुस गयी थी। अधिकारियों ने पूर्वी जिलों को 'कलकत्ता के अनिष्टकारी प्रभावों' से मुक्त करने और 'मुसलमानों के साथ अधिक न्यायपूर्ण व्यवहार' करने की बात कही। उनकी इच्छा थी कि उग्रपंथ का उत्तेजक गढ़ बन जाने वाले बखारगंज और फरीदपुर को पूर्व बंगाल में हस्तानांतरित कर दिया जाये।

विरोध व्यापक था। कांग्रेस ने योजना को 'असंगत' कहा। दो विकल्प सुझाये गये। या तो बंगाल को एक गवर्नर के आधीन रखा जाये या हिंदी और उड़िया भाषी लोगों को बिना बंगभाषियों को बांटे हुए अलग कर दिया जाये। कर्जन ने विरोध को बंगाली बाबुओं की खोखली गर्जना कह कर ठुकरा दिया। इससे केवल यह साबित हुआ कि विभाजन राजनैतिक दृष्टि से वांछनीय था, और यदि सरकार मान जाती तो भारत के पूर्वांचल पर बढ़ती हुई अशांति के स्रोत खत्म हो जाते।

फरवरी, 1904 में पूर्वी बंगाल में पहुंचने के अवसर पर उन्होंने पहली योजना को विस्तार दिया। उसके अनुसार बंगाल को 15 जिलों से हाथ धोना पड़ता और उसकी आबादी कम होकर 5 करोड़ 40 लाख रह जाती। रिजले ने लिखा, ''संयुक्त बंगाल एक शक्ति है। विभाजित बंगाल विभिन्न रास्तों पर जायेगा। हमारा एक उद्देश्य उसे विघटित कर देना है ताकि हमारे शासन का विरोध करने वाला एक ठोस आधार कमजोर हो जाये।'' बाद में लार्ड हार्डिंग्ज ने स्वीकार किया कि ''बंगाली बाबुओं पर प्रहार करने की इच्छा दूसरे विचारों पर हावी हो गयी।'' लेकिन बंगालियों के सभी वर्गो यथा जमींदारों, वकीलों, व्यापारियों, शहर के गरीबों, मजदूरों

और सबसे अधिक छात्रों के संयुक्त विरोध के नीचे सरकारी इरादे दब गये। जनता के एक स्वाभिमानी और संवेदनशील वर्ग की भावनाओं को निदर्यतापूर्वक कुचल दिया गया था।

विभाजन विरोधी आंदोलन

कर्जन ने भारतीय मामलों के मंत्री की अनिच्छित सहमति प्राप्त की और सन् 1905 में योजना को प्रकाशित कर दिया। उन्हें लगा कि जिस एकता को नष्ट करने की उन्होंने कोशिश की थी, उसी की उन्होंने रक्षा कर दी है। विभाजन विरोधी आंदोलन बंगालियों के हर वर्ग तथा देश के समग्र राष्ट्रवादी नेतृत्व का काम था। शुरू शुरू में सुरेंद्रनाथ बैनर्जी जैसे नरमपंथियों ने आंदोलन का सूत्र अपने हाथ लिया लेकिन आंदोलन की बागडोर शीघ्र ही विपिनचंद्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त और अरविंद घोष जैसे तेज उग्रपंथियों के हाथ में आ गयी। मुख्यतः वह एक शहरी आंदोलन था लेकिन उसने ग्रामीण जनता को भी छुआ।

इसकी शुरुआत 7 अगस्त, 1905 को कलकत्ता के टाउन हाल में आयोजित एक विशाल सभा में हुई जब ब्रितानी माल के बहिष्कार का प्रस्ताव पास हुआ। 16 अक्तूबर को (जिस दिन विभाजन प्रभावी हुआ), राष्ट्रीय शोक का दिन घोषित किया गया। आम हड़ताल हुई। लोगों ने उपवास किया। वे वंदे मातरम् के नारे लगाते तथा देशभक्ति के गीत गाते हुए नंगे पांव गंगास्नान के लिए गये। सारे बंगालियों के बंधुत्व के प्रतीक रूप हिंदुओं और मुसलमानों ने एक दूसरे की कलाइयों पर राखी बांधी।

रवींद्रनाथ टैगोर के स्वदेशी गीतों ने जनता के क्रोध और पीड़ा को अभिव्यक्ति दी। उनके हर स्वर में धरती और विभाजित हो जाने वाले लोगो के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। बंगाली प्रतिरोध करने, दुख झेलने और त्याग करने के लिए संगठित होकर एक व्यक्ति के रूप में खड़े हो गये। बारिसाल और मैमनसिंह जैसे दूर-दराज के जिले शीघ्र ही देशभक्ति की आग में धधकने लगे। बनारस कांग्रेस (अधिवेशन) की अध्यक्षता करते हुए गोखले ने विभाजन के संदर्भ में कहा थाः "वह एक 'निर्मम भूल' थी। वह नौकरशाही की वर्तमान प्रणाली के निकृष्टतम रूपों, जनमत के प्रति उसकी आत्यंतिक उपेक्षा, अपनी बुद्धि को बेहतर मानने के उसके अहंकारी बहानों, जनता की सर्वाधिक प्रिय भावनाओं की बेहूदी अवमानना और शासित लोगों के हितों की रक्षा के प्रति उनकी वास्तविक उदासीनता की एक सर्वोपांग मिसाल है।"

सन् 1905 की व्यापक जनभावना से स्वदेशी और बहिष्कार के जिस विचार का जन्म हुआ वह नया नहीं था। अमरीका, आयरलैंड और चीन की जनता ने उसे पहले ही अपना लिया था। भारतीय उद्योग के विकास के शुद्ध आर्थिक साधन के रूप में स्वदेशी का उपदेश महाराष्ट्र के गोपाल राव देशमुख, जी. वी. जोशी और महादेव गोविंद रानाडे तथा बंगाल के राजनारायण बोस, नवगोपाल मित्र और टैगोर परिवार ने दिया था। उसी तरह 19वीं शताब्दी के सातवें दशक में भोलानाथ चंद्र ने ब्रितानी जनता पर आर्थिक दबाव डालने के लिए बहिष्कार की सिफारिश

की थी। तिलक ने सन् 1896 में संपूर्ण बहिष्कार आंदोलन का नेतृत्व किया था। ऐसा महसूस किया गया कि स्वदेशी और बहिष्कार एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे के बिना कोई भी सफल नहीं हो सकता था।

विभाजन विरोधी आंदोलन से इन पुरानी अवधारणाओं को एक नयी शक्ति मिली। लेकिन इसी की वजह से नरमपंथियों और उग्रपंथियों के मतभेद भी खुले रूप में सामने आ गये। बंबई के नरमपंथी एक आम राजनैतिक हथियार के रूप में बहिष्कार के विचार के विरोधी थे। यद्यपि उन्होंने स्वदेशी का स्वागत किया था। गोखले उस बहिष्कार शब्द को ताक पर रख देने को तैयार थे जिसका अर्थ 'दूसरे को आहत करने की प्रतिशोधात्मक इच्छा' था, और जिसने 'एक दूसरे के प्रति अनावश्यक दुर्भावना' पैदा कर दी थी। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी के ख्याल से बहिष्कार एक तात्कालिक अन्याय से लड़ने का एक विशेष अस्त्र था। उन्हें उम्मीद थी कि विभाजन रद्द हो जाने के बाद उसका प्रयोग बंद हो जायेगा। लाजपतराय अधिक परिवर्तनवादी थे। उन्होंने कहा, ''भारतीयों की शिकायतो पर अंग्रेज तभी ध्यान देने को विवश होंगे जब उनकी जेब पर सीधा खतरा आयेगा।'' तिलक, पाल और अरविंद की दृष्टि में बहिष्कार के कई उद्देश्य थे। वह मैनचेस्टर पर एक आर्थिक दबाव, साम्राज्य विरोधी आदोलन का एक राजनीतिक हथियार और स्वराज की उपलब्धि के लिए आत्मनिर्भरता का एक प्रशिक्षण था।

मतभेद कुछ समय के लिए समाप्त हो गये। विभाजन विरोधी आंदोलन स्वदेशी आंदोलन में विकसित हुआ जिसने विखंडित और त्रस्त शक्तियों को बल और संलग्नता दी। बहुत से कांग्रेसी नेताओं को अंग्रेजों के न्याय और स्मरणपत्रों, सभाओं, लेखों और समाचारपत्रों के माध्यम से नरमपंथी ढंग से संवैधानिक आंदोलन को कारगर रूप में चलाने में विश्वास था। बंगाल की घटनाओं ने उनके इस विश्वास की जड़ हिला दी। स्वदेशी ने बिना जाति और धर्म के भेदभाव के राजनीति में नये वर्ग को ला दिया। इस नये वर्ग ने समाचारपत्रों को स्पष्टवादी और छात्रों को विद्रोही होना सिखाया। इसने हिंदुओं और मुसलमानों को सहयोग करने, जनता को अपनी राजनैतिक और आर्थिक स्थिति पर विचार करने, निर्भीक होने, सरकार की अवज्ञा करने, लाठी चलाने, जेल जाने और फासी के तख्ते को देश की सेवा में अर्जित सम्मान समझकर स्वीकार कर लेने की सीख दी।

बनारस कांग्रेस ने बंगाल के विभाजन और सरकार द्वारा अपनाये गये दमनकारी कदमों का प्रभावशाली विरोध किया। उसने बंगाल के लिए स्वदेशी और बहिष्कार का अनुमोदन किया। यद्यपि उसने सारे भारत के लिए बहिष्कार की अनुमति नहीं दी, लेकिन लाजपतराय ने सभी प्रांतों को बंगाल का अनुसरण करने के लिए कहा। तिलक ने बलपूर्वक कहा कि स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का लक्ष्य स्वराज की प्राप्ति है। सारे बंगाल और देश के मुख्य नगरों और कस्बों में हजारों सभाओं में स्वदेशी और बहिष्कार का आह्वान किया गया। इसके दो पहलू थे। एक तरफ सार्वजनिक जगहों पर ब्रितानी वस्तुओं की होली जलायी गयी, उन्हें बेचने वाली दूकानों पर धरना दिया गया और स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन और बिक्री के लिए जोरदार प्रयत्न

किये गये। मिठाई बनाने वालों ने विदेशी चीनी का इस्तेमाल न करने, धोबियों ने विदेशी कपड़े न धोने, पुजारियों ने विदेशी चीजों से पूजा न कराने की कसम खाई। दक्षिण भारत और बंगाल की स्त्रियों ने विदेशी चूड़ियों और शीशे के बर्तन का इस्तेमाल छोड़ दिया। छात्रों ने विदेशी कागज इस्तेमाल करने से इंकार कर दिया। यहां तक कि डाक्टरों और वकीलों ने उन व्यापारियों की सहायता करने से इंकार कर दिया जो विदेशी उत्पादनों का क्रय-विक्रय करते थे। धरने को सामाजिक बहिष्कार के परंपरागत तरीके के साथ जोड़ दिया गया। बारिसाल जैसी कुछ जगहों में दूकानदारों ने स्वेच्छा से ब्रमक और कपड़े नष्ट कर देने के लिए दे दिये और इस प्रकार दंड कर लगाने वाली पुलिस के क्रोध को स्वयं आमंत्रण दिया।

दूसरी तरफ, व्यावहारिक पहलू यह कि आंदोलन ने कुटीर उद्योगों को ही नहीं, विभिन्न किस्म के बड़े पैमाने के जोखिम भरे व्यापारिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया। स्वदेशी कपड़ा मिलें, दियासलाई, साबुन, चर्मशोधक और मिट्टी के बर्तन बनाने के कारखाने सहसा जगह जगह खुल गये। आचार्य पी. सी. राय ने 'बंगाल केमिकल फैक्टरी भंडार' खोला जो शीघ्र ही बहुत लोकप्रिय हो गया। गुरुदेव टैगोर ने स्वयं एक स्वदेशी भंडार खोलने में सहायता की। टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी ने सारी सरकारी और विदेशी सहायता लेने से इंकार क" दिया और उसकी सारी पूंजी की, अभिदान के रूप में, भारतीयों ने तीन महीने के भीतर व्यवस्था कर दी। बैंक और बीमा कंपनियां खोलने मे अनेक जमींदारों और व्यापारियों ने राजनीतिक नेताओ का साथ दिया। यहां तक कि जहाजरानी संस्थान भी शुरू किये गये।

स्वदेशी आंदोलन ने संस्कृति के क्षेत्र में नये आंदोलनों को गतिशीलता दी। एक नये प्रकार की राष्ट्रवादी कविता, गद्य और पत्रकारिता का जन्म हुआ जो आवेश और आदर्शवाद से युक्त थी। रवींद्रनाथ टैगोर, रजनीकांत सेन और मुकुददास द्वारा रचित राष्ट्रवादी गीतों में न केवल सामयिक ढंग से प्रभाव डालने की शक्ति थी वरन् साहित्यिक स्तर पर भी वे स्थाई मूल्य के थे। आज भी बंगाल में वे गीत गाये जाते हैं। स्वदेशी और राष्ट्रीय आंदोलन के फलस्वरूप जिस राजनैतिक पत्रकारिता का जन्म हुआ उसने स्वाधीनता, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता पर अत्यंत उच्च कोटि के भाष्य दिये।

पश्चिमी भारत में स्वदेशी और बहिष्कार का आंदोलन तिलक के साथ पहुंचा। उनके नेतृत्व में पूना में बड़े पैमाने पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गयी। उन्होंने **स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा** के मुख्यांग के रूप में सहकारी भंडार खोले। बंबई के मिल-मालिकों से सस्ते दाम पर धोतियां देने का आग्रह किया। पूना में एक स्वदेशी बुनाई कंपनी भी खोली गयी। आयात के कारण चीनी का देशी उत्पादन और गन्ने की पैदावार काफी कम हो गयी थी। विदेशी चीनी के इस्तेमाल के विरुद्ध पंजाब में आंदोलन की एक लहर दौड़ गयी। रावलपिंडी के दूकानदारों ने व्रत लिया कि वे उसका क्रय-विक्रय नहीं करेंगे। मुल्तान के ब्राह्मणों ने विदेशी चीनी से बने प्रसाद को मंदिरों में चढ़ाने पर रोक लगा दी। आंदोलन हरिद्वार, दिल्ली, कांगड़ा और जम्मू तक फैला। सैयद हैदर रजा दिल्ली में स्वदेशी आंदोलन के चलते-फिरते प्रेरणास्रोत थे। चिदंबरम् पिल्लै ने मद्रास के पूर्वी तट (मद्रास राज्य) पर तूतीकोरन में स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कंपनी खोली।

युद्धोन्मुखी राष्ट्रीय आंदोलन का विकास

स्वदेशी भावना का उद्देश्य लोगों को खुद की राष्ट्रीय प्रणाली के अनुसार शिक्षित करना था। सन् 1898 में डॉन के संपादक सतीशचंद्र मुखर्जी ने राष्ट्रीय शिक्षा योजना की संरचना की थी। शिक्षा की ब्रितानी प्रणाली को राष्ट्रविरोधी समझा जाता था। कहा गया कि इस विदेशी ज्ञान को सिर्फ रट लेने की आवश्यकता है जिसका कोई संबंध भारत की संस्कृति या उसकी परिस्थितियों से नहीं है। अंग्रेजी के माध्यम ने शिक्षा के सुख का गला घोट दिया, युक्त विचारों को निरुत्साहित किया और रचनात्मक लेखन को बाधित किया। रवींद्रनाथ टैगोर ने शांति निकेतन की स्थापना करके रास्ता दिखा दिया था। कर्जन के भारतीय विश्वविद्यालय विधेयक और कारलाइल के जिलाधीशों के पास भेजे गये परिपत्रों के जरिये छात्रों को राजनैतिक प्रदर्शनों में हिस्सा लेने की मनाही कर दी गयी थी। इसके कारण राष्ट्रीय शिक्षा परिषद की स्थापना को बल मिला। सन् 1906 में बंगाल नेशनल कालेज की स्थापना हुई और अरविंद उसके प्राचार्य हुए। पाठ्यक्रम में विज्ञान और तकनीक को उचित स्थान दिया गया था लेकिन बल भारतीय चीज़ों पर दिया गया। इसका उद्देश्य भारतीय वैज्ञानिक, इतिहासकार और उद्योगपति पैदा करना था, लेकिन अधिक बल देशभक्ति की भावना को उभारने पर था। इसे एक सांस्कृतिक जमीन तैयार करनी थी जिस पर स्वतंत्रता फल-फूल सके। क्षेत्रीय भारतीय भाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाना था। बंगाल टेक्निकल स्कूल ने उस तकनीकी शिक्षा पर बल दिया जिसकी अब तक उपेक्षा की गयी थी। वजीफे देकर छात्रों को उन्नत प्रणालियों का अध्ययन करने के लिए जापान भेजा गया। सारे देश में दर्जनों की संख्या में राष्ट्रीय स्कूल खुल गये।

टैगोर ने आत्मनिर्भरता का, आत्मशक्ति का उपदेश दिया जिसका मुख्य काम गांवों का सामाजिक और आर्थिक पुनरुद्धार करना था। अश्विनीकुमार दत्त ने इसे व्यावहारिक रूप देने के लिए बारिसाल में नामशूद्रों की जातिगत अपात्रता, दहेज प्रथा, बाल विवाह और अधिक शराब पीने जैसी बुराइयों को खत्म करने की कोशिश की। लेकिन उग्रपंथियों ने राजनैतिक स्वतंत्रता को ही कुल मिलाकर अधिक महत्वपूर्ण माना।

तिलक ने केसरी में लिखा, "हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल तना स्वराज है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएं।" वास्तव में स्वदेशी ने ही स्वराज का रास्ता दिखाया। अतः आंदोलन को, ब्रितानी शासन के हर रूप के विरुद्ध विभाजन विरोधी प्रदर्शनों से हटाकर एक सविनय अवज्ञा आंदोलन के रूप में व्यापक बनाना था। इसका उद्देश्य केवल ब्रितानी वस्तुओं और स्कूलों का ही नहीं, बल्कि संक्षेप में, अदालतों, नगरपालिकाओं, विधान परिषदों का बहिष्कार करना और सरकार से सारे संबंध तोड़ लेना था। ब्रितानी सम्मान की जड़ों पर आक्रमण करके उसके सम्मोहन को भंग कर देना था। संगठित प्रतिरोध द्वारा प्रशासन को असंभव बना देना था ताकि वह ब्रितानी वाणिज्य के शोषण और नौकरशाही द्वारा भारतीय जनता के दमन में सहायक न हो सके।

इसके पहले कि उग्रपंथी एक संपूर्ण संघर्ष के लिए कांग्रेस पर अपना अधिकार जमा सकें उन्हें किसानों और मजदूरों को आंदोलन में शामिल करना था। स्वदेशी के संदेश का जनता तक पहुंचना शुरू हुआ और क्योंकि जनता के कल्याण और संपन्नता से उसकी सीधी प्रासंगिकता थी, वह उन्हें सार्थक लगा। राजनीति की सैद्धांतिक और अमूर्त अवधारणाएं इस तरह का अहसास नहीं करा सकती थीं। यदि उग्रपंथियों ने किसानों से लगान न देने का आंदोलन करने और मजदूरों से पूंजीपतियों के विरुद्ध खड़े होने को कहा होता तो वे अधिक जोश के साथ आंदोलन में शरीक हुए होते। यद्यपि यह काम नहीं किया गया, लेकिन तब भी किसानों और मजदूरों की भूमिका विशिष्ट रही। नील पैदा करने वाली चंपारण की रैयत बिहार में विद्रोह में उठ खडी हुई। आसाम और मैमनसिंह मे अशांति फैली। बारिसाल में अश्विनीकुमार दत्त ने मुसलमान किसानों के आंदोलन का नेतृत्व किया। बंगाल में हड़ताल की एक लहर उठी और उसने ईस्ट इंडियन रेलवे, क्लाइव जूट मिल्स और बहुत से आयरन वर्क और प्रेसेज को अपनी चपेट में ले लिया। कलकत्ता बंदरगाह पर कुछ समय के लिए काम बिलकुल ठप्प पड़ गया। तिलक ने बंबई के मजदूरों से अपील की जिसके फलस्वरूप उनकी गिरफ्तारी के बाद आम हड़ताल हुई। चिदंबरम् पिल्लै ने तूतीकोरन कोरल मिल में हड़ताल कराई।

लेकिन संघर्ष में आहुति बनने की जिम्मेदारी देश के युवा वर्ग पर पडी। संध्या, जुगांतर, केसरी और पंजाबी जैसे क्रांतिकारी समाचारपत्रों से प्रेरणा पाकर वे मैदान में कूद पड़े। छात्रो, क्लर्को और शिक्षकों के लगाव में निराशा का एक तत्व था। उन्होंने बंगाल के हर नगर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक गिरोह बनाया। पीली पगड़ी और लाल कमीज पहने, वंदे मातरम् के नारे लगाते और राष्ट्रीय गीत गाते हुए वे हजारों की संख्या में सरकारी स्कूलों, कालेजों और दफ्तरों से बाहर निकल आये। दूकानों पर धरने देते रहे, स्वदेशी वस्तुएं बेचते रहे। जिन स्कूल-कालेजों के छात्रों ने आंदोलन में सक्रिय हिस्सा लिया उनको मिलने वाला अनुदान बंद हुआ और विश्वविद्यालय की मान्यता खत्म कर दी गयी। उन संस्थानों के छात्रों को वजीफे और सरकार में नौकरी पाने के लिए अयोग्य करार दिया गया। आसाम और बंगाल में आतंक का राज्य था। लड़कों को जुर्माने किये गये। उन्हें निष्कासित किया गया, उन्हें बुरी तरह पीटा गया। कलकत्ता के प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट किंग्सफोर्ड ने चौदह साल के एक मासूम बच्चे को कोड़े लगाने का आदेश दिया। दूर दराज की अमरावती और कोल्हापुर जैसी जगहों में भी लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया गया। दमन ने क्रोध को जन्म दिया और क्रोध के कारण लोगों ने आतंकवादी गतिविधियों में सक्रिय ढंग से हिस्सा लिया।

शुरू में मुसलमानों ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। पहली बार परदे से बाहर निकलकर औरतें जुलूसों और धरनों में शामिल हुईं। प्रारंभ में जिन लोगों ने बहिष्कार का सुझाव दिया था उनमें पटना के लियाकत हुसैन भी थे। उन्होंने ईस्ट इंडियन रेलवे में हड़ताल कराई थी। उनकी उर्दू की उत्तेजक प्रचार पुस्तिकाओं ने मुसलमानों की भावना को उभारा था। अब्दुल रसूल ने बारिसाल सम्मेलन की अध्यक्षता की थी जिसे पुलिस ने लाठी चलाकर भंग कर दिया

था। जमींदार और वकील अब्दुल हलीम गजनवी ने स्वदेशी उद्योग खोला और ब्रितानी चमड़े की वस्तुओं के बहिष्कार आंदोलन का नेतृत्व किया। अबुल कलाम आजाद, अरविंद से मिले और क्रांतिकारी गतिविधियों को बंगाल के बाहर चलाने में मदद की। कुछ उग्रपंथियों ने उत्साह के अतिरेक में और हिंदू धर्म-प्रतीकों पर बल देकर बेवकूफी में मुसलमानों को अलग कर दिया लेकिन सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, अश्विनीकुमार दत्त और रवींद्रनाथ टैगोर जैसे नेताओं ने हिंदू-मुसलमान एकता पर बार बार बल दिया।

सरकार के दमन के तरीके ने, विशेष कर बारिसाल सम्मेलन मे प्रतिनिधियों पर निर्दयतापूर्वक किये गये आक्रमण ने, उग्रपंथियों के संघर्ष चलाने के संकल्प को और दृढ़ कर दिया। कलकत्ता कांग्रेस (1906) के अवसर पर दादाभाई नौरोजी ने उग्रपंथियों की भावनाओं की प्रशंसा करते हुए घोषणा की कि कांग्रेस का उद्देश्य "ब्रितानी राज्य या उपनिवेशों की तरह स्वराज प्राप्त करना" है। उग्रपंथियों ने स्वराज का अर्थ अपने ढंग से लगाया था। पंजाब के लाजपतराय और अजितसिंह के देश-निकाला और संध्या और वंदे मातरम् को देशद्रोही (?) रचनाएं छापने के आरोप मे दंडित करने के साथ आंदोलन की रफ्तार तेज हो गयी। आग उगलने वाली संध्या के संपादक ब्रह्मबंधु उपाध्याय का मुकदमे की सुनवाई के दौरान देहांत हो गया। विपिनचंद्र पाल जेल में थे। लाजपतराय को छोड़ देने और सुधारों की बात करने के बावजूद लोगों की उत्तेजनापूर्ण मनस्थिति शांत नहीं हुई। कांग्रेस अधिवेशन पूना के बदले सूरत में करने, और अध्यक्ष पद के तिलक के दावे को अस्वीकृत करके रासबिहारी घोष का चुनाव करने के प्रश्न पर तिलक और अरविंद के क्रांति प्रिय गुट ने शक्ति आजमाइश का फैसला किया। बहिष्कार के प्रस्ताव को खत्म करने की नरमपंथियों की कोशिश ने आग में घी का काम किया। सूरत कांग्रेस का अधिवेशन अस्तव्यस्तता और अव्यवस्था में भंग हो गया। राष्ट्रवादी युद्ध के लिए तत्पर दो गुटों में बंट गये थे। इसने आंदोलन को कमजोर किया।

तिलक अभी भी जवाबी सहयोग के पक्ष में थे। लेकिन अरविंद ने रूस के आतंकवादी ढंग के आक्रामक प्रतिरोध का निश्चय किया। उनके निश्चय का अर्थ स्पष्ट हुआ मुजफ्फरपुर में बम आक्रमण और मानिकतल्ला में आतंकवादियों के गुप्त अड्डों का पता लगने के बाद। तिलक ने केसरी में उसके नैतिक समर्थन में लिखा, "यदि प्रशासन का रूसीकरण हुआ तो जनता निश्चय ही रूसी तरीके अपनायेगी।" उन्हें 6 वर्ष की 'देश निकाला' की सजा देकर मांडले भेज दिया गया। काल के संपादक परांजपे को 19 महीने की जेल हुई। बंगाल के 9 नेताओं को 'देश निकाला' की सजा मिली। मद्रास के चिदंबरम् पिल्लै और आंध्र के हरि सर्वोत्तम राव को जेल में बंद कर दिया गया। सरकार ने सभी समाचारपत्रों पर नियंत्रात्मक जांच लागू कर दी, सभाओं पर प्रतिबंध लग गये और क्रांतिकारी संगठनों के विरुद्ध उत्पीड़क कार्रवाइयां शुरू कीं। अरविंद के पांडिचेरी में पलायन और धर्म के लिए राजनीति और राष्ट्रीय आंदोलन का परित्याग करने के निर्णय के साथ इस खुले आंदोलन का अंत हो गया।

राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादियों ने एक शानदार अध्याय जोड़ा।

उन्होंने उसके उद्देश्यों को स्पष्ट किया। जनता को आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की सीख दी। आंदोलन में निम्न मध्यमवर्गीय लोगों, छात्रों, युवकों और स्त्रियों को शामिल करके उसके लिए एक सामाजिक आधार तैयार किया। राजनैतिक संगठन के नये तरीकों और राजनैतिक संघर्ष की नयी विधियों का सूत्रपात हुआ। इसी के साथ साथ कुछ पुरानी दुर्बलताएं भी चलती रहीं। आम जनता के बहुसंख्यक, मजदूर और किसान, राष्ट्रवादी राजनीति की मुख्य धारा से अभी भी बाहर थे। जन संघर्ष संगठित करने के प्रयत्न की वीरतापूर्ण बातें करने के बावजूद उस तरह के संघर्ष कुल मिलाकर गायब थे। अवज्ञा आंदोलन और असहयोग मात्र विचार थे। राजनीतिक सघर्ष के तरीकों को ढूंढ़ने का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। अभी भी देश एक प्रभावशाली राष्ट्रीय संगठन से वंचित था। पूंजीवाद की चौहद्दियों के पार भी नहीं पहुंचा जा सका था। तिलक तथा अन्य नेता अभी भी मानते थे कि सामाजिक और आर्थिक विकास पूंजीवादी रास्तों में सीमाबद्ध था। अंतिम बात यह कि जुझारू राष्ट्रवादियों ने प्रारंभिक दौर के र ाष्ट्रवादियों की तरह भारत को अनेक धर्मो, जातियों और क्षेत्रों का देश होने की संपूर्ण विशेषता का अनुभव नहीं किया। उनके युद्धोन्मुखी साम्राज्यवाद विरोध ने राष्ट्र को ठोस बनाने की दिशा में बड़ी छलांग लगाई लेकिन उसे जाति और हिंदू चरित्र से जोड़कर उन्होंने राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया को दुर्बल किया। इसी के कारण बाद के वर्षो में भयंकर सांप्रदायिकता पैदा हुई।

क्रांतिकारी आतंकवाद का उद्‌भव और विकास

राष्ट्रवादी आंदोलन की शक्ति और व्यापकता के बावजूद बंगाल के विभाजन को रद्द नहीं किया गया बल्कि उल्टे सरकार पहले से भी अधिक दमनकारी हो गयी। इन दोनों तथ्यो ने विद्रोही मनस्थिति वाले बेचैन युवकों के दिमाग पर तात्कालिक प्रभाव डाला। उग्रपंथी गुट के नेता तिलक ने बहुत पहले (बंगभंग आंदोलन से भी पहले) अपने युवक अनुयायियों के मन को इतना उत्तेजित कर दिया था जो उनसे निजी तौर पर आतंकवादी कार्य कराने के लिए काफी था। बहुत पहले यानी सन् 1897 में पूना के दामोदर और बालकृष्ण चिपलुणकर बंधुओं ने दो बदनाम अंग्रेज अफसरों की हत्या कर दी थी। बाद में अरविंद घोष ने कुछ क्रांतिकारी गतिविधियों की सचमुच योजना बनायी थी। बंगाल के विभाजन के बाद की घटनाओं ने बहुत से युवक भारतीयों की क्रांतिकारी भावना को उभार दिया। उन्होंने बम, पिस्तौल और आंतक के निजी कामों का रास्ता अपनाया। सविनय अवज्ञा और सवैधानिक आंदोलन पर से उनका विश्वास उठ गया। उन्होंने सोचा कि अंग्रेजों को निश्चय ही ताकत से पछाड़ना होगा। बारिसाल अधिवेशन को पुलिस द्वारा भंग कर दिये जाने के बाद क्रांतिकारियों के विश्वास को अभिव्यक्ति देते हुए 22 अप्रैल, 1906 को जुगांतर ने एक संपादकीय में लिखा : "निदान स्वयं जनता के पास है। दमन के अभिशाप को रोकने के लिए भारत में बसने वाले 30 करोड़ लोगों को अपने 60 करोड़ हाथ उठाने ही चाहिएं। निश्चय ही, ताकत को ताकत से ही रोकना होगा।"

बहरहाल, इन युवक आतंकवादियों ने ऐसी क्रांति को संगठित या आयोजित नहीं किया जो हिंसा पर आधारित हो और उसमें सारा देश और उसकी जनता शामिल हो। उन्होने आयरी आतंकवादियों और रूसी निषेधवादियों के चरण-चिन्हों पर चलना, और उन अधिकारियों की हत्या करना बेहतर समझा जो अपने भारत विरोधी रवैये या अपने दमनकारी कामों की वजह से बदनाम हो गये थे। विचार यह था कि शासकों के दिल में आतंक पैदा कर दिया जाये, जनता को राजनैतिक दृष्टि से उभारा जाये और अततः अंगेजों को भारत से खदेड़ दिया जाये। इसकी प्रकृति ही ऐसी थी कि योजना, संगठन, भरती और प्रशिक्षण गुप्त ढंग से करना था। कार्रवाइयां भूमिस्थ होनी थीं। बंगाल और महाराष्ट्र में खासतौर पर गुप्त समितियां बनायी गयीं। उनमें से कुछ ने भौतिक संस्कृति, क्लबों या सघों के भेष में काम किया। इनमें से ढाका की अनुशीलन समिति, कलकत्ता के जुगांतर और सावरकर बंधुओं द्वारा महाराष्ट्र मे गठित मित्रमेझा काफी विख्यात हुए। वी. डी. सावरकर के विदेश चले जाने के बाद उनके बड़े भाई गणेश ने **अभिनव भारत समाज** की स्थापना की। शीघ्र ही इसकी शाखाएं सारे पश्चिमी भारत में फैल गयीं।

क्रांतिकारी आतंकवाद की तरफ जनता का ध्यान गंभीरतापूर्वक तब गया, जब खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नाम के दो युवकों ने मुजफ्फरपुर के जिला जज की हत्या का प्रयत्न किया। बहरहाल, बम से दो निर्दोष महिलाओं की जानें गयीं। खुदीराम गिरफ्तार कर लिये गये। प्रफुल्ल ने समर्पण करने के बदले आत्महत्या कर ली। अलीपुर में अरविंद घोष, उनके भाई वारीन तथा अन्य लोगों पर षड्यंत्र के आरोप में मुकदमा चला। लेकिन जेल के अहाते में ही क्रांतिकारी आतंकवादियों द्वारा मुखबिर की हत्या कर दिये जाने से मुकदमे की सुनवाई में बाधा पैदा हो गयी थी। जांच करने वाले अधिकारियों और इस्तगासे की पैरवी करने वालों की भी एक एक करके हत्या कर दी गयी। अरविंद छूट गये थे लेकिन अगली पंक्ति के उनके चार साथियों को 'देश निकाला' देकर अंडमान भेज दिया गया। कई अन्य लोगों को जेल की लंबी सजाएं दी गयी। खुदीराम को फांसी दी गयी। मुखबिर की हत्या करने वाले सत्येन बसु और कन्हाई दत्त को फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया।

महाराष्ट्र में नासिक, बंबई और पूना बम उत्पादन के केंद्र बन गये। वायसराय की हत्या की कोशिश हुई। नासिक के जिलाधीश जैकसन को एक विदा समारोह में गोली मारी गयी। इस घटना के पहले एल. धींगरा ने इंडिया आफिस, लंदन के एक अधिकारी कर्जन बिली की हत्या अमानुषिक देश निकाला और भारतीय युवकों की फांसी के विरोध में की थी। उसे मृत्युदंड मिला। मृत्यु से पहले उसने लिखाः ''भारत को केवल यह सबक सीखने की जरूरत है कि कैसे मरा जाता है और इसको सिखाने का केवल एक ही तरीका है स्वयं मरना।''

मद्रास राज्य में विपिनचंद्र पाल के प्रभावपूर्ण भाषणों से लोग उत्तेजित हो गये। चिदंबरम् पिल्लै ने स्पष्ट रूप से पूर्ण स्वतंत्रता की बात कही। उनकी गिरफ्तारी के कारण तूतीकोरन और तिनेवेल्ली में भयंकर दंगे हुए जिसमें पुलिस ने आज्ञा न माने वाली भीड़ पर गोली चलायी। आशे (जिसने तिनेवेल्ली में गोली चलाने का आदेश दिया था) की भारतमाता संघ के वांची अय्यर ने हत्या कर दी। भागने में विफल होकर अय्यर ने खुद को गोली मार ली।

पंजाब का गुप्त संगठन बार बार के अकालों और लगान तथा सिंचाई में वृद्धि के कारण फला फूला। नहरी बस्तियों में रहने वालों को भय था कि उनकी मिल्कियत के अधिकारों को बाधित किया जायेगा। बेगार प्रथा ने आक्रोश को जन्म दिया। बंगाल की घटनाओं ने पंजाबियों को अतिरिक्त ढंग से उत्तेजित किया। सन् 1857 के विद्रोह की 50वीं जयंती नजदीक आ रही थी। भाषणों में बार बार सिख रेजीमेंट को विद्रोह करने का आह्वान किया जा रहा था। लाजपतराय के **पंजाबी** का मुकदमा शुरू होने के बाद यूरोपियों पर लाहौर में आक्रमण हुए और रावलपिंडी में दंगे भडके। अजितसिंह इस आंदोलन के मूल प्रेरणास्रोत थे और उन्हें आगा हैदर और सैयद हैदर रजा ने सहायता दी। लाजपतराय और अजितसिंह के 'देश निकाला' के बाद वातावरण कुछ समय तक शांत रहा।

रासबिहारी बोस (जो उन दिनों देहरादून में क्लर्क थे), बंगाल और पंजाब के बीच संपर्क के माध्यम बने। बंगाल में बना एक बम 23 दिसंबर, 1912 को लार्ड हार्डिग्ज पर तब फेंका गया था जब वह दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे। ऐसा यह साबित करने के लिए किया गया कि दमन और सुधार की नीति उनकी लिबर्टी नाम की प्रचुर पुस्तिकाओं, जुगांतर की पुस्तिकाओं के साथ क्रांतिकारी समाचारपत्रों की परंपरा को चलाती रहीं।

कुछ आतंकवादी क्रांतिकारी देश से बाहर गये और यूरोप में एक केंद्र की स्थापना की। उन्होंने या तो उन देशों से सहायता प्राप्त करने की योजना बनाई जिनके संबंध ब्रिटेन से मित्रतापूर्ण नहीं थे, या हथियार प्राप्त करके गुप्त रूप से अपने भारतीय मित्रों के पास भेजना चाहा। श्यामजी कृष्ण वर्मा, वी. डी. सावरकर और हरदयाल लंदन गये। यूरोप में मैडम कामा और अजितसिंह मुख्य थे।

आतंकवादियों ने स्वतंत्रता आंदोलन के इतिहास में एक रंगीन और प्रेरणादायक अध्याय जोड़ा। अपने खतरनाक कामों, साहसिक योजनाओं, नपी तुली क्रियाओं और मृत्यु के प्रति निस्संगता के कारण उन्होंने राष्ट्र की स्मृति में एक स्थायी जगह बना ली। लेकिन सारे आदर्शों और दुखों के बावजूद उनकी असफलता निश्चित थी। निजी स्तर पर किये गये हिंसा के कामों ने (भले ही वे कितने ही वीरोचित क्यों न रहे हों) जनता को संचालित नहीं किया। अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ साम्राज्यवाद उनसे आसानी से निपट सकता था। एक कड़ी में षड्यंत्र के बहुत से मुकदमों की कायमी, निर्मम सजाओं और सख्त कानून ने उनकी कमर तोड़ दी। समाचारपत्र (अपराध उत्तेजन) विधेयक, आपराधिक कानून संशोधन विधेयक, विस्फोटक सामग्री विधेयक और भारतीय प्रेस विधेयक हथियार के रूप में नौकरशाही के शस्त्रागार में जुड़ गये। दूसरे, अधिकतर समय में आतंकवादी बिना किसी केंद्रीय नेतृत्व और समान योजना के एक दूसरे का उद्देश्य काट देने वाले काम करते रहे। तीसरे, जनता के बीच में उनका आधार नहीं था। एक कारण और, गुप्त संगठन होने के नाते वे जनता को अपना विश्वासपात्र नहीं बना सकते थे। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि 'समितियों' में मध्यमवर्गीय शिक्षित भरे हुए थे जिनका किसानों-मजदूरों से कोई संपर्क नहीं था। नरमपंथियों ने खुले रूप में उन्हें

अस्वीकृत कर दिया और बहुत से उग्रपंथियों ने उन्हें अपनाने में अनिच्छा दिखायी।

लेकिन अपने आप में इतना पूर्ण त्याग बिल्कुल बेकार नहीं जाता। देश उन शहीदों को याद करता रहा क्योंकि 'उन्होंने हमारे पौरुष का स्वाभिमान वापस दिया।'

मोरले-मिंटो सुधार

कुछ समय के लिए युद्धोन्मुखी राष्ट्रवादियों और क्रांतिकारियों ने सरकार को विवश कर दिया कि वह समझौते के कदम उठाने पर विचार करे। दमन के कदम उठाने के साथ साथ सरकार ने मुस्लिम पृथकतावाद को प्रोत्साहित करने और संवैधानिक सुधारों के नाम पर नरमपंथियों और उग्रवादियों को अलग अलग कर देने का प्रयत्न किया। कर्जन के उत्तराधिकारी वायसराय मिंटो ने फूट डालो और राज करो का खेल खेलने का निश्चय कर लिया था। आगा खां के नेतृत्व में अक्तूबर, 1905 में मुसलमान नेताओं का एक प्रतिनिधिमंडल उनसे शिमला में मिला और उनसे सांप्रदायिक निर्वाचन मंडल और अपने वर्ग के लिए अधिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की आश्वासन प्राप्त कर लिया। अंत में जब सन् 1909 में मोरले-मिंटो सुधार आया तो उसकी शर्तों पर बहुत कम लोगों को संतोष हुआ।

हर प्रांत तथा गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में सदस्य के रूप में एक भारतीय की नियुक्ति होनी थी। शाही और प्रांतीय परिषदों की सदस्य संख्या में वृद्धि कर दी गयी लेकिन उनके चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। केंद्र में सरकारी बहुमत को कायम रखा गया जिसमें अधिकतम 60 सदस्यों में से केवल 27 का चुनाव एक सीमित निर्वाचन मंडल द्वारा किया जाना था। यद्यपि प्रांतीय विधानसभाओं मे गैरसरकारी सदस्यों का बहुमत था, मनोनीत सदस्य आमतौर पर निर्वाचित सदस्यों के विरुद्ध सरकार के पक्ष में मत देते थे। केंद्रीय विधायिका के लिए मुख्यतया तीन प्रकार के निर्वाचन मंडल थेः (1) सामान्य, जिसमें प्रांतीय विधान परिषदों के गैर सरकारी सदस्य थे, (2) वर्ग का, जैसे मुसलमान और भू-स्वामी और (3) विशिष्ट, जैसे विश्वविद्यालय और वाणिज्य संघ। प्रांतीय परिषदों में गैरसरकारी सदस्यों के बड़े भाग का चुनाव स्वायत्तशासी संस्थाओं के समूह, भू-स्वामियों, व्यापारियों और विश्वविद्यालयो द्वारा किया जाना था। मुसलमानों, भू-स्वामियो और यूरोपियो को आरक्षित स्थान मिले। स्त्रियों को मतदान का अधिकार नहीं था। गवर्नर या गवर्नर जनरल किसी भी व्यक्ति को राजनैतिक दृष्टि से अवांछनीय मानकर अलग कर सकते थे।

विधायिका के अधिकार सीमित थे। केवल वही सदस्य पूरक प्रश्न कर सकता था जिसने (मूल) प्रश्न किया हो। रियासतों और सेना जैसे सार्वजनिक हित के क्षेत्रों को बहस और प्रस्ताव की परिधि से निकाल दिया गया था। बजट के अलग अलग विषयों पर बहस और मतदान की अनुमति थी लेकिन समग्र बजट पर न मतदान किया जा सकता था, न प्रस्ताव रखा जा सकता था।

नरमपंथी समझौता करने के इच्छुक थे लेकिन जब मोरले ने कहा कि सुधार का मतलब कभी भी संसदीय ढंग की सरकार कायम करना नहीं है तब उन्होंने महसूस किया कि मोरले ने उनके साथ छल किया है। अयोग्य घोषित करने का ऐच्छिक अधिकार, समिति निर्वाचन, केंद्र में सरकार का बहुमत और प्रांतों में गैरसरकारी बहुमत का फरेब, बहस पर प्रतिबंध और बजट को प्रभावित करने के सीमित अधिकार से नरमपंथियों का भ्रम टूट गया। वे केवल एक प्रभावहीन प्रतिपक्षी की भूमिका अदा कर सकते थे। कांग्रेस ने एक दल की हैसियत से सांप्रदायिक निर्वाचन मंडल को अस्वीकृत कर दिया। नरमपंथी तरीकों पर से अधिसंख्य कांग्रेसियों का विश्वास उठ गया। उग्रपंथियों ने उन नरमपंथियों पर भयंकर राजनीतिक आक्रमण किये जिनका प्रभाव तेजी से घट रहा था। मुस्लिम पृथकतावाद को प्रोत्साहन मिलने की वजह से जाति, क्षेत्र और भाषा की संकीर्णता से मुक्त एक व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन संगठित करने का काम और मुश्किल हो गया। सुधारों का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रवादी नेताओं को विभाजित कर देना और भारतीयों की एकता की वृद्धि को रोकना था।

सन् 1911 में लार्ड हार्डिग्ज ने बंगाल के विभाजन को रद्द करके भारतीय जनमत को संतुष्ट करने की कोशिश की। बिहार और उड़ीसा को बंगाल से काटकर अलग कर दिया गया। आसाम को एक अलग प्रांत बना दिया गया। इसी के साथ साथ राजधानी दिल्ली ला दी गयी।

विभाजन के रद्द कर दिये जाने से बगाली भावना कुछ दूर तक संतुष्ट हुई लेकिन अशांति के मूल कारणों को दूर नहीं किया गया। प्रमाण के लिए सन् 1910 का प्रेस विधेयक या जुझारू राष्ट्रवादिता के विकास को रोकने के उद्देश्य से आपराधिक कानून संशोधन विधेयक (1908) के अंतर्गत गठित विशेष न्यायाधिकरण--इनका इस्तेमाल दमन के लिए किया जाता था।

सांप्रदायिकता का उद्भव और विकास

भारतीय राष्ट्रवादिता का जन्म और विकास 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के वर्षो में हुआ इस प्रारंभिक चरण में राजनीतिक चेतना की दृष्टि से मुसलमान पीछे थे। राष्ट्रीय भावनाओं का प्रसार मध्यम और निम्न मध्यमवर्ग के हिंदुओं और पारसियों में हुआ। लेकिन यह प्रसार उसी रूप में मुस्लिम संप्रदाय के उसी धरातल के सामाजिक वर्ग में नहीं हुआ।

अंग्रेजों के भारत में आने और धीरे धीरे यहां की जमीन पर अपनी सरकार कायम करने के पहले तक हिंदू और मुसलमान जनता में कुल मिलाकर कोई आपसी कड़वाहट या बैरभाव नहीं था। यद्यपि दोनों धर्मो में ऐसी कुछ प्रवृत्तियां थीं, जो एक दूसरे के लिए खलने वाली थीं। समाज का विभाजन वर्गो के आधार पर था। धनी थे और गरीब थे; शिक्षित थे और अनपढ़ थे; शासक थे और प्रजा थी। इन दोनों वर्गो और गुटों में हिंदू भी थे और मुसलमान भी। मुगल काल में भी ऐसा ही था। यहां तक कि सन् 1857 के विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों ने साथ साथ कंधे से कंधा मिला कर उस एकमात्र विदेशी सरकार से युद्ध किया जिसके हाथों

सारा भारत तकलीफ उठा रहा था। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ने अपना क्रोध उसी विदेशी शासन पर उतारा।

विद्रोह के दबा दिये जाने के बाद अंग्रेज खासतौर पर मुसलमानों के प्रति कठोर थे क्योंकि उन्होंने यह नतीजा निकाला था कि विद्रोह का नेतृत्व मुसलमानों ने किया था और वे ही इसके लिए पहले जिम्मेदार थे। अनुमान किया जाता है कि विद्रोह के दौरान और ठीक उसके बाद के दिनों में केवल दिल्ली में 27 हजार मुसलमानों को मौत की सजा दी गयी थी। बहुत साल तक अंग्रेज मुसलमानों को संदेह की निगाह से देखते रहे।

फिर भी, राष्ट्रीय आंदोलन के जन्म के साथ ब्रितानी दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। सन् 1870-80 के बीच दृष्टिकोण का यह परिवर्तन अधिक से अधिक स्पष्ट हुआ। यह परिवर्तन भी राजनीति से प्रेरित था। ठीक वैसे ही जैसे उन्होंने अन्य अनेक काम उसी राजनैतिक दृष्टि से या तो किये या करने की कोशिश की। यह एक प्रकार की चाल थी जिसे उन्होंने अपने हितों की रक्षा के लिए अपनाया था। राष्ट्रीय आदोलन के प्रचार और प्रसार के साथ एक खतरा पैदा हुआ कि उससे जनता संगठित होगी और साम्राज्य के सामने एक भयंकर समस्या उपस्थित हो जायेगी। एक संगठित जनता को बहुत दिनों तक गुलामी की जंजीरों में बांधे नहीं रखा जा सकता। अतः दमन और नियंत्रण के सख्त कदमों के अतिरिक्त, अंग्रेजों ने कोशिश की कि अगर सभव हो तो राष्ट्रीयता के ज्वार को पूरे तौर पर सुखा दिया जाये। उन्होंने फैसला किया कि जनता को असगठित रखने, उन्हे आपस में झगड़ने और प्रतिस्पर्द्धा करते रहने के लिए, वे सब कुछ करेंगे जो कर सकते थे। विभिन्न धर्मो के नाम पर लोगो को बांटने और भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने का निर्णय किया। उन्होंने मुसलमान अल्पसंख्यकों का पैरवीकार होने का दावा किया और मुसलमानों, जमींदारों, भू-स्वामियों और मध्यवर्ग के शिक्षितों को अपने पक्ष में लाने की कोशिश की। उन्होंने बंगाली आधिपत्य की बात करके प्रांतवादिता को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। भारतीय समाज के ढांचे का अपने हितों के लिए नाजायज फायदा उठाने के लिए उन्होंने ब्राह्मणों को गैरब्राह्मणों के और छोटी जाति को ऊंची जाति के विरुद्ध भड़काने की कोशिश की। अदालतों में हिंदी की जगह पर उर्दू लाने के आंदोलन में मदद देकर उन्होंने उत्तर प्रदेश और बिहार के हिंदू-मुसलमानों के बीच सामाजिक और सांप्रदायिक कड़वाहट को जन्म दिया। इस प्रकार भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों की उचित मांगों और उसकी जनतंत्रीकरण की समस्याओं का अपने हित में नाजायज फायदा उठाकर उन्होंने देश के लोगों में असंगति पैदा की। भारत की सामाजिक स्थिति काफी उलझी हुई थी। संस्कृति और समाज के बहुत से अंदरूनी प्रश्नों, सही और गलत, का बुरी तरह से घालमेल हो गया था और उन्हें सावधानीपूर्वक तथा धैर्य के साथ अलग करना था। विदेशी शासकों ने इस उलझाव का इस्तेमाल अपने उद्देश्यों के लिए किया।

मुसलमानी सांप्रदायिकता को उभारने में सैयद अहमद खां ने एक बड़ी भूमिका निभाई। शुरुआत उन्होंने एक महान शिक्षाविद और समाज सुधारक के रूप में की। उन्होंने कुरान की

शिक्षा को आधुनिक विचारों के आधार पर चलाने की कोशिश की और सेवा के मूल्य पर बल दिया। उनके इस दृष्टिकोण के कारण उनमें और कट्टरपंथी मुसलमान नेताओं मे तीखा मतभेद पैदा हुआ। इस दौर में सैयद अहमद हिंदुओं और मुसलमानों के नजदीकी सहयोग में विश्वास करते थे। अलीगढ़ में मोहमडन एंग्लो-ओरियेंटल कालेज की स्थापना के लिए उन्हें हिंदुओं और मुसलमानों दोनों से अनुदान प्राप्त हुआ। लेकिन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विकास के साथ उनके मन में मुसलमानों की स्थिति को लेकर भय पैदा हुआ। यह भय खासतौर से उन मुस्लिम जमींदारों की स्थिति को लेकर था जिन्होंने उन्हें समर्थन दिया था। अंग्रेजो ने भी परदे के पीछे से चाल चली। सैयद अहमद खां ने अब दावा किया कि हिंदू और मुसलमानों के हित न केवल भिन्न बल्कि अंतर्विरोधी थे। वह पूरी तौर पर (ब्रिटिश शासन के प्रति) वफादार हो गये और अब सन् 1885 में भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो उन्होंने उसका विरोध किया और ब्रितानी राज के प्रति अपनी वफादारी की कसम खाते हुए राजा शिवप्रसाद के साथ कांग्रेस की काट करने वाला एक आंदोलन संगठित किया। उन्होंने अपने अनुयायियो को बताया कि यदि अंग्रेज चले गये तो बहुसंख्यक हिंदुओं का राज होगा और वे अल्पमत मुसलमानों के प्रति ईमानदार नहीं होंगे। उन्होंने मुसलमानों को सलाह दी कि वे कांग्रेस में शामिल न हों, हालांकि बदरुद्दीन तैयबजी जैसे नेताओं ने मुसलमानों से कहा कि वे नये राष्ट्रीय संगठन में आयें।

सैयद अहमद खां जैसे मुसलमान नेताओं के विचार अवैज्ञानिक, युक्तिहीन और तथ्यो के विपरीत थे। यद्यपि हिंदू और मुसलमान अपने भिन्न धर्मो में विश्वास करते थे लेकिन उनके आर्थिक और राजनीतिक हित समान थे। यहां तक कि सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदू और मुसलमान, दोनों ही संप्रदायों की जनता और वर्गसमूह ने जिंदगी जीने का एक ही तरीका अपना लिया था। प्रमाण के लिए एक बंगाली हिंदू और बगाली मुसलमान में, एक बंगाली मुसलमान और एक पंजाबी मुसलमान की तुलना में, कहीं बहुत अधिक समानताएं थी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि शासकों ने हिंदू-मुसलमान दोनों का एक ही तरह से दमन और शोषण किया था। अहमद खां ने स्वयं सन् 1884 में कहा था :

> क्या तुम उसी धरती के वासी नहीं हो? क्या तुम उसी धरती पर जलाये या दफन नहीं किये जाते? क्या तुम उसी के मैदान पर पांव रख कर नहीं चलते; उसी धरती पर नहीं रहते? याद रखो कि हिंदू और मुसलमान शब्द धार्मिक पहचान के लिए है अन्यथा सभी मनुष्य, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान हों, यहां तक कि इस देश में रहने वाले ईसाई हों, इस विशेष अर्थ में एक हैं कि वे उसी एक राष्ट्र के हैं। तब विभिन्न संप्रदाय के लोगों को एक राष्ट्र कहा जा सकता है। उनमें एक एक को, सभी को देश के हित के लिए संगठित होना चाहिए जो समान रूप से सभी का है।

अतः यह जानने योग्य है कि कैसे मुसलमानों के एक बड़े वर्ग में सांप्रदायिक आधार पर सोचने का एक नया तरीका पैदा हुआ।

कुछ हद तक इसका कारण यह था कि मुसलमान शिक्षा, उद्योग और व्यापार में अपेक्षाकृत पिछड़े हुए थे। मुसलमानो का उच्चवर्ग अधिकतर जमींदारों और आभिजात्यों का था। चूंकि 19वीं शताब्दी के पहले 70 वर्षो के दौरान मुस्लिम उच्च वर्ग रूढ़िवादी और आधुनिक शिक्षा का विरोधी था, अतः देश में पढ़े-लिखे मुसलमानो की सख्या बहुत कम बनी रही। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान, जनतंत्र और राष्ट्रवादिता पर बल देने वाली आधुनिक पश्चिमी विचारधारा का मुस्लिम बुद्धिजीवियों में प्रसार नही हुआ और वे पिछड़े और परंपरावादी बने रहे। बाद में सैयद अहमद खां, नवाब अब्दुल लतीफ, बदरुद्दीन तैयबजी आदि लोगों के प्रयत्न से मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार हुआ। लेकिन हिंदुओं, पारसियों और ईसाइयों की तुलना में शिक्षा का अनुपात मुसलमानों में अत्यंत कम था। इसी के साथ मुसलमानों ने उद्योग और व्यापार के विकास में भी बहुत थोड़ा हिस्सा लिया। उद्योग-व्यापार क्षेत्र के थोड़े से पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने प्रतिक्रियावादी बड़े मुसलमान जमींदारो को मुसलमान जनता पर प्रभाव बनाये रखने मे मदद की। जैसा कि हमने पहले ही देखा, भू-स्वामियो और जमीदारों ने, चाहे वे हिदू रहे हो या मुसलमान, अपने निजी स्वार्थो के लिए ब्रितानी शासन को समर्थन दिया। लेकिन हिंदुओं मे, आधुनिक बुद्धिजीवियों और उभरते हुए व्यापारिक-औद्योगिक वर्ग ने जमीदारी के हाथ से नेतृत्व छीन लिया था। दुर्भाग्यवश मुसलमानो में स्थिति इसकी उल्टी थी।

शिक्षा के क्षेत्र को मुसलमानों के पिछड़ेपन का एक दूमरा नुकसानदेह नतीजा सामने आया क्योंकि सरकारी नौकरियो और दूसरे पेशो में घुसने के लिए आधुनिक शिक्षा अनिवार्य थी। इससे भी मुसलमान, गैर-मुसलमानों की तुलना मे पीछे रहे। अलावा इसके सन् 1858 के बाद सरकार ने जानबूझकर मुसलमानो के विरुद्ध भेदभाव का बर्ताव किया, क्योंकि इसमे उन्हें सन् 1857 के विद्रोह का अधिक जिम्मेदार ठहराया। जब मुसलमानों में अधिक शिक्षा का प्रसार हुआ तो कुछ शिक्षित मुसलमानों को व्यापार और देश में प्रवेश करने का अवसर मिला। उसने निश्चित रूप से सरकारी नौकरियों की ओर देखा। क्योंकि भारत एक पिछड़ा हुआ उपनिवेश था, अतः किसी हालत में यहां के लोगों के लिए नौकरियों के बहुत कम अवसर थे। ऐसी परिस्थितियों में अंग्रेज अधिकारियों और वफादार मुसलमान नेताओं के लिए शिक्षित मुसलमानों को शिक्षित हिंदुओं के विरुद्ध भड़काना आसान था। सैयद अहमद खां तथा दूसरे नेताओं ने सरकारी नौकरियों के मामले में मुसलमानों के साथ विशेष प्रकार का रियायती व्यवहार किये जाने की मांग की। उन्होंने घोषणा की कि यदि शिक्षित मुसलमान ब्रिटेन के प्रति वफादार बने रहे तो सरकार उन्हें नौकरियां और दूसरी तरह की विशेष कृपा देकर पुरस्कृत करेगी। कुछ वफादार हिंदुओं और पारसियों ने भी इसी ढंग की कोशिश की लेकिन उनकी संख्या बहुत कम रही। नतीजा यह हुआ कि कुल मिलाकर जब देश मे स्वतंत्र राष्ट्रवादी वकील, पत्रकार, छात्र, व्यापारी और उद्योगपति राजनैतिक नेता बन रहे थे, मुसलमानों के वफादार जमींदार और अवकाश प्राप्त सरकारी अधिकारी ही राजनैतिक विचारधारा को प्रभावित कर रहे थे। बंबई महज एक ऐसा प्रांत था जहां पर मुसलमानों ने काफी पहले से शिक्षा और व्यापार को अपना लिया था।

वहां पर राष्ट्रवादी कांग्रेस में बदरुद्दीन तैयबजी, आर. एम. सयानी, ए. भीमजी और युवक बैरिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना जैसे तेज लोग थे। इसके अतिरिक्त बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब में भी आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने मुसलमानों में एक राष्ट्रवादी तबका पैदा किया जिसने वफादार मुसलमानों के नेतृत्व के एकाधिकार को तोड़ा। समस्या के इस पहलू को हम जवाहरलाल नेहरू की 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के इस उद्धरण द्वारा संक्षेप में रख सकते हैं।

> हिंदुओं और मुसलमानो के मध्यमवर्ग के विकास में एक पीढ़ी का बल्कि उससे भी अधिक का अंतर रहा है। वह अंतर राजनैतिक, आर्थिक तथा बहुत-सी दिशाओं में अभी भी दिखाई दे रहा है। यह कमी ही वह कारण है जो मुसलमानों में भय के मनोविज्ञान को पैदा करती है।

इस दौर में सांप्रदायिक ढंग के चिंतन के विकसित होने का एक और महत्वपूर्ण कारण था। भारतीय इतिहास को अंग्रेज इतिहासकारों ने एक विशेष व्यंग्यात्मक मोड़ देकर प्रस्तुत किया। बाद में, दुर्भाग्यवश उनके भारतीय प्रतिरूपों ने लेखन और शिक्षण में उन्हीं के चरण-चिन्हों का अनुसरण किया। इन नक्कू इतिहासकारों ने इतिहास की दिशा ही इस ढंग से दी जिसने सांप्रदायिक भावनाओं को उभारा और सहारा दिया। प्रमाण के लिए प्राचीन काल को हिंदू काल और मध्यकाल को मुस्लिम काल के नाम से पुकारा गया। मध्यकाल में तुर्क, अफगान और मुगल वंश ने राज्य किया था। उनके शासन के गुण और चरित्र की व्याख्या करने के बजाय सभी को एक साथ मुसलमान मान लिया गया और उस काल को मुस्लिम काल कहा गया। मुस्लिम काल की बात करने का अर्थ था कि शासक सभी मुसलमान थे और प्रजा सारी हिंदू। वस्तुतया तथ्य यह था कि शासक, अमीर, सरकार और जमींदार, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, हिंदू मुसलमान दोनों ही वर्गो की जनता के साथ एक ही तरह का ऐसा घृणित और अपमानजनक बर्ताव करते थे, गोया वे एक हीनतर जीव हों और उसका इस्तेमाल उनके (शासकों) लाभ के लिए किया जाना हो। मुसलमान जनता भी करों के कारण उतनी ही दमित और गरीब थी जितनी हिंदू जनता। इन इतिहासकारों ने यह महसूस नहीं किया कि प्राचीन और मध्ययुग में भारत में राजनीति का वही स्वरूप था जैसा अन्य जगहों में। उसने शासकों के राजनैतिक और आर्थिक हितों के लिए अपेक्षित अनुदेशों का अनुसरण किया। उसमें मुश्किल से किसी धार्मिक विचारणा को जगह दी। निस्संदेह, शासकों और उनके विद्रोहियों, दोनो ने जनता को गुमराह करने के लिए धर्म के बाहरी रूप का प्रायः इस्तेमाल किया और अपने वास्तविक भौतिक हितों और आकांक्षाओं पर मुखौटा लगा दिया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे उद्देश्य अपने आप में धार्मिक या सांप्रदायिक थे। यह भी कि ब्रिटेन और भारत के सांप्रदायिक इतिहासकरों ने भारत की मिली जुली संस्कृति पर बल नहीं दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत का सांस्कृतिक स्वरूप बहुविध था लेकिन उसमें एक सिरे से दूसरे सिरे तक एकरूपता का एक धागा था। इसमें भी महत्वपूर्ण यह है कि विविधता वर्गो और क्षेत्रों के अनुसार थी, न कि धर्म के अनुसार।

हिंदू संस्कृति और मुस्लिम सस्कृति की विशिष्टता और अलगाव की भ्रामक अवधारणा को सामने लाकर इतिहास के शिक्षण ने विभाजक प्रवृत्तियां पैदा कीं। धार्मिक सुधार के आंदोलन का भी वैसा ही प्रभाव पड़ा। इन आंदोलनों की एक महत्त्वपूर्ण देन यह थी कि उन्होंने युक्तिहीन और अस्पष्ट चिंतन का विरोध किया, विवेकसम्मत और मानवीय विचारों का प्रसार किया, उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक विश्वास और आचार में समाये हुए भ्रष्ट तत्वों को निकाल फेंका और भारतीय जनता में तीव्रतर आत्मविश्वास की भावना जगाई। लेकिन उसी के साथ उनमे से बहुतों ने हिंदुओं, मुसलमानो, सिखों, पारसियों में फूट डालने का प्रयत्न किया। उन्होंने उच्च वर्ग के हिंदुओं को नीची जाति के हिंदुओं से अलग करने की भी कोशिश की। किसी भी बहुधर्मी देश का धर्म पर अत्यधिक बल देने का अनिवार्य परिणाम विभाजन ही होता है, उसके अलावा सुधारों ने एकपक्षीय ढंग से सांस्कृतिक उत्तराधिकार के धार्मिक और दार्शनिक पहलुओं पर बल दिया। ये पहलू देश के सभी लोगों के समान उत्तराधिकार नही थे। दूसरी तरफ कला, वास्तुकला, साहित्य, संगीत, विज्ञान और तकनीक जैसे विषयों पर बल नहीं दिया गया जबकि उनमें ही वर्ग के लोगो ने समान भूमिका निभाई थी। इसके साथ हिंदू सुधारवादियों ने अपने को निश्चित रूप से अतीत के गौरव गान तक सीमित कर लिया। यहां तक स्वामी विवेकानंद जैसे उदारमना व्यक्ति ने भी इस अर्थ मे भारतीय आत्मा या भारत के अतीत की उपलब्धियों की बात की। पूरी तरह बहुत से मुस्लिम सुधारवादियों ने अपनी परंपरा और गौरव के क्षणों की तलाश में निगाह पश्चिम एशिया पर डाली। इस प्रकार सुधारवादियों के कार्यकलापों ने दो भिन्न तरह के लोगों का विचार पैदा किया। अलावा इसके धार्मिक सुधार के आंदोलनों ने अपने को महज सुधार के पहलुओं तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने दूसरे धर्मो के विरुद्ध युद्ध की भी शुरुआत की और इस रूप में उन्होंने देश को 20वीं शताब्दी में सांप्रदायिकता के विकास में योग दिया।

राजनीति का सांप्रदायिक दृष्टिकोण अवैज्ञानिक और युक्तिहीन था लेकिन उसने उस भयवृत्ति का छलपूर्ण इस्तेमाल किया जिससे एक अल्पसंख्यक पीडित रहता है। ऐसी परिस्थिति में बहुसख्यक धर्म वालों की यह जिम्मेदारी होती है कि वे अपने रवैये और व्यवहार द्वारा अल्पसंख्यक वर्ग को यह विश्वास दिलायें कि उनकी संख्या का इस्तेमाल उसे आहत करने के लिए नहीं होगा। उन्हें अल्पसख्यक वर्ग के सदस्यों को केवल यही विश्वास नहीं दिलाना चाहिए कि उनका धर्म और उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताएं सुरक्षित रहेंगी बल्कि उन्हें यह भी महसूस करायें कि आर्थिक और राजनैतिक मसलों पर जो भी निर्णय किये जायेंगे उनका शुद्ध आधार धर्मनिरपेक्ष दृष्टि होगी और उन निर्णयों तक पहुंचने में धर्म का कोई लिहाज नहीं होगा। वास्तव में प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने ठीक यही किया था। उन्होंने राष्ट्र, अर्थस्थिति और राजनीति के समान हितों के आधार पर जनता को संगठित करने और उसे एक राष्ट्र में एकबद्ध करने की कोशिश की। उन्होंने आश्वासन दिया कि जनता के धार्मिक और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं होगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सन् 1889 में यहां तक स्वीकार किया कि ऐसा कोई प्रस्ताव अनुमोदित नहीं किया जायेगा जिसे मुस्लिम प्रतिनिधियों के बहुसंख्यक हानिकारक मानेंगे।

दूसरे शब्दों में, प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों ने जनता को यह सीख देकर कि राजनीति धर्म और संप्रदाय पर आधारित नहीं होनी चाहिए, उसके राजनैतिक दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया।

दुर्भाग्यवश, बाद के कुछ नेताओं ने धर्मनिरपेक्ष राजनीति के इस बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्धांत का सख्ती से पालन नहीं किया। जुझारू राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक बड़ी गति दी। वे जनता को शक्ति और उत्साह के साथ आगे लाये। लेकिन उनके कुछ कार्यो से सांप्रदायिकता का पुनः उभार हुआ। राष्ट्रीय एकता के विकास की दृष्टि से यह एक कदम पीछे लौटने जैसा था। उनके प्रचार और विज्ञापन जनता को उभारने में प्रभावकारी थे लेकिन उनमें पर्याप्त धार्मिक गंध थी। उन्होंने भारत की प्राचीन परंपरा पर बल दिया लेकिन उसमें मध्यकालीन भारतीय संस्कृति को शामिल नहीं किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति को (जिसे वे आर्यो का उत्तराधिकारी मानते थे) हिंदू धर्म और भारतीय राष्ट्र को हिंदुओ से पहचाने जाने की प्रवृत्ति दिखायी। प्रमाण के लिए शिवाजी और गणपति पर्व का तिलक द्वारा आयोजन, भारत को मां और राष्ट्रवादिता को धर्म मानने का अरविंद का अर्द्ध रहस्यवादी, अर्द्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण, आतंकवादियों का देवी काली के सामने शपथ ग्रहण, विभाजन विरोधी आंदोलन के मांगलिक उद्घाटन के लिए गंगा में शुद्धिस्नान आदि चीजें हर जगह सभी भारतीयों को पसंद नहीं आ सकती थीं। उनमें एक सशक्त धार्मिक और एक ऊंची जाति के हिंदू का पूर्वाग्रह था। धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण वाले साधारण भारतीय तक एक शुद्ध राजनैतिक आंदोलन के इर्द गिर्द जुटने वाले धार्मिक पूर्वरंगों को, जबकि पसंद नहीं भी कर सकते थे, तब निश्चय ही मुसलमानो और कुछ अन्य धर्मानुरागियों ने उस प्रतिमा और संस्कार को अपने विश्वास और संवेदनशीलता के विरुद्ध पाया। इसी तरह धर्म और अतीत काल की अंधी प्रशंसा नीची जाति के भारतीयों को स्वीकार्य नहीं थी क्योंकि वे शताब्दियों से उस विध्वंसक जातीय दमन से पीडित थे जिसका प्राचीन काल में विकास हुआ था। इसके अतिरिक्त, यदि एक ने शिवाजी और प्रताप को राष्ट्रीय नायक बनाने की कोशिश की तो कोई भी स्वतः यह अर्थ निकाल सकता था कि मुगल सम्राट राष्ट्रविरोधी थे। लेकिन तथ्य यह है कि औरंगजेब और अकबर भी उतने ही भारतीय थे जितने शिवाजी और प्रताप। इसके अलावा वे सभी शासक वर्ग से संबद्ध थे। उनके पारस्परिक संघर्ष को, उनके विशेष ऐतिहासिक ढांचे में, राजनैतिक संघर्ष की दृष्टि से देखा जाना चाहिए था। प्रताप और शिवाजी को राष्ट्रीय नायक और अकबर तथा औरंगजेब को 'विदेशियों' के रूप में देखने का अर्थ था बीते हुए इतिहास में सांप्रदायिक चिंतन ने उस वक्त के प्रचलित तरीकों को प्रक्षेपित करना। यह एक गंदा इतिहास और राष्ट्रीय एकता पर एक प्रहार, दोनों ही था।

सचमुच इसका यह अर्थ नहीं है कि जुझारू राष्ट्रवादी मुस्लिम विरोधी या कि मुख्यतया सांप्रदायिक दृष्टिकोण के थे। बल्कि, इसके विपरीत उनमें से बहुत से लोग, खासकर तिलक आद्यंत हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्षधर थे। उनमें से अधिकतर अपने विचारों में आधुनिक और प्रगतिशील थे। यहां तक कि व्यवहार में आतंकवादियों को अपनी तरह के यूरोपीय देशों के

उन आंतकवादियों से प्रेरणा मिली थी जो यह विश्वास करते थे कि आर्थिक परित्राण और राजनीतिक स्वतंत्रता केवल एक हिंसक क्रांति के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। लेकिन यह तथ्य तो अपनी जगह पर है ही कि युद्धोन्मुख राष्ट्रवादियों के राजनैतिक कार्यो और विचारों में एक निश्चित हिंदू रंगत थी। संभव है कि उनके अंतिम लक्ष्य धर्मनिरपेक्ष रहे हों लेकिन उनका बाहरी व्यवहार ऐसा नहीं था। अंग्रेजो और कांग्रेस समर्थक प्रचारकों ने इस तथ्य का चतुराई के लाभ उठाया। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़ी संख्या में शिक्षित मुसलमान या तो राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति द्वेषी हो गये या उन्होंने अपने को उससे एकदम अलग रखा। इस प्रकार वे एक पृथकतावादी दृष्टिकोण के शिकार हो गये। लेकिन इसके बावजूद बैरिस्टर अब्दुल रसूल और हसरत मोहानी जैसे प्रगतिशील मुसलमान बुद्धिजीवियों ने बड़ी सख्या मे स्वदेशी आंदोलन में हिस्सा लिया। मुहम्मद अली जिन्ना राष्ट्रीय कांग्रेस के युवक नेताओ में से एक थे।

एक गरीब और पिछड़े हुए देश मे (जिसे औपनिवेशिक शासन के अतर्गत तेजी के साथ पिछडेपन की ओर ले जाया जा रहा हो), शिक्षित वर्ग के लिए विशेष रूप से नौकरी के अवसर सीमित होते हैं। इसीलिए उस दौर में सीमित संख्या वाली नौकरियों के लिए कड़ा मुकाबला था। दूरदर्शी भारतीयों ने देश की राजनैतिक और आर्थिक उन्नति के लिए काम किया। लेकिन परिस्थिति का, निहित स्वार्थ वाले अंग्रेजों और भारतीयों दोनों ने, सांप्रदायिक, धार्मिक, जातीय और क्षेत्रीय भावना को उभारने मे नाजायज इस्तेमाल किया। हर वर्ग और गुट ने नौकरियों और अन्य जगहो (प्रतिनिधित्व की) मे आरक्षण की जोरदार आवाज उठायी। तंग दिमाग और अदूरदर्शी किस्म के हिंदुओ और मुसलमानो ने अपनी अपनी राष्ट्रीयता की बात इस तरह करनी शुरू की गोया राष्ट्रीयता का विभाजन किया जा सकता था, या उसके बहुत से जातीय रूप थे, और बिना साम्राज्यवाद और निहित स्वार्थ वालों से संघर्ष किये ही आर्थिक कल्याण के कामो में अभिवृद्धि की जा सकती थी।

सांप्रदायिकता के सिद्धात को एक चौखटे में ठोस स्वरूप सन् 1906 में तब दिया गया जब आगा खा और ढाका के नवाब सलीमुल्लाह मोहसिनुल-मुल्क के नेतृत्व में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इस तरह का प्रतिगामी कदम उठाने की जिम्मेदारी शिक्षित मुसलमानों के एक स्वार्थी वर्ग, निहित स्वार्थो वाले प्रतिक्रियावादियों, मुसलमान जमींदारों और उसके उच्च वर्ग की थी। लीग ने बंगाल के विभाजन का समर्थन किया और विशेष सुरक्षाओं और अलग से निर्वाचन मंडल की मांग की। अंग्रेज ऐसे अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने इसका पूरा फायदा उठाया और घोषणा की कि मुसलमानों के 'विशेष हितों' को सुरक्षित किया जायेगा। लीग ने वफादारी के साथ कांग्रेस की हर राष्ट्रीय जनतांत्रिक मांग का विरोध शुरू किया। बंगाल में वफादार लीगी नेता बड़े जमींदार थे और वे क्योंकि बंगाली नहीं थे, अतः वहां के लिए बाहरी थे। इसका परिणाम यह था कि बंगाली मुसलमानों की भावनाओं के लिए उनके मन में बहुत कम सहानुभूति थी।

लीग का शुरू से ही दावा था कि मुसलमानो के हित शेष राष्ट्र के हितों से भिन्न और विरुद्ध थे। लेकिन उसके इस दावे की मूलभूत असत्यता आधुनिक विचार वाले शिक्षित, युवा मुसलमानों के एक बड़े वर्ग पर स्पष्ट थी। वे क्रांतिप्रिय राष्ट्रवादी विचारधारा से आकर्षित थे। उन्होंने लीग में इस कथन को अस्वीकृत कर दिया कि वह सारे मुसलमानों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है। अहरार आंदोलन इसी वक्त के आसपास मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमलखां और मजहरुल हक जैसे नेताओं द्वारा शुरू किया गया था। वह जुझारू भी था और राष्ट्रवादी भी। इसी तरह परंपरागत मुसलमान विद्वानों के एक वर्ग ने देशभक्ति की भावना जगाई और सांप्रदायिक चिंतन के तरीकों को तिलांजलि देकर राष्ट्रवादी राजनीति में हिस्सा लिया। उनमें सबसे महत्वपूर्ण थे मौलाना अबुल कलाम आजाद।

इस श‌ताब्दी के दूसरे दशक के शुरू के कुछ वर्षो में तुर्की को पहले इटली से और बाद मे वालकन शक्तियों से युद्ध करना पड़ा। उस समय तुर्की सबसे अधिक ताकतवर मुस्लिम शक्ति था। मुसलमानों के अधिसंख्य तीर्थस्थल उसके साम्राज्य में थे। सन् 1857 तक भारतीय भुसलमानों ने राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियो से मुगल सम्राट को अपने इमाम या गुरु के रूप में स्वीकार किया था। मुगल सम्राट के सत्ताहीन होने और तुर्की साम्राज्य पर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव के बाद ब्रिटेन ने तुर्की की सुरक्षा का फैसला किया ॑गैर इस रूप मे मुसलमानों के पैरवीकार रूप को उभारना चाहा। अतः उसने इस्लामी बधुत्व के आंदोलन को प्रोत्साहन दिया। इसका अर्थ यह था कि उसने तुर्की के मुलतान को सारे मुसलमानों का खलीफा होने की स्वीकृति दी। तुर्की शासक या खलीफा को सभी मुसलमानों का धर्मगुरु माना जाता था। जब तुर्की की सुरक्षा और कल्याण के सामने खतरा पैदा हुआ तो भारतीय मुसलमानों ने उस पर तीखी प्रतिक्रिया की। मुसलमानों में अंग्रेज विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी भावना तेजी से उभरी। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि भारत के क्रांतिप्रिय युवा मुसलमान राष्ट्रवादी धारा में शामिल हो गये जो खुद भी साम्राज्यवाद विरोधी था। सन् 1912 और 1924 के बीच के कई वर्षो में राष्ट्रवादी युवा मुसलमानों ने वफादार मुस्लिमलीगियों का प्रभाव एकदम खत्म कर दिया था।

लेकिन इस तरह के विकासों का एक नकारात्मक पक्ष था। खिलाफत के प्रश्न को लेकर चलने वाले वाले आंदोलन ने शिक्षित, जुझारू, युवा मुसलमानों के चिंतन को गलत मोड़ दे दिया। बजाय इसके कि वे साम्राज्यवाद का विरोध इस आधार पर करते कि उसने जनता के आर्थिक और राजनीतिक हितों को कमजोर बनाया, उन्होंने विरोध इसलिए किया क्योंकि खिलाफत और तुर्की साम्राज्य के अंतर्गत स्थित तीर्थस्थलों के सामने खतरा पैदा हो गया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन मिथकों, सांस्कृतिक परंपराओं और नायकों के नाम पर आग्रह किये, उनका संबंध भारत के प्राचीन या मध्यकालीन इतिहास से न होकर पश्चिमी एशिया के इतिहास से था। इस प्रकार उनके राजनैतिक आग्रह का आधार भी धार्मिक भावनाएं थीं। आगे चलकर यह दृष्टिकोण भी राष्ट्रवादिता के विकास में क्षतिकारक सिद्ध हुआ क्योंकि इसके

आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों पर मुसलमान जनता में वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का विकास नहीं किया।

हालांकि इस दौर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विरोध करने के लिए किसी साप्रदायिक हिंदू संगठन या आंदोलन का जन्म नहीं हुआ लेकिन व्यापक पैमाने पर हिंदू सांप्रदायिकता का फैलना शुरू हो गया। किसी सांप्रदायिक हिंदू संगठन के स्वतंत्र रूप से स्थापित न होने का एक कारण यह था कि व्यापक राष्ट्रवादी प्रवृत्ति के भीतर ही हिंदू सांप्रदायिक प्रवृत्ति को जगह मिल गयी, जबकि मुस्लिम सांप्रदायिक प्रवृत्ति को राष्ट्रवादी धारा के बाहर काम करना पड़ा। कुछ नेताओं ने हिंदू राष्ट्रीयता की, मुसलमानों को 'विदेशी' कहने की और यहां तक कि हिंदुओं के हितों की रक्षा करने के लिए नौकरियों और विधायिका की जगहों पर हिंदुओं की हिस्सेदारी के बारे में बात करना शुरू कर दिया था। इस प्रकार हिंदू और मुसलमान सांप्रदायिकता को विकसित करने की एक दूसरे ने सामग्री उपस्थित की।

प्रथम विश्वयुद्ध के वर्ष

ब्रितानी महाशक्ति द्वारा सन् 1914 में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा से भारत स्वतः उसकी परिधि में आ गया। युद्ध की घोषणा या मूलत. ब्रितानी साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए युद्ध में भारतीय जनशक्ति और साधनों के इस्तेमाल करने के सरकारी निर्णय के पूर्व भारतीयों से सलाह नहीं ली गयी थी। यद्यपि (युद्ध में) भारत का अवदान स्वैच्छिक नही था, पर काफी बड़ा था। फ्रांस से लेकन चीन तक के विभिन्न युद्ध मोर्चो पर 10 लाख से अधिक भारतीय भेजे गये। उनमें से 10 प्रतिशत मौत के शिकार हुए। युद्ध पर कुल 12 करोड़ 10 लाख पौंड से अधिक खर्च हुआ। भारत के राष्ट्रीय ऋण में 30 प्रतिशत की वृद्धि हो गयी और उसके एक बड़े भाग के भुगतान के लिए जनता को मजबूर किया गया।

प्रारंभिक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया

प्रारंभ में भारतीय नेताओं ने ब्रिटेन के लिए सहानुभूति और समर्थन की घोषणा की। लेकिन बावजूद इसके यह सोचना गलत होगा कि जनता में सचमुच ब्रिटेन का पक्ष लेने की भावना थी। नरमपंथी और उग्रपंथी दोनों ही वर्गो के नेताओं ने जर्मनी की जीत का समाचार सुनकर संतोष का अनुभव किया। कांग्रेस ने इस तथ्य को गुप्त नहीं रखा कि भारतीय वफादारी के पुरस्कार के रूप में राजनीतिक सुधार की मांगों की पूर्ति होनी चाहिए। गांधीजी ने भर्ती में सक्रिय सहायता इस दृष्टि से की ताकि साम्राज्य के कूटनीतिज्ञों की सहायता से स्वराज पाने की योग्यता प्राप्त हो जाये। सन् 1918 में उन्हें कहना पड़ा "भारतीयों का स्वप्न है स्वराज। उसे साकार

करने से कम किसी चीज से उन्हें संतोष नहीं होगा और वह भी जितना संभव हो कम से कम समय में।"

लेकिन युद्ध के ऊंचे लगने वाले उद्देश्यों के मित्र राष्ट्रों के दावे से बहुत से लोग भ्रम के शिकार हुए। लायड जार्ज ने कहा, "मित्र देश अन्य किसी चीज के लिए नहीं सिर्फ स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे है।" लगा कि राष्ट्रपति विलसन के 14 सूत्र इन्हीं आदर्श विचारों को सशक्त कर रहे हैं। अतः आश्चर्य नहीं कि अधिसंख्य भारतीय युद्ध का वास्तविक चरित्र देख पाने में असफल रहे। उस युद्ध का चरित्र था एक संघर्ष जो साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा उपनिवेशों और बाजारों के लिए चलाया गया। प्रारंभिक उत्साह इस संकेत के अभाव में मद्धिम पड़ गया कि भारतीय सहयोग को सुधारों के जरिये मान्यता दी जायेगी। सुरेंद्रनाथ बैनर्जी ने भविष्यवाणी की कि सुधारों की घोषणा में सरकारी विलंब नरमपंथियों के प्रभाव को समाप्तप्राय कर देगा।

उग्रपंथियों और नरमपंथियों को साथ लाने में दो चीजों ने काम किया। फीरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले का देहावसान तथा तिलक की मांडले से वापसी। श्रीमती एनी बेसेंट के सुझाव पर बंबई कांग्रेस (1915) ने उग्रपंथियों के लिए दरवाजा सही मायनों में खोल दिया। भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा, सामाजिक और शैक्षिक योजनाओं के प्रति निष्ठा और राष्ट्रकुल के अंतर्गत पूर्ण स्वराज की अपनी प्रतिबद्धता के कारण वह उस समय तक एक महत्वपूर्ण राजनैतिक नेता बन गयी थी। आयरलैंड के विद्रोह से प्रेरणा लेकर उन्होने सितंबर, 1916 में 'होम रूल लीग' की स्थापना की। थियोसोफिकल सोसायटी के साधनों और आयरी राष्ट्रवादियों के तरीकों का इस्तेमाल करके उन्होंने थोड़े ही दिनों में पूरे देश में लीग की शाखाएं स्थापित कर दीं। तिलक अपनी होम रूल लीग के साथ उसमें शामिल हो गये। उनके सहज भाषणों और तेज चोट करने वाले लेखों ने एक बार फिर देशभक्ति, निर्भयता और त्याग पर बल दिया। उन्होंने अपनी गतिविधियों को महाराष्ट्र और मध्यप्रांत तक सीमित रखा, लेकिन अपने योग्य अनुयायियों की सहायता से श्रीमती बेसेंट ने देश के शेष भाग में आंदोलन को संगठित किया। युद्ध के परिणामस्वरूप कर बढ़ गये, कीमतें बढ़ गयीं। और गरीब वर्ग की तकलीफें भी। वे होम रूल की अपील से प्रभावित हुए। ऐसा ही बड़ी संख्या में स्त्रियों ने भी किया।

क्रांतिकारी आंदोलन देश में और देश के बाहर

एक ओर युद्ध से पैदा हुई उत्तेजना इस रूप में कांग्रेस की शक्ति का पुनर्वर्द्धन कर रही थी, और दूसरी ओर क्रांतिकारियों ने जर्मनी की सहायता से परिस्थिति का लाभ उठाने का फैसला किया। सरकार के दमनकारी कदमों के कारण वे अस्तव्यस्त हो गये थे, लेकिन सन् 1912 से उन्होंने दूसरी बार की शक्ति आजमाइश के लिए अपने को पुनर्संगठित करना शुरू किया। देश के बाहर के भारतीय क्रांतिकारियों ने स्वतंत्रता के हमारे संघर्ष में एक नया आयाम जोड़ा।

वे सिर्फ व्यक्ति नहीं थे जिन्होंने जेल या मृत्यु से डरकर विदेशों में पलायन कर लिया था। उनमें से अधिकतर को केंद्र संगठित करने की योजना के साथ भेजा गया था। आशय था भारतीय मसले का संभावित प्रचार और अस्त्र तथा धन का एकत्रण ताकि यहां पर क्रांति को विस्तृत किया जा सके। उन्होंने भारतीय छात्रों, व्यापारियों और प्रवासी मजदूरों में से नये लोगों की भर्ती की। वे जहां भी गये, वहां के प्रगतिशील और समाजवादी आंदोलनों का समर्थन प्राप्त किया। युद्ध छिड़ जाने के बाद वे विदेशों में नियुक्त भारतीय सेना की टुकड़ियों, युद्धबंदियों, ब्रितानी शासन के बैरियों से संपर्क स्थापित कर सकते थे। उन्होंने जर्मनी की सहायता से भारत के क्रांतिकारी संगठनों के लिए जवान, कोष और अस्त्र की आपूर्ति करने की योजना बनायी। उनका मतलब कभी भी जर्मनी के हाथों का औजार बनना नहीं था।

सावरकर की गिरफ्तारी और पलायन के उनके घातक प्रयत्न के बाद लंदन के क्रांतिकारी इधर उधर छितरा गये। वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय पेरिस चले गये और फिर वहां से जर्मनी। जर्मनी के विदेश कार्यालय की सहायता से बर्लिन में वहा के रहने वाले भारतीयों की एक समिति बनी, जो बाद में भारतीय स्वतंत्रता समिति के नाम से जानी गयी। वीरेंद्रनाथ उसके सचिव हुए। उसने बगदाद, इस्तांबूल, परशिया और काबुल में अपने प्रचारक मंडल भेजे जिसने भारतीय सेना की टुकड़ियों और भारतीय युद्धबंदियों के बीच काम किया। राजा महेंद्रप्रताप को मौलाना बरकतुल्लाह और मौलाना उबेदुल्लाह के साथ काबुल भेजा गया, जहां उन्होंने भारत की एक अस्थायी सरकार बनायी।

इसी बीच हरदयाल अमेरिका पहुंच गये, जहां तारकनाथ दास और मोहन सिंह ने पश्चिमी तट पर बसे भारतीयों प्रवासियों के बीच (जो अमेरिका के प्रवास संबंधी सख्त कानून से तंग थे) क्रांतिकारी संदेशों का प्रचार शुरू कर दिया था। उन्होंने एक पार्टी की स्थापना की और 1 नवंबर, 1913 से एक साप्ताहिक **गदर** प्रकाशित हुआ। पार्टी ने वही नाम अपना लिया। इसके कार्यक्रमों में सैनिकों के बीच कार्य, अधिकारियों की हत्या, क्रांतिकारी, साम्राज्यवाद विरोधी साहित्य का प्रकाशन और अस्त्र प्राप्ति शामिल थे। इसका मुख्य कार्यालय सैनफ्रांसिस्को में रहा। शाखाएं पूरे अमेरिकी तट और सुदूर पूर्व के देशों में स्थापित हुई। विचार यह था कि एक साथ सारे ब्रितानी उपनिवेशों में क्रांति की जाये। ब्रिटेन और जर्मनी के बीच युद्ध की स्थिति नजदीक थी और उसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी। गदर ने एक विज्ञापन प्रकाशित किया, "आवश्यकता है वीर सिपाहियों की। वेतन : मृत्यु। पुरस्कार : शहादत। पेंशन : स्वतंत्रता। युद्ध स्थल : भारत।"

कोमागाटामरू की घटना ने गदर पार्टी की गतिविधियों में सहायता पहुंचाई। वह एक जलयान था जिसे प्रवासियों को कनाडा पहुंचाने के लिए भाड़े पर लिया गया था, लेकिन उसके पहुंचने पर यात्रियों के दो महीने तक तंगी-तकलीफ और अनिश्चय में रहने के बाद लौटने को विवश होना पड़ा। अंततः कोमागाटामारू ने कलकत्ता बंदरगाह पर लंगर डाला तो यात्रियों ने उस रेलगाड़ी पर चढ़ने से इंकार कर दिया जसे सरकार ने उनके लिए आरक्षित किया था। परिणाम था एक

दंगा जिसमें 20 से लेकर 40 आदमी तक मारे गये और बहुत से घायल हुए। तोशामारु की भी यही हालत हुई। उस पर बैठे पंजाबी इस समाचार से उत्तेजित हुए। वे उजलतबाजी में भारत वापस आये और ब्रितानी शासन के खिलाफ एक प्रभावशाली सशस्त्र आंदोलन चलाने के लिए घटनाग्रस्त व्यक्तियों के साथ हो लिये। जर्मन हथियार पाने में असफल होकर उन्होंने बंगाली क्रांतिकारियों से संपर्क किया।

उनमें यतींद्रनाथ मुकर्जी, रासबिहारी बोस और नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य जैसे नये नेता सामने आ चुके थे। भारतीय सैनिकों को समझा बहकाकर सेना से निकालने, एक क्रम में पेशावर से लेकर चटगांव तक की पुलिस लाइनों और सरकारी खजानों पर आक्रमण करने और अंततः जमनी हथियारों से युद्ध की घोषणा योजना के मुख्य अंग थे। 21 फरवरी, 1915 का दिन विद्रोह के लिए निश्चित किया गया; लेकिन दुर्भाग्य कि विश्वासघात के कारण प्रयत्न असफल हो गया। षड्यंत्र के एक प्रमुख सदस्य वी. जी. पिंगले को मेरठ की केवेलरी लाइन में बम के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। सेना की विद्रोही रेजिमेंटों को विघटित कर दिया गया। बहुत से षड्यंत्रकारियों को या तो फांसी पर लटका दिया गया या कालापानी की सजा देकर अंडमान भेज दिया गया। रासबिहारी बोस जापान भाग गये।

यतीन मुकर्जी ने अधिक महत्वाकांक्षी योजनाओं के मोह में छिटपुट हत्या के कार्यक्रमों पर अमल नहीं किया। 'रोडा एंड कंपनी' को भेजे गये माउजर पिस्तौलों की ऐन मौके पर बहुत बड़ी संख्या में बरामदी हुई। जर्मन हथियारों की प्रतीक्षा करने वाले पांच बंगाली आतंकवादियों और सशस्त्र पुलिस की एक बटालियन के बीच सबसे अधिक याद की जाने वाली एक लड़ाई बड़ी वालान नदी के तट पर वालासोर में हुई। जिसमें एक खाई में से बहादुरी से लड़ते यतीन्द्रनाथ मारे गये।

युद्ध के दौरान क्रांतिकारी आंदोलन इसलिए असफल हो गया क्योंकि भारतीय नेताओं में पारस्परिक समन्वय का और भारतीय क्रांतिकारियों तथा बर्लिन समिति और गदर पार्टी में संपर्क का अभाव था। सरकार चूंकि शुरू से ही संदिग्ध थी, उसने अमेरिकी सरकार को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह जहाज से हथियार भेजे जाने के प्रयत्न को सफल न होने दे। जिस वक्त से अमरीका जर्मनी के युद्ध में मित्र देशों के साथ हो गया, वहां पर कोई भी गतिविधि असंभव हो गयी। सैनफ्रांसिस्को में गदर पार्टी के नेताओं पर मुकदमे चले जिसकी वजह से अमेरिका में रहकर और कोई भी क्रांतिकारी गतिविधि चलाने की संभावनाएं खत्म हो गयीं।

लखनऊ समझौता

परिस्थितियां जिस वक्त सरकार को चीजों को एक नये दृष्टिकोण से देखने को विवश कर रही थीं, सन् 1916 में कांग्रेस और लीग के बीच के समझौते ने एक रास्ता दिखाया। लखनऊ

कांग्रेस का अधिवेशन सन् 1908 के बाद का संयुक्त कांग्रेस का पहला अधिवेशन था। होम रूल आंदोलन ने उसमें युद्ध की चेतना भर दी थी। मौलाना आजाद, अंसारी और अजमलखां से एक सहमति हुई। अब तक सामंती तत्वों के नेतृत्व में रहने के कारण लीग अलीगढ़ वर्ग के राजनीतिक दृष्टिकोण की सीमाओं से बाहर आ गयी थी और उसका रुख भी अधिक सख्त हो गया था। आजाद के **अलहिलाल** और मुहम्मद अली के **कामरेड** का दमन और उसके तत्काल बाद दोनों नेताओं की नजरबंदी के कारण मुसलमान वर्ग के राष्ट्रवादी नेता कांग्रेस से सहयोग करने को तैयार हो गये। परिणाम था लखनऊ समझौता।

तिलक ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को साथ लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि वह महसूस करते थे कि बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती थी। एक संयुक्त राष्ट्रीय संगठन के मुकाबले में उग्रपंथियों की एक संस्था कम प्रभावकारी होगी। एकता प्राप्त करने की अपनी उत्सुकता में उन्होंने पृथक निर्वाचन मंडल और मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व देने के सिद्धांत तक को स्वीकार कर लिया। विधानसभाओं में विभिन्न प्रांतों के लिए मुसलमान सदस्यों की संख्या स्पष्टतया ब्यौरेवार निश्चित थी। शाही विधान परिषद में इसकी संख्या एक तिहाई होनी थी। यदि एक धर्म के तीन चौथाई सदस्य किसी कानून का विरोध करते हों तो उसे अमल में लाने के कदम नहीं उठाये जा सकते थे। प्रत्युत्तर में कांग्रेस और लीग ने संयुक्त रूप से भारतीय परिषद की समाप्ति, केंद्रीय और प्रांतीय विधान परिषद के 80 प्रतिशत सदस्यों के चुनाव, प्रांतीय मामलों में हस्तक्षेप न करने के वायदे तथा प्रतिरक्षा और विदेश नीति के अलावा केंद्रीय सरकार के अन्य सभी विभागों पर पूर्ण नियंत्रण की माग की। लखनऊ समझौता हिंदू-मुस्लिम एकता की दिशा में एक महत्वपूर्ण अगला कदम था। लेकिन, जैसा कि गांधीजी ने कहा, "वह शिक्षित और धनी हिंदुओं तथा शिक्षित और धनी मुसलमानों के बीच का एक समझौता था।" इसने हिंदू और मुसलमान जनता में लगाव की भावना नहीं पैदा की। वह अब भी हिंदुओं और मुसलमानों के हितों के भिन्न होने की धारणा पर बल देता रहा और इसलिए दोनों के ही अलग अलग राजनैतिक अस्तित्व की बात होती रही। इसका आधार ही वह खतरनाक और गलत धारणा थी कि हिंदू और मुसलमान दोनों के विभिन्न समुदाय हैं। यह धर्मनिरपेक्षता को विकसित करने में सहायक नहीं था। इसने भविष्य की सांप्रदायिकता के लिए दरवाजे खुले रखे। भारतीय एकता को मूलाधार मानकर किये गये समझौते का निश्चित परिणाम ही था, अधिक से अधिक रियायतें तब तक देते जाना जब तक कि पूरा ढांचा ही टूट न जाये।

बहरहाल, देश के दो बड़े राजनीतिक दलों की निश्चित संयुक्त मांग के कारण कुछ समय तक सरकार को विरोध की स्थिति से गुजरना पड़ा। अलावा इसके, उसे होम रूल लीग के आंदोलन का भी सामना करना पड़ा जिसने नयी पीढ़ी के नेताओं को आकर्षित किया था। देश में और देश के बाहर क्रांतिकारी आंदोलन चला रहे थे। उन्हें भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता था। सरकार ने एक बार फिर सुधारों की नीति और दमन का अपना दो चेहरों वाला

ऐबी मुखड़ा खोला। एक तरफ वायसराय चेम्सफोर्ड ने भारतीय मामलों के मंत्री से सुधारों की घोषणा करने का आग्रह किया और दूसरी तरफ गृह विभाग के सदस्य ने 'नयी बाढ़ को रोकने के लिए बांध खड़ा करने' की बात कही। होम रूल लीग को दबा दिया गया। एनी बेसेंट गिरफ्तार कर ली गयीं। कांग्रेस ने वायसराय से विरोध किया और श्रीमती बेसेंट को सन् 1917 की कलकत्ता कांग्रेस का अध्यक्ष चुना। यद्यपि कांग्रेस ने मद्रास के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन के सुझाव को ताक पर रख दिया था फिर भी, उसे स्वराज की मांग से पूरे तौर पर जोड़कर ही देखा गया। उसने जल्दी ही पूर्ण स्वतंत्रता देने और कांग्रेस लीग योजना को सुधारों का पहला चरम स्वीकार करने की मांग रखी।

सरकारी अनुक्रिया : दमन और सुधार के वायदे

20 अगस्त, 1917 को मंत्री मांटेगु ने संसद में सरकारी जवाब की घोषणा की। उन्होंने जिन कदमों का सुझाव दिया था उन पर एक तो बहुत देर से अमल किया गया और वह भी सीमित ढंग से। इसमें कोई शक नहीं कि मांटेगु ने पहली बार भारत में सुधार और एक जिम्मेदार सरकार की स्थापना के उद्देश्य की बात सामने रखी। लेकिन उसे धीरे धीरे आगे बढ़ाना था। उसे प्रशासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों की संख्या को निरंतर बढ़ाकर सावधानीपूर्वक प्रभावी करना था। स्वशासी संस्थानों को सतर्कतापूर्वक विकसित करना था। इसका मतलब था सुधार कार्यक्रमों को एक के बाद एक चरण में लागू करना, आगे बढ़ने के लिए हर बार के समय और तरीके का निश्चय करने के लिए ब्रितानी सरकार का न्यायाधीश होना। इसके अलावा, उसके (सरकार के) फैसलों को भारतीय सहयोग की मात्रा और चरित्र तथा अंग्रेजों के इस अनुमान पर आधारित होना था कि भारतीय अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह में कितने सक्षम हुए हैं। व्यवहार में प्रभावकारी अधिकारों का इस्तेमाल अंग्रेजों द्वारा उनके अपने हित में किया जाने वाला था। सुधार रोटी का मात्र एक टुकड़ा था जिसके जरिये नरमपंथी राष्ट्रवादी मत को संतुष्ट करना और उन्हें जुझारू राष्ट्रवादियों से अलग कर देना था।

सुधार के वायदे करने के साथ साथ, सरकार ने साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करने वाली शक्तियों का दमन करने की तैयारी की। आपराधिक कानून संशोधन विधेयक ने षड्यंत्र को अपराधी काम करार दिया और सरकार को अधिकार दे दिया कि वह विशेष न्यायाधिकरणों द्वारा मुकदमों की संक्षिप्त सुनवाई करा सके। लोगों को मात्र संदेह में अनिश्चित काल के लिए नजरबंद कर दिया गया और कैदियों के साथ क्रूरता का बर्ताव किया गया। राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने के लिए सुधारों के वायदे, राष्ट्रीय आंदोलन को भ्रामक रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न और जनता पर अपनी गिरफ्त को मजबूत बनाये रखने के लिए दमन का सहारा— साम्राज्यवाद को हर कीमत पर और हर तरीके का इस्तेमाल करके बनाये रखना ही था।

4

स्वराज के लिए संघर्ष : उबलता आक्रोश

युद्ध के वर्षों में भारतीय राष्ट्रवादिता को प्रौढ़ता मिली। आंदोलन को गति मिली और एक अर्थ में वह अधिक शक्तिशाली हुआ। ब्रितानी सरकार ने एक सीमा तक युद्ध में भारत के अवदान की प्रशंसा की थी और यह उम्मीद करने का कारण था कि उसे पूर्ण स्वतंत्रता भले न दी जाये, कुछ बड़े सुधार तो किये ही जायेंगे। राष्ट्रवादी नेता भी उम्मीद बांधे हुए थे लेकिन यदि उनकी आशाओं पर पानी फिरता तो वे पुनः संघर्ष के लिए तैयार थे।

आर्थिक मोर्चे पर भी दबी-दबी आशा थी। युद्ध के दौर में विदेशी आयात लगभग बंद हो गया था। लेकिन ब्रिटेन की युद्धकालीन आवश्यकताएं बढ़ गयी थीं। इनमें से कुछ की पूर्ति भारत में उत्पादन बढ़ाकर करनी थी। परिणामतया यहां का उद्योग और व्यापार कुछ हद तक संपन्न हुआ। उसकी वजह से भारत को एक अंदाजा हो गया था कि यदि अवसर और प्रोत्साहन मिले तो कितनी तरक्की हो सकती है। युद्ध ने भारतीय उद्योगपतियों को मुनाफे और खुशहाली का स्वाद चखा दिया था। सन् 1916 में एक औद्योगिक आयोग का गठन हुआ था और उसने सिफारिश की थी कि सरकार प्रगति के रथ को आगे बढ़ाने में सहायता करने की दृष्टि से औद्योगिक विकास में पहले से अधिक सक्रिय भूमिका निभाये और एक पर्याप्त प्रशासनिक मशीनरी का निर्माण करे। भारतीय पूंजीपति औद्योगिक नीति में एक बड़े परिवर्तन की राह देख रहे थे।

इन आशाओं और आकांक्षाओं के साथ साथ भय और संदेह भी थे। उत्पादित चीजों का मूल्य तेजी से बढ़ गया था, लेकिन कृषिजन्य पैदावार के मूल्य नहीं बढ़े थे। इस्पात और कपड़े की चीजों से अपार मुनाफा कमाया गया। भारतीयों के रोजगार की संभावनाओं में पहले से अधिक वृद्धि हुई, लेकिन वास्तव में ये लाभ जनता को नहीं मिले। मारिशस के भारतीय मंडल ने भारत में स्टोर्स खरीदने की दिशा में कुछ कदम उठाये। लेकिन भारतीय पूंजीपति इस स्थिति का पूरा फायदा इसलिए नहीं उठा सके क्योंकि भारत में मशीन बनाने के उद्योग कम थे। युद्धकालीन नियंत्रण और जहाजरानी के अभाव में निर्यात को क्षति पहुंची। उत्पादन भी युद्ध के अंत तक पहुंचते पहुंचते पिछड़ गया। कारखानों की बंदी और बेरोजगारी आई। दैनिक आवश्यकता की चीजों के दाम भी इस बीच बहुत बढ़ गये। सन् 1914 और 1920 के बीच में कलकत्ता में चीजों के थोक भाव में 100 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई। खाद्यान्नों की कीमत 93 प्रतिशत बढ़ गयी। दूसरे क्षेत्र में भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं थी। इन सबकी

वजह से आम जनता घोर विपत्ति में पड़ गयी। किसान लगान और कर के भारी बोझ से दबे कराहते रहे। भविष्य को लेकर आम चिंता थी। पूंजीपति सरकारी सहायता और सुरक्षा चाहते थे। क्या एक विजेता ब्रिटेन भारतीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकता पूरी करेगा?

युद्ध खत्म होने के तत्काल बाद ही आर्थिक स्थिति पहले से भी खराब हो गयी। पहले, चीजों के दाम तेजी से बढ़े। फिर, विदेशी वस्तुओं का आयात शुरू हुआ और बड़े पैमाने पर बाहरी पूंजी लगायी जाने लगी। आर्थिक गतिविधियां धीरे धीरे मंद होने लगीं। भारतीय उद्योग को न केवल भारी क्षति उठानी पड़ी बल्कि बंदी का भी सामना करना पड़ा।

राजनैतिक क्षेत्र में भी बड़ा मोहभंग हुआ। युद्ध के दिनों में एशिया और अफ्रीका के सभी देशों में राष्ट्रीयता को बड़ा उद्दीपन मिला था। जनसमर्थन पाने के लिए ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली और जापान सभी ने यह कहा था कि युद्ध जनतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा था। सभी ने वायदा किया था कि वे सभी देशों और जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करेंगे लेकिन युद्ध के बाद लगा कि वे उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिए तैयार नहीं है।

सन् 1919 की शांति-संधि ने राष्ट्रपति विल्सन के 'चौदह सूत्रों' और मित्र राष्ट्रों के युद्ध के उद्देश्यों को उजागर कर दिया। जर्मनीवासियों ने भारत के क्रांतिकारी आंदोलन को मदद देने की कोशिश की थी और उनके प्रति कुछ दूर तक भारत में सहानुभूति थी। लगा कि वेरासिलीज की संधि में प्रतिशोध के शासन की घोषणा है। पराजित शक्तियों के उपनिवेशों का विजेताओं में वितरण, मध्य यूरोपीय जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार की अस्वीकृति, क्षतिपूर्ति के लिए जर्मनी पर जबरन डाला गया बोझ और अंततः तुर्की साम्राज्य के साथ किये गये व्यवहार से भारतीय स्तंभित रह गये। युद्ध के दौरान लॉयड जॉर्ज द्वारा किये गये वायदों के नाम पर मित्र राष्ट्रों ने ओटोमान (तुर्की) साम्राज्य को खंडित कर देने का फैसला किया। मित्र राष्ट्रों के समर्थन से यूनानियों और इटलीवालों ने तुर्की में प्रवेश किया तो लगा कि वे खिलाफत और तुर्की साम्राज्य के विनाश के उद्घोषक हैं। खलीफा को मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग अपना गुरु मानता था। उन्होंने महसूस किया कि खलीफा की हैसियत का किसी भी रूप में दुर्बल होना साम्राज्यवादी आधिपत्य में रहने वाले देशों के मुसलमानों की स्थिति पर बुरा असर डालेगा। परिणाम था खिलाफत आंदोलन का जन्म।

जिस बीच होम रूल प्रदर्शन और खिलाफत आंदोलन के शुरू होने की वजह से भारत में सनसनी फैल रही थी, उसी बीच नवंबर, 1917 में जारशाही रूस में क्रांति हो गयी और वोलशेविकों ने दुनिया में पहले समाजवादी राज्य की स्थापना की। एक तरफ तो मित्र राष्ट्रों ने जो कुछ उपदेश दिया था, उसका उल्टा किया और दूसरी तरफ रूस ने एकतरफा ढंग से एशिया से अपने साम्राज्यवादी अधिकारों को छोड़ देने की घोषणा की। इसका बहुत अच्छा असर पड़ा। जारों के उपनिवेशों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया गया। एशियाई राष्ट्रीयता वालों को सोवियत संघ में समानता का दर्जा दिया गया। क्रांति ने इस तथ्य को रेखांकित कर दिया कि आम जनता में अपार बल और शक्ति है। उसने सफलतापूर्वक साम्राज्यवादी देशों

के हस्तक्षेप और गृहयुद्ध के तनावों का मुकाबला किया। इसने उपनिवेशों में रहने वाली हर जगह की जनता में जान डाली। दूर दराज के गावों में रहने वाले लोगों ने युद्ध से लौटे सैनिकों से इसके बारे में सुना। भूमि को भूमिहीनों में बांटने के लेनिन के फैसले ने शिक्षित वर्ग को आंदोलित किया। दिल्ली कांग्रेस ने न केवल भारत के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की बल्कि भारतीय जनता के अधिकारों की घोषणा किये जाने की मांग की।

सिनफेन दल द्वारा आयरी संघ की घोषणा से अतिरिक्त उद्दीपन मिला। ब्रिटेन के विरुद्ध माइकेल कॉलिंस के आयरी गुरिल्लों का दुस्साहसिक संघर्ष जारी था। उनके खिलाफ ब्रिटेन ने जो दमनकारी कदम उठाये थे उसने भारतीयों को रोलेट विधेयक की याद दिला दी। युद्ध के दौरान मिस्र में जागलुल पाशा के राष्ट्रवादी दल का व्यापक विकास हुआ था। सन् 1919 में जागलुल के देश निकाले के बाद भीषण विद्रोह हुआ जिसे ब्रितानी सेना ने अत्यंत बर्बरता से दबा दिया। मार्च, 1920 में मिस्र को स्वतंत्र करने की घोषणा हुई। लगभग इसी समय तुर्की के मुस्तफा कमाल पाशा मित्र राष्ट्रों के कब्जे के विरुद्ध युद्ध करने और एक अस्थायी सरकार बनाने की कोशिश कर रहे थे। जब मित्र राष्ट्रों ने जापान को शांतुंग को कब्जे में रखने की अनुमति दे दी तो चीन में हिंसक आक्रोश पैदा हुआ। शातुंग उस वक्त तक जर्मनी का अनुमोदित भूखंड था। 4 मई के आंदोलन मे (जिसमें बुद्धिजीवियों और छात्रों ने एक प्रमुख भूमिका निभाई थी) जापानी वस्तुओं के बहिष्कार का आयोजन हुआ। चीनियों ने वेरासिलीज की संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया।

एक ओर इन नयी शक्तियों ने नयी चुनौतियों के प्रादुर्भाव और जनता पर आधारित संघर्ष की शुरुआत को रेखाकित किया और दूसरी ओर सरकारी नीतियां लंगड़ी सिद्ध हुई। मांटेगु की 20 अगस्त, 1917 की घोषणा के बाद होम रूल के बंदियों को रिहा किया गया। सेना में राजपत्रित पदों की भर्ती पर लगा रंगभेद संबधी प्रतिबंध समाप्त हुआ और भारतीय मामलों के मंत्री स्वयं भारत आये। मांटेगु को नरमपंथियों को शांत करने में सफलता मिली लेकिन वह उग्रपंथियों को वश में करने में असफल रहे।

सुधार की वास्तविक योजना राष्ट्रवादियों की मांगों की तुलना में अत्यंत नगण्य थी। इसका मुख्य पक्ष द्वितंत्री सरकार--यानी राज्यों में एक तरह का दुहरा शासन था। शिक्षा और सफाई जैसे कम महत्व वाले विभागों की जिम्मेदारी प्रांतीय विधानसभाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों में से चुने गये मंत्रियों को सौंपी जाने वाली थी जबकि वित्त, पुलिस और सामान्य प्रशासन जैसे महत्वपूर्ण विभाग कार्यकारी परिषद के सदस्यों के लिए आरक्षित कर दिये गये। तात्पर्य यह कि इन विभागों का नियंत्रण नौकरशाहों के हाथ में था, जो सिर्फ भारत की ब्रितानी सरकार और उसकी संसद के प्रति जिम्मेदार थे। गवर्नर को कार्यपालिका के दोनों विभागों की अध्यक्षता करनी थी लेकिन हमेशा एक साथ नहीं। मंत्रियों को अपने अपने विषयों में विधान परिषद के प्रति जिम्मेदार होना था, लेकिन यह आवश्यक नहीं था कि गवर्नर उनकी सलाह माने ही। केंद्रीय सरकार का चरित्र, सिवाय इसके कि गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद में एक भारतीय

को शामिल कर लिया गया, पहले जैसा बना रहा। वह पहले की तरह संसद के प्रति जिम्मेदार रही। केंद्र में दो सदनों की विधायिका होनी थी। निचले सदन में निर्वाचित सदस्यों का और अवर सदन में सरकारी बहुमत होना था। प्रांतीय विधानमंडलों का विस्तार किया गया और व्यापक मतदान के आधार पर निर्वाचित बहुमत की मांग स्वीकार कर ली गयी। प्रांतों के कुछ वित्तीय और वैधानिक अधिकारों का हस्तानांतरण होने वाला था। बहरहाल, रहे सहे अधिकार भारत सरकार ने अपने पास रखे। पंजाब में सिखों के लिए अलग निर्वाचन मंडल की व्यवस्था हुई।

सुधारों का सबसे निराशाजनक पहलू यह था कि उनकी व्यवस्था के अंतर्गत विधानमंडल का गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारी परिषद पर न कोई नियंत्रण था, न ही उनके बारे में बोलने का अधिकार। इसके साथ साथ केंद्रीय सरकार को प्रांतों पर नियंत्रण रखने के सभी अधिकार प्राप्त थे। इन सबके अतिरिक्त मतदान भी इतना प्रतिबंधित था कि उसे मुश्किल से जनतांत्रिक कहा जा सकता था। प्रमाण के लिए सन् 1920 में निचले सदन के मतदाताओं की संख्या केवल 9,09,874 थी और अवर सदन की 17,364।

रपट का प्रकाशन (8 जुलाई, 1918) नरमपंथियों और उग्रपंथियों के बीच में संघर्ष का संकेत था; नरमपंथियों ने उसका स्वागत किया लेकिन तिलक ने उसे 'बिल्कुल अस्वीकारणीय' घोषित किया। अगस्त, 1918 में बंबई कांग्रेस की एक विशेष बैठक में उसे 'निराशापूर्ण और असंतोषजनक' कह कर प्रांतों के लिए लगभग पूर्ण स्वायत्तता, केंद्रीय सरकार को कुछ जिम्मेदारियां देने, और भारतवर्ष की वित्तीय स्वतंत्रता की मांग की गयी। नरमपंथियों की संख्या इस वक्त तक काफी कम हो गयी थी और नवंबर, 1918 तक आते आते उन्होंने अधिवेशन में शामिल होने से इंकार करके अलग बैठक करने का निश्चय किया। दूसरे वर्ष उन्होंने अपना एक अलग संगठन बनाया। नाम था नेशनल लिबरल फेडरेशन–राष्ट्रीय नरमपंथी संघ। अध्यक्ष हुए सुरेंद्रनाथ बैनर्जी। लेकिन अब वे देश की एक राजनैतिक शक्ति नहीं रह गये थे।

सुधारों को लेकर गांधीजी की आरंभिक प्रतिक्रिया अनुकूल थी। लेकिन रियायतें और दमन की नीति का अनुसरण करने वाली सरकार ने इसी वक्त राष्ट्रवादियों के सामने दमनकारी कानून का एक कड़वा घूंट पेश करके घातक भूल कर दी। सन् 1905 और 1918 के बीच की क्रांतिकारी गतिविधियों की जांच के लिए रोलेट समिति ने कुछ ऐसे निश्चित अधिकारों के लिए सिफारिश की थी जिनकी मदद से बिना मुकदमे की सुनवाई के स्वैच्छिक गिरफ्तारी, नजरबंदी और सरकार विरोधी गतिविधियों के संदेह में किसी के आने जाने पर प्रतिबंध लगाया जा सके। न्यायाधीशों को अधिकार दिया गया कि वे राजनैतिक मुकदमों की सुनवाई बिना जूरी के करें। उनके फैसले पर अपील संभव नहीं थी। ऐसे कागजातों का रखना भी दंडनीय अपराध हो गया जिनमें सरकार के विरुद्ध आरोप लगाये गये हों। प्रस्तावों ने गांधीजी की आंखें खोल दीं। उन्होंने कहा, "वे नागरिक सेवा के आघात करने वाले साधन हैं, हमारे गले पर अपनी गिरफ्त को मजबूत बनाये रखने के लिए। मेरे विचार से विधेयक हमारे लिए एक खुली चुनौती है।"

गांधीजी का उदय

महात्मा गांधी का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में प्रादुर्भाव अपने आप मे एक दिलचस्प कहानी है। भारतीयों के लिए दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने जो संघर्ष किया, वह सर्वविदित है। सत्याग्रह के उनके अनूठे तरीके के अच्छे परिणाम निकले थे। कांग्रेस के दिग्गजों ने उनके चरित्र और संगठन क्षमता के बारे में ऊंची धारणा बनायी थी। सन् 1915 तक, यानी जब तक वह भारत नहीं आये थे, उन्होंने कांग्रेसी क्षेत्र में आगे बढ़ कर कोई काम नहीं किया था और जनता के लिए अजनबी थे। जवाहरलाल नेहरू जैसे युवकों की दृष्टि में वह "अपरिचित, भिन्न और अराजनैतिक लगते थे।"

लेकिन यह अपरिचय एक वरदान था। उन्हें लेकर लोग भ्रम के शिकार इसलिए नहीं हुए कि वह नरमपंथी थे और कुछ दूर तक उग्रपंथी भी। उनकी सयमित आदतें, साधुवत सम्मोहन, अंग्रेजी की अपेक्षा भारतीय भाषाओं का प्रयोग और धार्मिक प्रवचन--इन सबका जनता पर असर पड़ा और उसने उन्हें अपने हृदय में बैठा लिया। गांधीजी ने अपनी जड़ें भारतीय जमीन में मजबूती के साथ गड़ाई और उसी से उन्होंने अपार शक्ति का संचय किया।

दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध संघर्ष के दौरान उन्होंने सत्याग्रह आंदोलन के दर्शन का विकास किया था। इसके दो प्रमुख तत्व थे—सत्य और अहिंसा की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा कि वह आत्मा की शक्ति या प्यार की शक्ति है जो सत्य और अहिंसा से जन्मी है। एक सत्याग्रही हर उस चीज के सामने झुकने से इंकार करेगा जो उसकी दृष्टि में गलत होगी। वह सारी उत्तेजनाओं के बीच शांत रहेगा। वह पाप का विरोध करेगा लेकिन पापी से घृणा नहीं करेगा। वह सत्य का प्रतिपादन करेगा, लेकिन विरोधी को आघात पहुंचाकर नहीं, वरन् स्वयं को पीड़ित करके। उन्हें उम्मीद थी कि ऐसा करके वह पापी की अंतरात्मा को जगायेगा। सफलता के लिए आवश्यक है कि सत्याग्रही भय, घृणा और असत्य से पूरे तौर पर मुक्त रहे। सविनय अवज्ञाकारियों से वह सहमत नहीं थे क्योंकि उन्होंने हिंसा का परित्याग किसी आवश्यकता के कारण नहीं बल्कि एक सिद्धांत के लिए किया था। उन्होंने कहा, "सविनय अवज्ञा कमजोरों का हथियार है जबकि सत्याग्रह बलवानों का।"

स्वदेशी उनका संकेत शब्द था। उन्होंने उसकी परिभाषा करते हुए कहा था कि 'स्वदेशी वह भावना है जो हमे दूर की चीजों को छोड़कर अपने आसपास की चीजों के इस्तेमाल और सेवा तक सीमित करती है,' अतः उन्होंने शारीरिक श्रम पर बल दिया जिसे उन्होंने रोटी के लिए मेहनत और चरखा कहा।

सत्याग्रह यदि अफ्रीका में सफल था तो क्यों नहीं उसकी आजमाइश भारत में की जाये? उन्होंने कहा, "मुझे कोई संदेह नहीं कि ब्रितानी सरकार एक शक्तिशाली सरकार है। लेकिन मुझे इसमें भी संदेह नहीं है कि सत्याग्रह सर्वोच्च दवा है।" उन्होंने उसका प्रयोग बिहार के चंपारण और गुजरात के अहमदाबाद और काहिरा में किया।

जबकि दूसरे राजनीतिज्ञ सुधारों पर बहस कर रहे थे, गांधीजी ने चपांरण (बिहार) के किसानों की पुकार सुनी और उनकी सहायता के लिए उठ खड़े हुए। तिनकटिया प्रणाली के अंतर्गत किसानों को अपनी जमीन के पंद्रह प्रतिशत क्षेत्र पर नील उगाने और उसे अंग्रेज बागवानों को उन्हीं द्वारा निश्चित कीमत पर बेचने की कानूनी विवशता थी। बागवान उनसे गैरकानूनी वसूली कर सकते थे, उनका दमन कर सकते थे। गांधीजी ने जेल की धमकियों के बावजूद किसानों की शिकायतों की विधिपूर्वक जांच की। उन्होंने वर्षों से पीड़ित किसानों की ऐसी अकाट्य गवाहियां पेश कीं कि सरकार को विवश होकर एक जांच आयोग की नियुक्ति करनी पड़ी। वह उसके एक सदस्य थे। नतीजा उस प्रणाली की समाप्ति से भी अधिक बड़ा निकला। शताब्दियों से निष्क्रियता में सोते हुए गांवों को जगा दिया गया था। राजेन्द्र प्रसाद, मजहरुलहक, महादेव देसाई और जे. बी. कृपलानी सरीखे युवक राष्ट्रवादियों ने चंपारण में उनके साथ काम किया था और न केवल उनके आदर्शवाद से वरन् उनके राजनैतिक गतिविधिया चलाने के गतिशील, निर्भय, वास्तविक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुए थे।

ऐसा ही एक अवसर गुजरात जिले में काहिरा नामक स्थान पर मिला। सन् 1918 में उस जिले में फसलें नष्ट हो गयी थीं लेकिन अधिकारियों ने लगान की पूरी वसूली करने की जिद पकड़ी। गांधीजी ने किसानों को सत्याग्रह करने के लिए संगठित किया। उन्होंने लगान देने से इंकार कर दिया, वे कोई भी परिणाम भुगतने को तैयार थे। यहां तक कि जो लोग लगान अदा कर सकते थे उन्होंने भी सिद्धांत के नाम पर सख्ती और कुर्की की सारी धमकियों के बावजूद उसका भुगतान करने से इंकार कर दिया। सरकार अंततः झुकने और किसानों से समझौता करने को विवश हुई। इस आंदोलन के दौर में इंदुलाल याज्ञिक गांधीजी के मुख्य नायब थे। अहमदाबाद के एक सफल और मनस्वी बैरिस्टर सरदार वल्लभभाई पटेल काहिरा के सत्याग्रह की सफलता से इतने प्रभावित हुए कि वह गांधीजी के एक अत्यंत प्रमुख और प्रभावशाली अनुयायी बन गये।

सन् 1918 में अहमदाबाद के मिल मजदूरों की ओर उनका ध्यान गया। उन्होंने उन मिल मालिकों के खिलाफ मजदूरों की हड़ताल का नेतृत्व किया जिन्होंने अधिक मजदूरी देने से इंकार कर दिया। मजदूरों का मनोबल पुनः जाग उठा। उपवास ने सारे देश का ध्यान इस तरह आकर्षित किया कि अहमदाबाद के मजदूर दृढ़ता के साथ संगठित हो गये। परिणाम के डर से घबराकर मिल मालिकों ने उपवास के चौथे ही दिन मांगें स्वीकार कर लीं और मजदूरी में 35 प्रतिशत की वृद्धि करने को राजी हो गये।

सत्याग्रह के इन आरंभिक प्रयोगों ने गांधीजी को आम जनता के अत्यंत निकट ला दिया। उसमें ग्रामीण क्षेत्रों के किसान भी थे और शहरी क्षेत्र के मजदूर भी। राष्ट्रीय आंदोलन को यह गांधीजी की एक महान देन थी। नेताओं में आर्थिक अंतर्दृष्टि थी। उन्होंने बड़ी मेहनत के साथ जनता की गरीबी और दुर्दशा के आंकड़े एकत्रित किये थे। उन्हें विश्वसनीय बनाया था। उसके लिए उन्होंने जो तर्क प्रस्तुत किये उनका कोई उत्तर नहीं था। लेकिन इस सबके बावजूद कुल

मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन शहरों के निम्न और मध्य वर्ग तथा शिक्षित लोगों का विषय था। सक्रिय नेतृत्व उन्हीं से निर्मित हुआ था, यद्यपि उन्होंने जनता के मसलों की वकालत की। गांधीजी के आने के साथ साथ जनता सहसा आंदोलन की सक्रिय भागीदार बन गयी। यह भी कि संभवतया गांधीजी ही एकमात्र नेता थे जिनका व्यक्तित्व ग्रामीण जनता के साथ पूरे तौर पर एकाकार हो गया था। उन्होंने अपने निजी जीवन को जिस ढर्रे पर चलाया उससे ग्रामीण परिचित थे। उन्होने उस भाषा का प्रयोग किया जिसे वे आसानी से समझ सकते थे। समय के साथ साथ वह ग्रामीण भारत में बहुत बडी संख्या में रहने वाले भारतीयों के गरीब और पददलित वर्ग के प्रतीक बन गये। इस अर्थ में वह भारत के ऐसे सच्चे प्रतिनिधि थे।

हिंदू-मुस्लिम एकता, छुआछूत का निवारण और स्त्रियों की मर्यादा का उत्थान तीन ऐसे मसले थे जिनमें गांधीजी की बहुत गहरी रुचि थी। उन्होंने तथाकथित अस्पृश्यों को 'हरिजन' रूप में संबोधित किया। अपने 'सपनो के भारत' के बारे में उन्होंने एक बार लिखा :

> मैं एक ऐसे भारत के लिए काम करूंगा जिसमें गरीब से गरीब लोग यह महसूस करेंगे कि यह देश उनका है, कि उसके निर्माण में उनकी आवाज भी प्रभावकारी है। ऐसा भारत जिसमें ऊंची और नीची जाति के लोग नहीं होंगे। उसमें सभी सप्रदायों के लोग पूर्ण सामंजस्य के साथ रहेंगे। ऐसे भारत में छुआछूत के अभिशाप की गुंजाइश नहीं होगी, स्त्रियां भी पुरुषों के समान अधिकार का उपयोग करेंगी। यही है मेरे सपनों का भारत।

जब रोलेट विधेयक पारित हो गया तो एकमत से हुए भारतीय विरोध के बावजूद गांधीजी के धैर्य का बांध टूट गया। उन्होंने फैसला किया कि वह सत्याग्रह के जरिये उसका विरोध करने की कोशिश करेंगे। इस बार के आंदोलन का स्वरूप स्थानीय नहीं होने वाला था। लक्ष्य सीमित नहीं थे। उन्होंने उन दमनकारी कानूनों की अवज्ञा करने के लिए संकल्प के साथ सत्याग्रह सभा शुरू की। सारे देश में 6 अप्रैल, 1919 को आम हड़ताल का आह्वान किया गया। इसके बाद नागरिक अवज्ञा शुरू होने वाली थी। हड़ताल को अभूतपूर्व सफलता मिली लेकिन दिल्ली की एक भीड़ पर पुलिस द्वारा गोली चलाने के कारण बहुत से लोगों की जानें गयीं। उनमें हिंदू और मुसलमान दोनों थे। जब दिल्ली आते हुए गांधीजी को रास्ते में ही रोक दिया गया और फिर उन्हें जबर्दस्ती बंबई वापस भेज दिया गया तो पुलिस ने एक बार फिर एकत्रित भीड़ के साथ वैसा ही बर्ताव किया। बहुत सी जगहों पर दंगे भड़क उठे।

और फिर 13 अप्रैल को जलियांवाला बाग की दुखद दुर्घटना घटी। पंजाब के लोग युद्ध के कर्ज और गवर्नर ओ' डायर के सिपाही भरती करने के बर्बर तरीके से उत्तेजित थे। मुसलमानों पर खिलाफत के प्रचार का गहरा असर पडा था। अनावश्यक घबराहट में सरकार ने डाक्टर सत्यपाल और डाक्टर सैफुद्दीन किचलू जैसे मुख्य नेताओं को गिरफ्तार करने का आदेश दिया। परिणाम था अमृतसर का जन आक्रोश, जहां पुलिस के गोली चलाने के बाद कुछ अधिकारियों

की हत्या कर दी गयी और दो अंग्रेज औरतें बुरी तरह घायल हो गयीं। जब दूसरे दिन जलियांवाला बाग में जनता अवज्ञापूर्वक एकत्रित हुई तो जनरल डायर ने सारे पंजाब में आतंक फैला देने की इच्छा से, बिना किसी चेतावनी के अपने सैनिकों को पार्क में एकत्रित निहत्थी भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दे दिया, जहां से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं था। सारा गोला-बारूद खत्म होने के बाद जब डायर वापस हुआ तो घटनास्थल पर 1,000 मृत प्रड़े थे, और कई हजार घायल। अमृतसर के जनसंहार को मांटेगु तक ने 'निवारक हत्या' कहा था। उसके बाद एक क्रम में मानमर्दन करने वाले आदेश जारी किये गये। हफ्तों कर्फ्यू लागू रहा। लोगों को सार्वजनिक ढंग से कोड़े लगाये गये। उन्हें उस जगह तक रेंग कर पहुंचने को मजबूर किया गया, जहां पर दो अंग्रेज स्त्रियो पर आक्रमण हुआ था। हाजिरी देने के लिए छात्रों को प्रतिदिन 16 मील पैदल चलकर पहुंचना होता था। गिरफ्तार व्यक्तियों को कोठरी में नजरबंद कर दिया गया। बंधक के रूप में व्यक्तियों को पकड़ लिया गया, संपत्ति जब्त या नष्ट कर दी गयी और हिंदू-मुसलमान की एक एक कलाई जोड़ कर इकट्ठा हथकड़ी लगायी गयी ताकि उनको एकता का मजा चखाया जा सके। सैनिक कानून की घोषणा की गयी। रवींद्रनाथ टैगोर ने ब्रितानी सरकार से प्राप्त विशेष सम्मान (नाइटहुड) का परित्याग करते हुए घोषणा की :

> ऐसा समय आ गया है जब सम्मान में मिले बिल्लों ने मानमर्दन के भौंडे संदर्भ मे हमारी शर्म को उघाड़कर रख दिया है। जहा तक मेरा सवाल है, मैं उन सभी विशिष्टताओं का परित्याग करके अपने उन देशवासियो के साथ खड़ा हूं जिन्हें तुच्छ समझ कर ऐसे अपमानों द्वारा पीड़ित किया गया है जो मनुष्य के लिए नहीं हैं।

पंजाब की दुर्घटना ने गांधीजी को भारतीय राजनीति के दरवाजे पर खड़ा कर दिया। सरकार द्वारा हंटर की अध्यक्षता में नियुक्त सरकारी समिति का कांग्रेस ने बहिष्कार किया। अब तक के बहुत से नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने भी गांधीवादी शक्तियों के साथ कंधे से कंधा मिला लिया।

सन् 1919 में अमृतसर में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में देश की मनस्थिति की झलक मिली। चित्तरंजन दास मांटफोर्ड सुधारों को स्वीकार करने के विरुद्ध थे लेकिन तिलक चाहते थे कि अनुक्रियात्मक सहयोग दिया जाये। अततः एक समझौता हुआ और कांग्रेस इस बात के लिए तैयार हो गयी कि सुधारों को इस तरह लागू किया जाये ताकि एक पूर्णतया जिम्मेदार यानी लोकप्रिय सरकार की शीघ्र स्थापना हो सके; लेकिन चित्तरंजन दास ने अपना रुख स्पष्ट कर दिया। वह "ऐसे किसी अड़ंगे-सीधे साधे अंड़गे के विरोधी नहीं थे जो राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक हो।"

इस सारे वक्त में गांधीजी धीरे धीरे उस खिलाफत आंदोलन में खींचे जा रहे थे जिसके मंच से उन्हें शीघ्र ही सरकार से असहयोग करने की घोषणा करनी थी। जब वह दक्षिण अफ्रीका में थे, तभी से उनके मन में हिंदू-मुस्लिम एकता को लेकर दिलचस्पी पैदा हो गयी थी। उनके अनुसार लखनऊ समझौते ने एकता का कोई पर्याप्त आधार नहीं बनाया था। उन्होंने अलीबंधुओं

से संपर्क स्थापित किया था और मानते थे कि खिलाफत की मांग न्यायोचित थी। उन्होंने उनकी गिरफ्तारी का विरोध किया। तुर्की साम्राज्य को खंडित कर देने से, वेरासिलीज की संधि ने आंदोलन की धार को अब तेज कर दिया। अपने बचे हुए राज्य में सुलतान को वास्तविक अधिकार से वंचित कर दिया गया। भारत के मुसलमानों ने ब्रिटेन को तुर्की संबंधी नीति मे परिवर्तन के लिए विवश करने का फैसला किया। मौलाना आजाद, हकीम अजमल खां और हसरत मोहानी के नेतृत्व में एक खिलाफत समिति गठित की गयी। गांधीजी उसकी सहायता करने को इच्छुक थे। उनके लिए ''खिलाफत आंदोलन हिंदुओं और मुसलमानों को एकता में बांधने का एक ऐसा सुअवसर था, जो सैकड़ों वर्षो में नहीं आयेगा।'' गांधीजी ने मन के इस मिलन को बहुत आसान समझा था। उन्होंने यंग इंडिया में लिखा, ''यदि उनका मसला मुझे न्यायोचित लगता है तो मेरा यह फर्ज है कि मैं उनकी मुसीबत की घड़ियों में भरसक मदद करू।'' नवंबर, 1919 में गांधीजी खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। सम्मेलन में मुसलमानों से कहा कि वे मित्र राष्ट्रों की विजय के उपलक्ष्य में आयोजित सार्वजनिक उत्सवों में भाग न लें। धमकी दी कि यदि ब्रिटेन ने तुर्की के साथ न्याय नहीं किया तो बहिष्कार और असहयोग शुरू होगा। आजाद, अकरम खां और फजलुलहक ने खिलाफत और हिंदू-मुस्लिम एकता के समर्थन में बंगाल का दौरा किया। देवबंद स्कूल के मौलाना और लखनऊ के उलेमाओं ने उत्तर भारत में यही काम किया। अमृतसर कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने आंदोलन को समर्थन दिया। सन् 1920 के प्रारंभ में हिंदुओं और मुसलमानों का एक संयुक्त प्रतिनिधिमंडल वायसराय से मिला जिन्होंने स्पष्ट रूप में कह दिया कि ऐसी उम्मीद छोड़ देनी चाहिए। एक प्रतिनिधिमंडल उसके बाद इंग्लैंड गया। लेकिन प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज ने संक्षिप्त और रूखा उत्तर दिया कि पराजित ईसाई शक्तियों के साथ किये जाने वाले बर्ताव से भिन्न बर्ताव तुर्की के साथ नहीं किया जायेगा। सेवरेस की संधि की शर्तो का पता मई के मध्य तक चल गया। कांस्टेंटिनपोल तुर्की के पास रह गया लेकिन उसके क्षेत्रफल और जनसंख्या में भारी कटौती हो गयी। गांधीजी ने सत्याग्रह आंदोलन करने का फैसला किया। असहयोग का यह कार्यक्रम पहली अगस्त को शुरू किया गया।

इसकी सफलता के लिए कांग्रेस का सहयोग अनिवार्य था। लेकिन गांधीजी को अंततः आंदोलन में कूदने के लिए राजी करने में कांग्रेस को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ा। गांधीजी की अपील ने नरमपंथी और उग्रपंथी दोनों ही वर्गो के नेताओं-कार्यकर्ताओं को आकर्षित किया था क्योंकि उन्होंने बड़ी चतुराई के साथ नरमपंथियों के 'साम्राज्य के अंतर्गत स्वराज' को उग्रपंथियों के 'असहयोग' के माध्यम से प्राप्त करने के लक्ष्य से मिला दिया था। यहां तक कि क्रांतिकारी आतंकवादियों ने भी उन्हें एक अवसर देना चाहा। गुजरात और बिहार की कांग्रेस समितियां इसे स्वीकृति दे ही चुकी थीं।

अगस्त, 1920 में तिलक के स्वर्गवास के बाद एक सर्वाधिक शकालु आलोचक क्षेत्र से हट गया। चित्तरंजन दास के मन में कुछ आपत्तियां थी लेकिन गांधीजी की त्याग और बलिदान की बात ने उनकी भावना को तेजी से प्रभावित किया। जब गांधीजी ने विधान परिषदों का

बहिष्कार करने का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने चुनौती देते हुए कहा, ''ये सुधार ब्रितानी सरकार के उपहार नहीं हैं। सुधार ब्रितानी सरकारों के हाथों को ऐंठ कर निकाल लिये गये हैं। मैं परिषद को स्वराज की प्राप्ति का एक अस्त्र बनाना चाहता हूं। आपके हाथों के कोटर में जो हथियार हैं उसका इस्तेमाल करके पूर्ण स्वराज लाना चाहता हूं।'' वह परिषद में दाखिल होंगे लेकिन मदद करने के लिए नहीं बल्कि तंग करने के लिए। यह भीतर से असहयोग करने का एक रूप था। लाजपतराय स्कूलों का बहिष्कार करने के विरोधी थे। लेकिन मोतीलाल नेहरू ने गांधीजी के पक्ष में पलड़े को भारी कर दिया। एक दूसरा समझौता किया गया। स्कूलों और अदालतों का बहिष्कार धीरे धीरे किया जाने वाला था। लेकिन चुनाव के उम्मीदवारों को अपने नाम वापस लेना और मतदाताओं को मत देने से इंकार कर देना था। इस बार के लक्ष्यों में भी स्वराज शामिल था। अंतिम निर्णय नागपुर कांग्रेस को करना था।

इस प्रकार नये सुधारों के अंतर्गत पहले चुनाव में कांग्रेस को आंदोलन करने से रोक दिया गया। नागपुर में श्री दास ने इस मुद्दे को खत्म मान लिया। जलियांवाला बाग की दुर्घटना के वक्त वे पंजाब के गवर्नर ओ' डायर को दी गयी क्षमा और ब्रितानी सरकार द्वारा पूर्णतया जिम्मेदार सरकार की मांग को अस्वीकृत कर दिये जाने से गांधीजी के सुझावों को और बल मिला। श्री दास ने अनुभव किया कि वह अपने साथ बंगाली गुट को भी ले जा पाने में सफल नही होंगे। मुहम्मद अली ने समझौते का एक रास्ता दिखाया। श्री दास ने असहयोग का वह प्रस्ताव रखा जिसमें स्वेच्छा से सरकार से सारे सबंध तोड़ लेने और करों की अदायगी न करने की उस समस्त योजना की घोषणा की गयी थी जिसे अमल में लाने के समय का फैसला कांग्रेस को करना था। कार्यालय में परिषदों से त्यागपत्र देने, वकालत के परित्याग, शिक्षा के राष्ट्रीयकरण, आर्थिक बहिष्कार, राष्ट्रीय सेवा के लिए कार्यकर्ताओं के संगठन, एक राष्ट्रीय कोष की स्थापना और हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए कदम उठाने के सुझाव थे। मालवीय जी और जिन्ना ने स्वराज के उद्देश्य का विरोध इस आधार पर किया कि उसमें यह स्पष्ट नही किया गया था कि साम्राज्य से कोई संबंध बनाये रखा जायेगा या नहीं। लेकिन अगले वर्ष में युद्धोन्मुख कार्यक्रम चलाने के गांधीजी के वायदे की जीत हुई। उनके विरुद्ध केवल दो मत पड़े थे।

नागपुर अधिवेशन ने काग्रेस संगठन को एक नया संविधान देकर उसके ढांचे को इंकलाबी बना दिया। कांग्रेस को एक ठोस और प्रभावकारी राजनैतिक संगठन में बदल दिया गया जिसमें 15 सदस्यों की एक कार्यकारिणी समति, 350 सदस्यों की एक अखिल भारतीय समिति और ऐसी प्रांतीय समितियों की व्यवस्था हुई जिनका संबंध जिलों से लेकर कस्बों, तहसीलों और गांवों तक हो गया। कार्यकारिणी समिति को ऐसा समांगिक आकार दिया जाना था जिसे बारहो महीने सक्रिय रहना था। आमतौर पर उसके फैसले सर्वसम्मत होते थे। बड़े महत्व के विषयों पर अखिल भारतीय कांग्रेस समिति को विचार विमर्श करना था। इस समिति को कार्यकारिणी के फैसलों की समीक्षा करने और उसके निर्णयों को बदल देने तक के अधिकार थे। प्रांतीय समितियों का पुनर्गठन भाषाई आधार पर हुआ था। ये समितियां हर प्रदेश के लिए अलग अलग

थीं। पांच या उससे अधिक कांग्रेस सदस्यों वाले गांव में एक इकाई की स्थापना की व्यवस्था हुई। इसी क्रम में गांव के ऊपर क्षेत्र, तहसील और फिर जिले के लिए भी इकाइयां बनती थीं। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में शामिल होने वाले प्रतिनिधियों का चुनाव सदस्यता के आधार पर किया जाना था यानी 50 हजार सदस्यों पर एक प्रतिनिधि। इस व्यवस्था से कांग्रेस अत्यधिक प्रतिनिधि संस्था बन गयी। क्योंकि सदस्यता का वार्षिक चदा केवल 25 पैसा (पुराना चार आना) था अत· इसके सदस्यों की संख्या में दिन दूनी और रात चौगुनी वृद्धि हुई। हालांकि यह सदस्यता भी आवश्यक नहीं थी। सदस्यता के लिए कांग्रेस के लक्ष्यों और सिद्धांतों की स्वीकृति पर्याप्त थी। इसकी वजह से दल भारत के लाखों लाख गरीब लोगों तक पहुंच गया। आयु सीमा को घटाकर 18 वर्ष कर देने के बाद इसमें और तरुणाई आ गयी। मुसलमानों और स्त्रियों द्वारा कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण करने के बाद उनकी संख्या में स्पष्ट वृद्धि हो गयी। सन् 1923 तक ग्रामीण सदस्यों की सख्या शहरी क्षेत्रो के सदस्यों की संख्या से दुगुनी हो गयी। आधारभूत परिवर्तन न केवल दल की सामाजिक नाव बल्कि उसके दृष्टिकोण और नीतियों में किया गया। सदस्यता अब केवल एक निष्क्रिय काम न होकर एक जीवंत प्रतिबद्धता बन गयी थी और उसके लिए त्याग की आवश्यकता थी। काग्रेस राजनैतिक समाजीकरण का एक अस्त्र बन गयी। इसने खादी, छुआछूत निवारण, मद्यनिषेध और राष्ट्रीय शिक्षा के काम हाथ मे लिये। हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के प्रयोग ने शिक्षितो और आम जनता के बीच की दीवार को तोड़ दिया। एक **तिलक स्वराज कोष** की स्थापना हुई जिसमे 6 महीनो के भीतर एक करोड़ से अधिक रुपये इकट्ठा हो गये। इसके कारण सगठन वित्तीय मामलों मे निश्चिंत हो गया। इस प्रकार जनसमर्थन की नींव पर खड़े एक धर्मनिरपेक्ष दल ने गांधीजी के नेतृत्व में एक अद्भुत अस्त्र से साम्राज्यवादियों से सघर्ष करने का फैसला किया। कांग्रेस के सभी उम्मीदवारों द्वारा चुनावों से अपने नाम वापस ले लेने के बाद वकीलों से अदालतों का और जनता से शिक्षण संस्थाओं, विदेशी कपड़ों और शराब की दूकानों का बहिष्कार करने पर जोर दिया गया। श्री दास ने कहा, ''शिक्षा प्रतीक्षा कर सकती है स्वराज नहीं।'' बहुत बड़ी संख्या में छात्रों ने अपने स्कूल-कालेज छोड़ दिये, शिक्षको ने त्यागपत्र दे दिये। जामिया मिलिया इस्लामिया और काशी, बिहार और गुजरात विद्यापीठ जैसे राष्ट्रीय शिक्षण संस्थानों की स्थापना हुई। आचार्य नरेंद्रदेव, राजेंद्र प्रसाद, डा. जाकिर हुसैन और सुभाषचंद्र बोस ने इन राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में प्राध्यापन का कार्य किया। 30 सितंबर, 1921 तक विदेशी कपड़ो के पूर्ण बहिष्कार का काम पूरा कर दिया जाना था। शताब्दी के पहले दशक में स्वदेशी आंदोलन के दौरान के घरानों और सार्वजनिक स्थानों पर विदेशी वस्तुओं की होली जलाने की घटनाओं की पुनरावृत्ति होनी थी। छात्र समुदाय को राष्ट्रीय स्वयंसेवकों के रूप में संगठित किया गया। उन्होंने राष्ट्रीय मसले के प्रचार, दान की रकम का एकत्रण, अंग्रेजों का साथ देने वालों के विरुद्ध प्रदर्शन, पंचनिर्णय वाली अदालतों का संचालन और विदेशी वस्तुएं बेचने वाली दूकानों के सामने धरना देने के काम किये।

सारे देश में उत्साह की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ गयी। छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष,

हिंदू और मुसलमान, रूढ़िवादी, उदारपंथी, परिवर्तनवादी, सभी एक तरह से प्रभावित हुए। औरतों ने परदे से बाहर निकलकर बहुत बड़ी संख्या में संघर्ष में हिस्सा लिया। उन्होंने तिलक कोष मे अपने गहने दे दिये। हंसते हुए जेल चली गयीं।

खिलाफत समिति ने मुसलमानो से कहा कि वे युद्ध में भर्ती न हो। इसके लिए अलीबंधुओं को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस ने सारे भारतीयो का आह्वान किया कि वे किसी भी रूप में सरकार की सेवा न करें। जैसे जैसे हवा तेज हुई, बेरोजगार मजदूर, कारखानों के कामगार और शहरों के गरीब आंदोलन में शामिल होते गये। न केवल औद्योगिक केंद्रों बल्कि आसाम के चाय बागानों में कुछ बड़ी हड़तालें हुई।

ग्रामीण क्षेत्रों में नया उत्साह और नयी उत्तेजना भर गयी थी। कांग्रेस के कर का भुगतान न करने के आह्वान ने शोषित किसानों के दिल पर जोरदार असर डाला। मिदनापुर के किसानों ने यूनियन बोर्ड का कर देने से इंकार कर दिया। बंगाल मे पहली बार किसान संघों की स्थापना हुई। गुंटूर के दुग्गिराला गोपालकृष्णाय्या ने जिस प्रदर्शन का नेतृत्व किया वह आखें खोल देने वाला था। नगरपालिका को कर चुकाने के आदेश की अवहेलना करते हुए चिराला के सारे लोग एक नयी बस्ती बनाने के लिए (चिराला से) बाहर निकल आये। बैजवाड़ा में एक समानांतर समिति गठित हुई। पेद्दानदिपाडु के सभी ग्राम अधिकारियों ने त्यागपत्र दे दिये। 95 प्रतिशत लगानदाताओं ने कर देने से इंकार कर दिया। गुंटूर, कृष्णा और गोदावरी जिलों मे कर न अदा करने का फैसला किया गया। पालनाड में चराई कर दने से इकार किया जाने वाला था। आंध्र प्रदेश कांग्रेस समिति ने इन कदमो का समर्थन किया। अहमदाबाद कांग्रेस ने कहा कि यदि खादी, अहिंसा और हिंदू-मुस्लिम एकता आदि के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति हो रही है तो वह आदोलन को स्वीकृति देती है। गुंटूर ने रैयत के हस्ताक्षर लेने की गांधीजी की शर्त भी पूरी कर दी। उत्तर प्रदेश में रायबरेली और फैजाबाद के काश्तकारों ने गैरकानूनी महसूल देने से इंकार कर दिया। स्वाभाविक था कि जमींदारों और पुलिस से उनका संघर्ष होता। अदालतों पर धावा बोलने और गिरफ्तार व्यक्तियों को छुड़ाने के प्रयत्न हुए। जवाहरलाल नेहरू ने इसी समय के आसपास राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश किया था और वे इन घटनाओं से बहुत प्रभावित हुए। कुछ प्रमुख कोयला खानों में हड़तालें हुई। बिहार में छोटा नागपुर के आदिवासियों ने ताना भगत आंदोलन द्वारा चौकीदारी कर और लगान की अदायगी न करने की धमकी दी। उड़ीसा में कणिका राज्य के किसानों ने अबवात की अदायगी करने से इंकार कर दिया। पंजाब में गुरुद्वारों की व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए अकाली आंदोलन चला। पवित्र मंदिरों पर कब्जा राजनैतिक स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम माना जाता था। मलाबार में मोपलों ने स्थानीय जमींदारों और साहूकारों के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया लेकिन वह दुर्भाग्यवश सांप्रदायिकता के रंग में रंग गया। वास्तव में उस वक्त अचानक यह अनुभव हुआ कि भारत के गांवों में शक्ति के अपार भंडार पड़े हैं और यदि उनका उचित ढंग से इस्तेमाल किया जाये तो शक्तिशाली राज को उलट दिया जा सकता है। सचमुच सरकार विदेशी वस्तुओं की बिक्री रुक जाने या

शराब की बिक्री कम हो जाने से नहीं घबराई थी। उसे परेशानी सिर्फ इस तथ्य से हुई कि सारे देश में एक जनव्यापी चेतना पैदा हो गयी थी।

आंदोलन को वेल्स के राजकुमार के आगमन के बहिष्कार में असाधारण सफलता मिली। बंबई में हड़ताल हुई और समुद्र तट पर एक सभा की गयी जिसमें गांधीजी ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई। लेकिन भीड़ अनुशासनहीन हो गयी और उसने यूरोपियों और उन पारसियों पर आक्रमण किया जिन्होने राजकुमार के प्रति वफादारी दिखाई थी। पुलिस ने गोली चलायी। दंगे हुए और 53 व्यक्ति मारे गये। कलकत्ता में खिलाफत वालों और पुलिस के बीच के एक संघर्ष के अलावा हड़ताल पूरी तरह सफल रही।

सरकार बहुत परेशान हो गयी थी और उसने दमनकारी कदम उठाने का फैसला किया। कांग्रेस और खिलाफती स्वयंसेवकों के संगठन को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया। जनसभाओं और जुलूसों पर प्रतिबंध लग गया। यह संगठन और भाषण की स्वतंत्रता को एक चुनौती थी क्योकि इसके बिना कोई भी राजनैतिक आंदोलन चल ही नहीं सकता था। श्री दास ने चुनौती को स्वीकार करके आदेश की अवज्ञा करते हुए कहा :

> मैं महसूस करता हूं कि मेरी कलाइयों में हथकड़ियां पड़ी हैं और मेरे शरीर पर लोहे की जंजीर का वजन है। पूरा देश ही एक लंबा चौड़ा कारागार है। इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं पकड़ा जाता हूं या छोड़ दिया जाता हूं। इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं जीवित हूं या मर गया हूं।

उनकी पत्नी और पुत्र की गिरफ्तारी के बाद हजारों स्वयंसेवको ने अपना नाम लिखवाना शुरू किया। कलकत्ता की जेल में जितने आदमी अंट सकते थे, उससे कई गुना ठूंस दिये गये। जेल तीर्थयात्रा का एक पवित्र स्थल बन गया। गुस्से में खीझी हुई पुलिस ने बिना भेदभाव के स्वयंसेवकों को मारा पीटा। बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तारियों के आदेश हुए। कुछ ही महीनों के दौर में 30 हजार राष्ट्रवादियों को जेल में ठूंस दिया गया। श्री दास ने स्वैच्छिक ढंग से अपनी गिरफ्तारी कराई। बाद में मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय और गोपबंधुदास भी उनके पीछे पीछे जेल में पहुंच गये।

सन् 1921 के अंत तक गांधीजी को छोड़कर शेष सभी प्रमुख नेता जेल के सीखचों के भीतर थे। कार्यकारिणी ने हर प्रांत को कुछ खास शर्तो पर नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की अनुमति दी थी। लेकिन मोपला के विद्रोह और बंबई के दंगों की वजह से गांधीजी बेचैन हो उठे। वह धीरे धीरे बढ़ना चाहते थे। उन्होंने आंदोलन को शहरों से, जहां अहिंसा असफल हो गयी थी, हटाकर गांवों में तेज करने का फैसला किया। अहमदाबाद कांग्रेस ने निजी और सामूहिक दोनों तरह की नागरिक अवज्ञा की स्वीकृति दी। गांधीजी ने 1 फरवरी, 1922 को वायसराय को अपनी प्रसिद्ध चुनौती दी :

देश के सामने सिवाय इसके और कोई चारा नहीं है कि वह अपनी मांगों (जिनमें भाषण, संगठन और समाचारपत्रों की स्वतंत्रता के प्रारंभिक अधिकार शामिल हैं) को पूरा कराने के लिए अहिंसा का कोई तरीका अपनाये।

गांधीजी ने गुजरात के एक ताल्लुके बारदोली में इसकी आजमाइश की।

युद्ध में, उसके शुरू होने के पहले ही, पराजय हो गयी। इसके पहले कि बारदोली में नागरिक अवज्ञा का एक व्यापक जनांदोलन शुरू किया जाता, उत्तर प्रदेश के चौरी चौरा नाम की जगह पर उत्तेजना की एक घटना घट गयी। पुलिस के अंधाधुंध गोलीचालन के जवाब में कुछ किसानों ने पुलिस थाने में आग लगा दी जिससे 22 सिपाहियों की मृत्यु हो गयी। बारदोली में शीघ्रता में कार्यकारिणी की बैठक बुलाई गयी। गांधीजी के जोर देने पर नागरिक अवज्ञा स्थगित करके एक रचनात्मक कार्यक्रम अपनाने पर सहमति हुई।

बारदोली के फैसले से बहुत से राष्ट्रीय नेताओं को आघात लगा। सुभाष ने उसे 'राष्ट्रीय विपत्ति' कहा। जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवनचरित में उसकी चर्चा 'विस्मय और संत्रास' के रूप में की। एम. एन. राय ने उसमें जनता की जगह पर नेतृत्व की दुर्बलता देखी। दूसरे नेताओं ने गांधीजी पर यह आरोप लगाया कि वह जनता के स्वतःप्रेरित राजनैतिक उपक्रम को सीमित करके उसे उच्च वर्ग के जड़ नियंत्रण में छोड़ रहे हैं।

गांधीजी को अपने अनुयायियों के बीच फैसले का औचित्य सिद्ध करने में बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। उन्होंने नेहरूजी को यह विश्वास दिलाया, "यदि स्थगन न हुआ होता तो हम लोगों ने अनिवार्यतया अहिंसक के बजाय एक हिंसक आंदोलन का नेतृत्व किया होता। पीछे हट जाने के इस कदम से हमारा संघर्ष समृद्ध होगा। हम अपने लंगरस्थल पर वापस लौट आये हैं।" जहां तक उनका सवाल है वह बारदोली के पहले की हिंसक जन उत्तेजना के पर्याप्त प्रमाण दे सकते थे। बार बार के स्थगन द्वारा उन्होंने चेतावनी दी थी कि वह सत्याग्रह के पवित्र सिद्धांत की बलि देकर स्वराज नहीं लेंगे। वह एक सशस्त्र शक्ति के विरुद्ध अस्त्रहीन संघर्ष का नेतृत्व कर रहे थे। वह जानते थे कि हिंसा की बागडोर ढीली करने के बाद कौन जीतेगा।

घटता आक्रोश

इस सारे समय में लार्ड रीडिंग ने सेवेरिस की संधि में खलीफा के पक्ष में संशोधन करके कांग्रेस और खिलाफतियों के बीच फूट पैदा करने की कोशिश की थी। जब तक आंदोलन विघटित होना शुरू नहीं हुआ, उन्होंने गांधीजी की गिरफ्तारी को स्थगित रखा। उनकी दृष्टि में बारदोली के प्रस्ताव ने "संगठन को बिना उद्देश्यों को स्पष्टतया परिभाषित किये या समझे जा सकने योग्य बनाये हुए छोड़ दिया था।" उस क्षण से ही दल में विघटन और विच्छेदन का प्रारंभ हुआ। उत्साह भाप की तरह उड़ गया। मोहभंग हुआ और उत्साहहीनता आई। उन्होंने 10 मार्च,

1922 को गांधीजी को गिरफ्तार कराया और उन पर सरकार के विरुद्ध द्वेष फैलाने का अभियोग लगाया।

गांधीजी ने अपने कार्य का औचित्य सिद्ध करने के सिलसिले में जो तर्क दिये, उनकी वजह से वह मुदकमा ऐतिहासिक हो गया हालांकि उन्होंने स्वयं अभियोग स्वीकार कर लिया था। अपने बयान में उन्होंने विस्तार के साथ यह बताया कि ब्रितानी सरकार के एक वफादार समर्थक और प्रशंसक होकर भी किस तरह भारत के ब्रितानी शासन के एक समझौता न करने वाले आलोचक और विरोधी में बदल गये। उन्होंने कहा ·

> न चाहते हुए भी मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि ब्रिटेन के संबंध ने भारत को राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से इतना असहाय बना दिया जितना वह पहले कभी नहीं था। एक निहत्थे भारत में आक्रमण का मुकाबला करने की शक्ति नहीं है। वह इतना गरीब हो गया है कि अकाल तक का मुकाबला करने के लिए उसके पास अत्यंत क्षीण शक्ति है। शहरों के रहने वाले नहीं जानते हैं कि किस तरह आधा पेट भोजन करने वाली जनता धीरे धीरे मृत्यु के निकट पहुंच रही है। वे नहीं जानते कि उनका दुखमय सुख परिणाम है उस दस्तूरी का, जिसे वे विदेशी शोषकों का काम करके प्राप्त करते हैं, कि लाभ और दस्तूरी दोनों ही जनता से निचोड़ी जाती है। वे नहीं महसूस करते कि कानून द्वारा भारत में स्थापित ब्रितानी सरकार जनता का शोषण करने के लिए ही चल रही है। आंकड़ों का कोई कुतर्क, कोई बाजीगरी इस प्रमाण को गलत नहीं सिद्ध कर सकती कि बहुत से गांवों में नरकंकाल पडे हुए हैं। खुली आंखों से देखने के लिए मेरे विचार से कानून के शासन से, जान बूझकर या अनजाने में शोषकों के लाभ के लिए वेश्यावृत्ति करायी जा रही है। बड़ा दुर्भाग्य यह है कि प्रशासन से संबद्ध अंग्रेज या उनके भारतीय सहयोगी नहीं जानते कि उनसे वह अपराध कराया जा रहा है, जिसके बारे मे मैंने बताने की कोशिश की है। मुझे संतोष है कि बहुत से अंग्रेज और भारतीय अधिकारी ईमानदारीपूर्वक यह विश्वास करते हैं कि वे संसार की एक सर्वोत्कृष्ट राज्य प्रणाली का प्रशासन कर रहे हैं और भारत सुस्थिर ढंग से लेकिन धीरे धीरे प्रगति कर रहा है। वे नहीं जानते कि एक तरफ एक सूक्ष्म और प्रभावपूर्ण आतंकवादी तरीके तथा शक्ति के संगठित प्रदर्शन और दूसरी तरफ प्रतिरोध या आत्मरक्षा के सारे साधनों से जनता को वंचित करके उसे नितांत दुर्बल बना दिया गया है। उसमें सचमुच ही ढोंग की आदत पैदा कर दी गयी है।

अपने वक्तव्य का समापन करते हुए उन्होंने कहा कि उनका विश्वास है कि बुराई से असहयोग करना वैसा ही फर्ज है जैसा अच्छाई से सहयोग। उन्होंने अदालत से मांग की, "कानून

के अंतर्गत जिसे जान-बूझकर किया गया अपराध माना जाता है उसके लिए बड़ी से बड़ी जो भी सजा दी जा सकती हो, मुझे दी जाये। मुझे यही एक नागरिक का सबसे बड़ा कर्तव्य लगता है।"

मुकदमे की सुनवाई करने वाले न्यायाधीश ब्रूमफील्ड ने स्वीकार करते हुए कहा, "यह तथ्य है कि आप अपने देश के लाखों-लाख लोगों की निगाह में एक महान देशभक्त और नेता हैं। लेकिन अदालत की निगाह में कानून तोड़ने और उसकी आत्मस्वीकृति करने वाले व्यक्ति गांधी को 6 साल की जेल की सजा दी जाती है--वही सजा जो सन् 1908 में लोकमान्य तिलक को दी गयी थी।"

अधिकतर नेताओं के जेल में होने के कारण पहला असहयोग बिना जनव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत के ही खत्म हो गया। उसके शीघ्र बाद ही खिलाफत का प्रश्न भी महत्वपूर्ण नहीं रह गया। तुर्की में मुस्तफा कमालपाशा का शासन हो गया और नवंबर सन् 1922 में सुल्तान के सारे राजनैतिक अधिकार छीन लिये गये। कमालपाशा ने तुर्की का आधुनिकीकरण करने और उसे एक धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाने का काम शुरू किया। खिलाफत की परंपरा भी समाप्त कर दी गयी।

खिलाफत आंदोलन और उसे गांधीजी तथा अन्य नेताओं द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने के तरीके पर दो रायें हो सकती हैं। कुछ लोग महसूस करते हैं कि वह सुविचारित नही था, प्रतिगामी था क्योंकि अंततः एक समय उसने एक राजनैतिक आंदोलन में धार्मिक भावधारा का समावेश किया। उससे हिंदू-मुस्लिम एकता की उपलब्धि नहीं हुई। इन्हीं कारणों से कुछ लोग तर्क देते हैं कि खिलाफत आंदोलन एक भूल थी। दूसरे यह महसूस करते हैं कि आंदोलन ने राष्ट्रीय नेताओं को मुसलमानों को यह विश्वास दिलाने का सुअवसर दिया कि राष्ट्र उन समस्याओं के प्रति भी चिंतित है जिनसे वे प्रभावित हैं। सुअवसर था और उसका इस्तेमाल किया जाना चाहिए था।

पुनरावलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि खिलाफत आंदोलन ने निश्चय ही शहरी मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक किया। उस समय सभी वर्गो के लोगों में आंदोलन के प्रति लगाव का बोध जगा था। व्यापक स्तर पर उत्साह था और इसका एक बड़ा कारण खिलाफत ही था। यह भी सही है कि एक राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा केवल एक ही संप्रदाय के लोगों को प्रभावित करने वाले मसलों की पैरवी सैद्धांतिक दृष्टि से गलत नहीं है। राष्ट्रीय आंदोलन और खिलाफत दोनों में साम्राज्यवाद विरोधी तत्व प्रबल थे। यदि सारे देश के राजनैतिक और आर्थिक हितों की अभिवृद्धि के उद्देश्य से इस समान विशिष्टता का उपयोग साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने की दोनों वर्गो की इच्छा से उत्पन्न करने में किया गया होता तब उसमें कोई भूल नहीं हुई होती। देश में दमन के कदमों और तुर्की की घटनाओं ने इन अंतिम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आंदोलन को सफल न होने देने का षड्यंत्र किया। हालांकि देश के राष्ट्रीय



डाडी में गांधीजी द्वारा नमक कानून भंग



ग्वान अब्दुल गफ्फार खा



अबुल कलाम आजाद



GREAT MARCH FOR LIBERTY BEGINS.

Mahatma Starts With His Chosen Band Of 78.

RUMOURS OF IMPENDING ARREST BELIED

Ashram Besieged By Eager Crowds

SOUL-STIRRING SCENES ON BIDDING FAREWELL

1 000 WOMEN PARTICIPATE IN HUGE PROCESSION

CONGRESS FLAG HOISTED IN JAPAN

Association With Chinese Revolution Recalled

MAHATMA COMES OUT OF ASHRAM

FIRST STEP TOWARDS SWARAJ

Gandhiji Addresses Aslali Villagers

MESSAGE ON SALT

LABOUR GOVT CAN'T PLAY TORY GAME

"Daily Herald" Quotes Burke On "Great Empire & Little Minds"

'NO REPRESSIVE POLICY IN INDIA"

स्वतन्त्रता-प्रयाण



जवाहरलाल नेहरू



कृष्ण मेनन, जनरल लिस्टर, जवाहरलाल नेहरू—स्पेन, 1938



गोविन्द वल्लभ पंत



जयप्रकाश नारायण



आजाद हिंद फ़ौज की महिला रेजिमेंट

नेतृत्व ने तुर्की में धर्मनिरपेक्ष और साम्राज्यवाद विरोधी राज्य की स्थापना का स्वागत किया।

यह नतीजा निकालना भी एक भूल होगी कि यह पहला असहयोग आंदोलन असफल रहा। जनता में, उसकी आर्थिक समस्याओं और राजनैतिक मसलों, विशेषकर साम्राज्यवाद की चेतना जगाने में निश्चय ही उस आदोलन की देन है। यहां तक कि सीधे-सादे ग्रामीणों ने भी यह महसूस करना शुरू किया कि उनकी तकलीफों को दूर करने की सबसे अच्छी दवा स्वराज है। राष्ट्रीय संघर्ष में हिस्सा लेकर उन्होंने स्वाधीनता के एक नये बोध का अनुभव किया। राज के डर पर विजय पा ली गयी थी। साधारण लोगों ने, स्त्रियों और पुरुषों ने, धनिक और गरीब ने सरकार की अवज्ञा करके दंड रूप में तकलीफें बर्दाश्त करने की इच्छा और क्षमता दिखाई। छुआछूत और मद्यपान जैसी सामाजिक बुराइयों को भी अधिक तीव्रता के साथ स्वीकार किया जाने लगा था। खादी पर बल देना गांवों की आवश्यकताओं का एक वास्तविक मूल्यांकन था। विदेशी शासकों और सरकार की खुली अवज्ञा करने के प्रयत्न में उन्हें जो अनुभव मिले, उनसे उनमें आत्मविश्वास और आत्माभिमान का एक नया बोध पैदा हुआ जिसने पलायन के अपमान को धो दिया। इसकी असफलता का बहुत महत्व नहीं था क्योंकि वह केवल अस्थायी ही हो सकती थी। गांधीजी ने स्वयं व्याख्या की, "जो संघर्ष 1920 में शुरू हुआ वह निर्णयात्मक संघर्ष है, चाहे वह एक महीना या एक साल चले, चाहे कई महीनों या कई वर्षो तक।"

स्वराजी

जब जनव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया गया तो बहुत बड़े पैमाने पर निराशा फैली। उसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय संघर्ष का उत्साह अचानक तितर बितर हो गया। लोगों का मोहभंग तक हो गया था और सत्याग्रह के औचित्य के बारे में प्रश्न पूछे जाने लगे थे। क्या लाखों करोड़ों की संख्या में लोगों को अहिंसा कला का प्रशिक्षण देना संभव था? यदि यह संभव भी था, तो उसमें कितना वक्त लगना था? बहुत से नेताओं के जेल में होने से दल के नीचे से लेकर ऊपर तक के लोगों ने महसूस किया कि वे विसंगठित हो गये हैं।

ऐसे वक्त पर चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू ने एक नया नेतृत्व दिया। जब नागरिक अवज्ञा जांच समिति ने रपट दी कि देश अभी भी एक आम और जनव्यापी नागरिक अवज्ञा आंदोलन चलाने के लिए तैयार नहीं है, और रचनात्मक कार्यक्रमों को केवल सीमित सहमति मिली है, तब श्री दास और मोतीलाल नेहरू ने सुझाव दिया कि विधान परिषदों का बहिष्कार करने के बदले असहयोग का आंदोलन उनके भीतर ही चलाया जाये। उन्होंने परिषदों में दाखिल होने का सुझाव दिया ताकि भीतर से सुधारों को क्रियान्वित करना असंभव कर दिया जाये। इस सुझाव को बहुत से कांग्रेसियों का तात्कालिक समर्थन मिला लेकिन राजगोपालाचार्य, राजेंद्र प्रसाद और वल्लभभाई पटेल जैसे कट्टर गांधीवादी बहिष्कार को चलाते रहने के पक्ष में रहे।

नेताओं में दो गुट हो गये। एक को परिवर्तन-समर्थक और दूसरे को यथार्थवादी कहा गया। दिसंबर, 1922 में कांग्रेस के गया अधिवेशन में प्रश्न उभर कर सामने आया। अध्यक्ष की हैसियत से चित्तरंजन दास ने सशक्त ढंग से परिषद में प्रवेश करने की वकालत की। लेकिन जीत राजाजी के गुट की हुई। चित्तरंजन दास ने त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल, मालवीय जी और जयकर के साथ मिलकर कांग्रेस के भीतर एक दल बनाया। नाम रखा गया **कांग्रेस खिलाफत स्वराज दल**। चित्तरंजन दास अध्यक्ष हुए। मोतीलाल नेहरू सचिवों में से एक थे।

नये दल ने अहिंसा और असहयोग के अनिवार्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखा। इसने संविधान बनाने के अधिकार की मांग का प्रस्ताव रखा और इंकार किये जाने पर विधानसभाओं और परिषदों में सरकार के काम को असंभव कर देने के लिए एक तरह की क्रमबद्ध और अविचल गतिरोध पैदा करने वाली नीति अपनाने का निर्णय किया। चित्तरंजन दास की कल्पना और भावाकुलता ने मोतीलाल की तटस्थवादिता और दृढ़ता से मिलकर दोनों के बीच की कमजोरियों को खत्म कर दिया। उन्होंने नवंबर, 1923 में चुनाव लड़ा और तैयारी का बहुत कम समय मिल पाने के बावजूद उदारपंथियों का व्यावहारिक अर्थों में सफाया कर दिया। मध्य प्रांत से उन्हें पूर्ण बहुमत मिला। बंगाल में वह सबसे बड़ा दल था। उत्तर प्रदेश और आसाम में उन्हें दूसरे सबसे बड़े दल का स्थान मिला हालांकि दूसरे राज्यों में उनकी उपलब्धि अच्छी नहीं रही। केंद्रीय विधान परिषद में उन्होंने 101 में से 42 स्थानों पर कब्जा किया।

लेकिन यथार्थवादी नेता स्वराजियों के दृष्टिकोण की सत्यता में अभी भी विश्वास नहीं करते थे। दोनों गुटों के बीच एक भयंकर राजनैतिक विवाद उठ खड़ा हुआ। लेकिन दोनों ही गुट गांधीजी और कांग्रेस के प्रति निष्ठावान बने रहे। दोनों ही साम्राज्यवाद विरोधी और विश्वास तथा विचार से सच्चे राष्ट्रवादी थे। अतः परिषद-प्रवेश के प्रश्न पर मतभेदों के बावजूद उन्होंने एक दूसरे के प्रति आदर भाव बनाये रखा और दल की एकता को कोई खतरा पैदा नहीं हुआ।

केंद्रीय विधान परिषद में स्वराजियों ने 30 नरमपंथी और मुसलमान सदस्यों को मिलाकर एक राष्ट्रवादी दल बनाया। प्रांतीय परिषदों में भी उन्होंने ऐसी ही व्यवस्था की। उन्होंने सभी राजनैतिक बंदियों की रिहाई, दमनकारी कानूनों की समाप्ति, प्रांतीय स्वायत्तता और परिषदों द्वारा सरकार पर पूरा नियंत्रण रखने की योजना बनाने के लिए शीघ्र ही एक गोलमेज सम्मेलन आयोजित करने की मांग की। उन्होंने धमकी दी कि यदि सरकार ने मांगों पर अमल नहीं किया तो वे आपूर्ति पर मत देने से इंकार करके प्रशासन को ठप्प करने की स्थिति में ला देंगे।

शुरू शुरू में नरमपंथियों और हिंदू तथा मुसलमान सांप्रदायिकतावादियों ने केंद्रीय विधान परिषद में नजरबंदों और राजनैतिक कैदियों की रिहाई तथा दमनकारी कानूनों को खत्म करने की सिफारिश वाले प्रस्तावों पर स्वराजियों से सहयोग किया। मार्च, 1925 में वे गुजरात के एक प्रमुख राष्ट्रवादी विट्ठलभाई पटेल को केंद्रीय विधान परिषद के अध्यक्ष पद पर निर्वाचित कराने में सफल हुए।

लेकिन स्वराजी कुछ अधिक पा सकने में सफल नहीं हुए और उन्होंने मार्च, 1926 में केंद्रीय विधान परिषद से बहिर्गमन करने का फैसला किया। मोतीलाल ने कहा, “हमने जो सहयोग दिया उसे तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया गया। अब अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के दूसरे तरीकों के बारे में सोचने का समय आ गया है।”

सन् 1923 के प्रारंभ में ब्रिटेन में लेबर दल सरकार ने सत्ता संभाल ली लेकिन उसका कार्यकाल बहुत कम दिनों का रहा। हालांकि सत्तारूढ़ होने के दौरान भी उसके पास भारत के लिए कोई निश्चित योजना नहीं थी, बाल्डविन के नेतृत्व में कनजरवेटिव दल की सत्ता में वापसी के साथ लार्ड बर्केनहेड इंडिया आफिस के प्रमुख हुए। मत्रिमंडल के शेष सदस्यों की ही तरह उन्होंने सोचा कि मांटेगु-चेम्सफोर्ड सुधार आवश्यकता से भी काफी है और कुछ दिनों के लिए और सुधारों की अनुमति देना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा। वे यह नहीं सोच सके कि किस प्रकार भारत औपनिवेशिक राज्य का दर्जा पाने के योग्य हो सकेगा। उन्होंने सन् 1919 के विधेयक में पारित स्थितियों की पुनर्परीक्षा के दस वर्ष के समय के प्रस्ताव पर सख्ती से अमल करना चाहा।

इस बीच राजनैतिक निष्क्रियता और निराशा से संपन्न होती हुई सांप्रदायिकता ने देश में सिर उठाना शुरू कर दिया था। यहां तक कि स्वराजी भी उसके कीटाणुओं के प्रभाव से मुक्त नहीं रहे। कुछ सदस्यों ने (जिसमें मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय और एन. सी. केलकर शामिल थे) ‘अनुक्रियावादियो’ का अपना गुट बनाया और सरकार को सहयोग देने की बात की। उनका दावा था कि इस रूप में वे हिंदुओं के हितों की रक्षा कर रहे थे। यह बहुत दुखद था कि इसी समय जून, 1925 में अचानक चित्तरंजन दास का देहांत हो गया।

मुस्लिम लीग और सन् 1917 में स्थापित हिंदू महासभा एक बार फिर सक्रिय हो गयी। दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद, जबलपुर और नागपुर में साप्रदायिक दंगे भड़क उठे। गाधीजी दुर्बल स्वास्थ्य के कारण 5 फरवरी, 1924 को जेल से छूट गये थे। उन्होंने उसी साल सितंबर में 21 दिन का उपवास करके दंगो में प्रदर्शित अमानुषिकता पर पश्चाताप करने और सांप्रदायिक कीटाणुओं के प्रसार को रोकने की कोशिश की। लेकिन उसका बहुत कम असर हुआ।

उपवास के फलस्वरूप एकता सम्मेलन हुए लेकिन सद्भाव की परिस्थिति नहीं पैदा हो सकी। अगले दो वर्षो में सांप्रदायिकता का प्रसार और भयंकर ढंग से हुआ। 1925 में कम से कम 16 दंगे हुए। सन् 1926 के कलकत्ता के दंगे सबसे भयंकर रहे। ये दंगे बड़े शहरों से हटकर छोटे कस्बों में फैल रहे थे। साइमन आयोग ने सन् 1922 और 1927 के बीच घटित 112 सांप्रदायिक दंगों का उल्लेख किया जिसमें 450 व्यक्तियों की जानें गयीं और 5,000 लोग जख्मी हुए। सन् 1927 का वर्ष निराशा का वर्ष था। मोतीलाल और आजाद ने सभी दलों से सांप्रदायिक राजनीति से दूर रहने का आश्वासन लेने का प्रयत्न किया लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली। बढ़ती हुई इस हिंसा के बीच गांधीजी ने अपने को असहाय पाया। उन्होंने पीड़ा के साथ लिखा, “मेरी एकमात्र आशा प्रार्थना में और उसके उत्तर में निहित है।”

नयी अवस्था का प्रारंभ

सन् 1928 तक ब्रितानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष ने एक नयी अवस्था में प्रवेश किया। इसके पहले के पांच वर्षो में ब्रितानी सरकार ने साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन का मुकाबला राजनैतिक दमन को तेज करके किया था। असहयोग आंदोलन स्थगित कर देने के निर्णय के बाद कांग्रेस के भीतर स्वराजियों और उन 'रचनात्मक कार्यकर्ताओं' के बीच तनाव बढ़ गये थे जो परिषदों के बहिष्कार के मूल निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे। हिंदू और मुसलमान दोनों ही संप्रदायों के धार्मिक कट्टरपंथियों के बीच धार्मिक आंदोलन तेज हो गया था। प्रमाण के लिए हिंदुओं में पवित्रता, संगठन और शुद्धि का आंदोलन तथा मुसलमसानों में तनजीम और तबलीग आंदोलन, जिसका मतलब है कि धर्म परिवर्तन और पुनः धर्म परिवर्तन दोनों ही ओर के धार्मिक कहरवादियों में चढ़ने लगे थे। इन्होंने सांप्रदायिक सद्भाव को पुनः स्थापित करने में मदद नहीं की। दोनों ही ओर अविश्वास और संदेह था।

भारत के विभिन्न भागों में मजदूर वर्ग भी उन्नत और पिछड़े हुए गुटों में बंट गया था। अपेक्षाकृत युवा पीढ़ी को उन सामाजिक आदर्शो की जानकारी थी, जो सोवियत संघ से निःसृत हो रही थी। सोवियत संघ ने सन् 1927 में अपनी दसवीं वर्षगांठ मनाई थी। निष्ठावान किस्म के राजनैतिक कार्यकर्ताओं के छोटे छोटे गुटों ने कुछ नगरों-कस्बों में (मुख्यतया महाराष्ट्र और पूर्वी उत्तर प्रदेश के शहरों और पंजाब के गांवों के किसानों में) औद्योगिक मजदूरों को साम्यवाद की अपनी निजी परिभाषा से परिचित कराना शुरू किया। उनका एक उद्देश्य यह था कि मध्यम वर्ग की ओर अधिक झुकी हुई कांग्रेस को (उनके अनुसार कांग्रेस मध्यम वर्ग का सर्वाधिक प्रगतिशील दल था) आम जनता की उद्योगों में काम की स्थिति और भूमि वितरण जैसी मानवीय, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी वैधानिक सुधारों की अपनी मांग के साथ जोड़ना चाहिए। उन्होंने एक ऐसे राजनैतिक कार्यक्रम को भी स्वीकृत करना चाहा जो कांग्रेस के कार्यक्रम से अधिक परिवर्तनवादी हो।

दूसरी तरफ वर्गीय राजनीति के गुटों ने भी मजदूरों और गरीब किसानों से संपर्क स्थापित करना शुरू कर दिया था। इन गुटों ने मुख्य रूप से सांप्रदायिक हितों पर बल दिया और गरीब मुसलमान किसानों, शहरी मजदूरों और निचली जाति के हिंदुओं को प्रभावित करने की कोशिश की। उन्होंने रियासतों, विधान परिषदों में राजनैतिक प्रतिनिधित्व, शिक्षा में विशेष अभिवृद्धि और समाज कल्याण की सुविधाओं की मांग की। उन्होंने यह इच्छा भी व्यक्त की कि एक जनतांत्रिक समाज में उनके साथ समानता का व्यवहार हो। यह भावना खासतौर पर हरिजनों, दलित जातियों और पूर्व बंगाल के नामशूद्रों जैसे किसानों के कुछ वर्गो में पाई गयी। उनका तरीका सरकार से सीधी बातचीत करने का था। और सरकार (जैसा कि वह पहले से ही करती आ रही थी) फूट डालो और राज करो की नीति पर अभी भी चलती रही। अंततः मद्रास में जस्टिस पार्टी ने गैर-ब्राह्मणों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के दावे के साथ कांग्रेस का विरोध किया। उसके अनुसार कांग्रेस पर ब्राह्मणों का नियंत्रण था।

गांधीजी और अनुयायियों ने सचमुच ही अस्पृश्यता के संस्थान को ध्वस्त करने की कोशिश की ताकि हिंदू धर्म के भीतर की सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को काटा जा सके। कम्युनिस्ट आंदोलन ने, मुख्यतया बंबई में, मजदूरों को सांप्रदायिक भावना से मुक्त करने की कोशिश की ताकि पृथकतावाद की प्रवृत्ति समाप्त हो और वे एक वर्ग में आ जाये। बहरहाल सन् 1920 और 1930 के बीच साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे के भीतर के राजनैतिक मतभेद, बहुत से वर्गो में बढ़ती हुई सांप्रदायिकता की भावना और सरकार द्वारा गैर-कांग्रेसी राजनैतिक गुटों को प्रोत्साहन और प्रलोभन दिये जाने के परिणामस्वरूप ऐसी प्रवृत्तियां पैदा हुई जिन्होंने समाज को विभिन्न वर्गों और गुटों में छिन्न-भिन्न कर देने का खतरा उपस्थित किया। इन प्रवृत्तियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर बनाया।

लेकिन इस सब के बावजूद नवंबर, 1927 में एकता का एक नया आधार पैदा हुआ। लदन से ब्रितानी मंत्रिमंडल ने घोषणा की कि नियत समय से दो साल पहले ही एक शाही आयोग की नियुक्ति का निर्णय किया गया है जो यह समीक्षा करेगा कि भारत और अधिक सुधारों तथा संसदीय जनतंत्र के योग्य हुआ है या नहीं। आयोग के अध्यक्ष हुए एक अंग्रेज राजनीतिज्ञ सर जॉन साइमन और इस प्रकार आमतौर पर उसे **साइमन आयोग** की संज्ञा दी गयी। उसके सातों सदस्यों में से कोई भी भारतीय नहीं था।

साम्राज्यवादियों को उम्मीद थी कि सुधारों के प्रस्तावों पर नियत समय से दो साल पहले कार्य शुरू करके राष्ट्रीय आंदोलन को बढ़ने से रोक दिया जायेगा। लेकिन घोषणा के बाद आक्रोश की जो लहर उठी उसने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया। सन् 1927 के मद्रास अधिवेशन के कांग्रेस के अध्यक्ष एम.एन.अंसारी ने घोषणा की कि कांग्रेस आयोग की जांच के कार्य का बहिष्कार करेगी। कहा गया, "भारतीय जनता को यह अधिकार है कि वह सभी संबद्ध गुटों का एक गोलमेज सम्मेलन या संसद का सम्मेलन बुला करके अपने संविधान का निर्णय कर सके। साइमन आयोग की नियुक्ति द्वारा निश्चय ही उस दावे को नकार दिया गया है। लोकप्रिय सरकार की स्थापना में उठाये जाने वाले किसी कदम या स्वराज संबंधी अपनी योग्यता-अयोग्यता की जांच पड़ताल में निरपेक्ष हम नहीं हो सकते। निस्संदेह बहिष्कार का तीसरा कारण यह है कि आयोग में जानबूझ कर भारतीयो को शामिल न करके उनके आत्मसम्मान को आहत किया गया है।"

कांग्रेस ने पहले और दूसरे कारण पर बल दिया। लेकिन भारतीयों के आत्मसम्मान को आहत करने वाले तीसरे कारण ने तेजबहादुर सप्रू जैसे बहुत से उदारवादियों को आकर्षित किया। श्री सप्रू ने व्यापक ढंग से सरकार से सहयोग करके बड़े परिश्रम से संसदीय संस्थान और व्यवहार की जानकारी प्राप्त की थी। अतः कांग्रेस, उदारवादी संघ और प्रारंभ में मुस्लिम लीग तक ने साइमन आयोग का बहिष्कार करने का निर्णय किया। आयोग (जांच के सिलसिले में) जहां भी गया, वहां पर कांग्रेस ने 'साइमन लौट जाओ' के नारे लगाये। इस विधि ने राष्ट्रीय संघर्ष में एकता का एक बंधन पैदा किया हालांकि इसका कारण राजनैतिक कार्यक्रमों में

सामाजिक मिलाप या एकरूपता नहीं बल्कि साम्राज्यवादी नीतियों का समान विरोध था। 3 फरवरी, 1928 को जब आयोग बंबई में उतरा तो उसे एक वृहत् जुलूस का सामना करना पड़ा जो 'साइमन वापस जाओ' की तख्तियां और काले झंडों के साथ बढ़ रहा था। चौपाटी पर शाम की एक सभा में 50 हजार लोगों के बीच विभिन्न दलों ने मंत्रिमंडल के निर्णय की निंदा की। केवल नयी दिल्ली की राज्यों की परिषद ने बहुमत से आयोग को समर्थन देने को हामी भरी। इस परिषद में बहुत दूर तक सदस्यों का मनोनयन सरकार द्वारा हुआ था।

इसी के साथ राष्ट्रीय संघर्ष से मजदूरों का लगाव भी बढ़ा यद्यपि बल मजदूर संघ के आंदोलन और मजदूरों की हालत में सुधार करने पर था। सन् 1927 में बंबई में, मजदूरों और किसानों ने शासन को न्यूनतम जोतबंदी (संशोधन) विधेयक को स्थगित करने के लिए विवश कर दिया। विधेयक से संपन्न किसानों को अपनी जोत सीमा बढ़ाने की अनुमति मिल गयी होती, फलस्वरूप स्थानीय खेतिहर पहले से भी ज्यादा गरीब हो जाते। बंगाल नागपुर रेलवे कपनी (जिसका मुख्य कार्यालय लंदन में था और मालिक पूरी तौर पर एक निजी ब्रितानी व्यापारिक संस्थान था) के खड़गपुर स्थिति लोकोमोटिव (मरम्मत तथा रखरखाव) कारखाने में कम मजदूरी और कंपनी अधिकारियों के स्वैच्छिक आदेशों के विरुद्ध मजदूरों ने जो आंदोलन किया, वह आम हड़ताल में बदल गया। हड़ताल को जवाहरलाल नेहरू और मजदूर संघों के संगठनकर्ता और उभरते हुए मजदूर नेता वी.वी.गिरि के अलावा बहुत से राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन प्राप्त था। जवाहरलाल नेहरू, जिन्हें इस वक्त वामपंथी भारतीय युवकों का ठोस समर्थन प्राप्त हो चुका था, साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद विरोधी संघर्ष समिति के सदस्य बन गये। इस समिति की स्थापना यूरोप में हुई थी। वह मास्को में रूस द्वारा स्थापित दुनिया के मजदूरों के तीसरे अंतर्राष्ट्रीय (संगठन) के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थी।

समाजवादी विचारधारा के प्रति आकर्षित वामोन्मुख नेताओं और कार्यकर्ताओं को साइमन आयोग के बहिष्कार से सहानुभूति थी। सन् 1928-29 के जन आंदोलन में मजदूरों ने हिस्सा लिया और उससे प्रदर्शन शक्तिशाली हुआ। 'साइमन लौट जाओ' के प्रदर्शन के परिणामस्वरूप छात्र संघ का जन्म हुआ। इस संगठन ने पहली बार कालेज के छात्रों के मन में राष्ट्रवादी और समाजवादी चेतना पैदा की।

नेतृत्व के स्तर पर बहिष्कार के फलस्वरूप समानांतर ढंग से भारतीय संविधान की योजनाए बनाने के प्रयत्न हुए। सन् 1927 में मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत और सुभाषचंद्र बोस के गुट द्वारा समर्थित यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि कांग्रेस का अंतिम लक्ष्य भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है। भारतीय मामलों के मंत्री लार्ड बर्केनहेड ने चुनौती देते हुए स्वराज पार्टी से कहा था, "वह एक ऐसा संविधान तैयार करे जिसमें ऐसी व्यवस्थाएं हों कि भारत की (महान) जनता आमतौर पर उससे सहमति" व्यक्त करे। इस अधिवेशन में इस मुद्दे को भी लिया गया। इसका अर्थ यह था कि ब्रितानी सरकार ने साम्राज्यवाद के अंतर्गत शासन के एक नये ढांचे की स्वीकृति दे दी थी। अंततः अगस्त, 1928 में कांग्रेस

कार्यकारिणी, अखिल भारतीय उदारपंथी संघ, मुस्लिम लीग तथा दूसरे संगठन के नेता लखनऊ में मिले। वहां पर एक सर्वदलीय अधिवेशन की ओर से कुशल स्वराजी नेता मोतलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति द्वारा संविधान का प्रारूप तैयार करने की स्वीकृति दी गयी।

मोतीलाल नेहरू की रिपोर्ट

इस रिपोर्ट में जिम्मेदार या लोकप्रिय सरकार की व्यवस्था थी। यानी कार्यपालिका पर जनता द्वारा निर्वाचित विधायिका की सर्वोच्चता । ब्रितानी भारत में उन दिनो वही सर्वोपरि थी। उसमें दो सदनों वाली सर्वोच्च ससद की व्यवस्था थी जिसे स्वायत्तता के वे ही अधिकार प्राप्त थे जो ब्रितानी साम्राज्य के अंतर्गत आस्ट्रेलिया और कनाडा के औपनिवेशिक सदनों के पास थे। व्यवस्थापिका सभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रांतीय परिषदों द्वारा निर्वाचित 200 सदस्य होने थे। प्रतिनिधि सभा में बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित 500 सदस्य होने थे। बंगाल में मुसलमानों और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में गैर-मुसलमानों के अलावा संसद मे किसी भी तरह का विशेष सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व नहीं था। प्रांतीय परिषदों में अल्पसंख्यकों के लिए जनसंख्या के आधार पर विशेष आरक्षण होना था। चूंकि पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का बहुमत था, अतः वहां अपवाद के तौर पर व्यवस्था होनी थी। इन दोनों क्षेत्रों में स्थानों का कोई आरक्षण नहीं होना था। प्रतिनिधित्व सिर्फ बालिग मताधिकार के आधार पर होना था।

मोतीलाल की रिपोर्ट से सन् 1928 के पुरानी पीढ़ी के कांग्रेसी नेताओं के रूढ़िवादी दृष्टिकोण का आभास मिलता है। युवतर पीढ़ी की पूर्ण स्वराज की मांग को स्वीकार करते हुए उन्होंने अर्थ यह लगाया कि वे साम्राज्य के अंतर्गत एक औपनिवेशिक दर्जा चाहते हैं। वे समग्र रूप में धर्मनिरपेक्ष और जनतांत्रिक सिद्धांतों को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने सांप्रदायिकता के प्रश्न को बिना किसी समझौते के दो टूक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न नहीं किया। केंद्रीय संसद और प्रांतीय परिषद दोनों में सभी नागरिकों के लिए समान प्रतिनिधित्व के सिद्धांत को अपवाद रूप में स्वीकार किया गया। वास्तव में केवल इसी प्रकार के प्रस्तावों से वे राष्ट्रवादी मुसलमान संतुष्ट हो गये होते जो काग्रेस में शमिल नहीं हुए थे और जिन्होंने विपुल हिंदू बहुमत पर विश्वास करने को तैयार होने के लिए जमानत के रूप में अपने अल्पसंख्यक हितों के संरक्षण की व्यवस्था चाही।

मुस्लिम लीग तो और कट्टरपंथी थी। उससे संघर्ष की स्थिति दिसंबर, 1928 में आई। जिस समय कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था, उसी वक्त नेहरू रिपोर्ट पर स्वीकृति की मुहर लगाने के लिए कलकत्ता में ही सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। सन् 1921 तक के कांग्रेसी और अब एक प्रमुख सांप्रदायिकतावादी नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने संसद के दोनों सदनों तथा बंगाल और पंजाब की प्रांतीय परिषदों में मुसलमानों के प्रभुत्व को इस रूप में निश्चित करना

चाहा ताकि इन प्रांतों में जो पिछड़े सुविधाहीन मुसलमान बहुसंख्या में हैं वे अपने विधायी अधिकारों का इस्तेमाल करके शिक्षा, रोजगार के अवसरों तथा समाज कल्याण के कार्यक्रमों का लाभ उठा सकें। उन्हें अधिक वफादार आगा खां और सर मुहम्मद शफी जैसे नेताओं ने समर्थन दिया। श्री शफी मुसलमानों के उस नये शिक्षित-पेशेवर वर्ग, बड़े जमींदारों और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे, जो उसी स्तर के अधिक उन्नत हिंदू वर्ग से स्थानीय अधिकार छीन लेने को उत्सुक थे। वे जनतांत्रिक सिद्धांतों को वह रियायतें देने को तैयार नहीं थे, जिनकी सलाह कांग्रेस के डाक्टर अंसारी, उत्तर प्रदेश के एक परंपरावादी भूस्वामी (महमूदाबाद के महाराजा) और बिहार के न्यायाधीश सर अली इमाम और उन जैसे अनेक मुसलमान राजनीतिज्ञों ने दी थी। हिंदू सांप्रदायिकतावादी भी अकड़ गये। सिख सांप्रदायिकतावादियों ने भी पंजाब में धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक की हैसियत से विशेष प्रतिनिधित्व की माग की। जिन्ना और सिख सांप्रदायिकतावादी दोनों ही अधिवेशन से बाहर निकल आये। इस प्रकार मोतीलाल नेहरू की रिपोर्ट में 'आम सहमति की पर्याप्त व्यवस्था' के दावे की जो धारणा थी, वह बुरी तरह दब-घुट गयी।

घटनाओं के इस तरह के विकास ने औपनिवेशिक राज्य के उस विचार की आलोचना को तीव्रतर किया जिसका प्रतिपादन वामोन्मुख युवकों के प्रतिनिधि जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस ने शुरू किया था। दोनों ही कांग्रेस के महासचिव थे। उन्होंने कांग्रेस को पूर्ण स्वराज के लिए पारित मद्रास के प्रस्ताव पर अमल करने के लिए आगे बढ़ाया। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में (जिसकी अध्यक्षता मोतीलाल नेहरू ने की थी) नेहरू की रपट के समर्थन में जो प्रस्ताव रखा गया था, उसमें यह अंश जोड़ दिया गया, "पूर्ण स्वराज के लिए कांग्रेस के नाम पर किये गये प्रचार के काम में इस प्रस्ताव की किसी भी चीज से हस्तक्षेप नहीं होगा।" कलकत्ता कांग्रेस में यह भी फैसला किया गया कि यदि सन् 1929 के अंत तक ब्रितानी सरकार ने नेहरू रिपोर्ट स्वीकार नहीं की तो कांग्रेस के अगले वर्ष के लाहौर अधिवेशन में एक नये नागरिक अवज्ञा आंदोलन का आह्वान होगा।

मतभेदों को एक समझौते द्वारा खत्म करके दल की एकता को मजबूत कर दिया गया था। अहमदाबाद में 6 साल का अवकाश लेने के बाद गांधीजी पुनः कांग्रेस के सर्वोच्च नेता के रूप में उभर रहे थे। उन्होनें मतभेदों को सद्भावनापूर्ण बातचीत द्वारा सुलझाना चाहा और कांग्रेसी एकता की स्थापना का मुख्य श्रेय भी उन्हीं को था। उन्होंने व्यवस्था की कि जवाहरलाल नेहरू लाहौर अधिवेशन के अवसर पर अपने पिता की जगह अध्यक्ष हों।

लाहौर अधिवेशन ने निश्चय ही कांग्रेस को पूर्ण स्वराज्य या संपूर्ण स्वाधीनता की मांग के लिए इस तरह प्रतिबद्ध कर दिया कि उस प्रश्न पर वह कोई समझौता न कर सके। अब राष्ट्रकुल के अंतर्गत औपनिवेशिक राज्य स्वीकार योग्य नहीं था। सुधारों को लेकर जो हिचकिचाहट होती थी—'हमेशा बहुत देर से हमेशा बहुत कम' आदि के अहसास से जो दिमागी परेशानियां होती थीं, वे खत्म हो गयीं।

31 दिसंबर, 1929 को जब घड़ियाल के घंटे 12 बजा रहे थे और नये वर्ष का आरंभ हो रहा था, जनता की एक अपार भीड़ ने जवाहरलाल नेहरू को रावी के तट पर राष्ट्रीय तिरंगे झंडे को फहराते हुए देखा। उसने सुना, नेहरू जी कह रहे थे : 'ब्रिटिश सत्ता के सामने अब अधिक झुकना मनुष्यता और ईश्वर दोनों के विरुद्ध अपराध है।'

बाहर एक नयी आशा थी। एक नयी उत्तेजना थी। हवा में स्वतंत्र होने के लिए संघर्ष करने वाली जनता का निश्चय भरा हुआ था।

5

स्वतंत्रता के संदेश

सन् 1931 और 1940 के बीच स्वतंत्रता का संघर्ष कई कदम आगे बढ़ा। दशक का प्रारंभ दूसरे असहयोग आंदोलन से हुआ, और अत दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारंभ में और युद्ध में भारत को बिना उसकी अनुमति लिए घसीटे जाने के विरोध में प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के साथ। लेकिन इसके पहले कि हम इन वर्षो के दौर की राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा की तलाश करें, हमारे लिए सन् 1920 और 1930 बीच की क्रांतिकारियों की आतंकवादी गतिविधियों और सन् 1930-40 के शुरू के कुछ वर्षो में निरंतर घटित घटनाओं की ओर ध्यान देना जरूरी है। इसी दौर में मजदूर आंदोलन भी सशक्त हुआ और देश के राजनैतिक चिंतन में समाजवादी और साम्यवादी विचारों ने जड़ें जमायीं। सन् 1930 और 1940 के बीच की इन स्थितियों ने राजनैतिक विकास को प्रभावित किया।

सिर्फ सन् 1928 में एक वर्ष की अवधि में देश में 203 हड़तालें हुई जिनमें 5 लाख 5 हजार मजदूरों ने हिस्सा लिया। बंबई और दक्षिण महाराष्ट्र की कपड़ा मिलों के क्रांतिकारी गिरनी कामगार संघों की सदस्यता में पर्याप्त वृद्धि हुई दक्षिण भारतीय, मद्रास और दक्षिणी मराठा रेलवे के मजदूरों ने क्रांति का आह्वान करने वाले मजदूर संघों की स्थापना की। शहर में **कीर्ति**, **मजदूर**, **किसान**, **स्पार्क** और **क्रांति** जैसे साम्यवादी समाचारपत्रों का प्रसार हुआ। युवक समितियों की स्थापना हुई जो कांग्रेस के उच्च मध्यम वर्ग के स्वराजी नेताओं से कम सहानुभूति रखने वाले निम्न मध्यम वर्ग के क्षेत्रों में लोकप्रिय हुई। यद्यपि उन समितियों ने समाजवादी संघर्ष के लिए अपने को अनुशासित तरीके से संगठित नहीं किया। उन्होंने न तो ऐसे मजदूर दलों की स्थापना की जिनमें शहरी मजदूर वर्ग को बड़ी संख्या में शामिल किया जाये और फिर उन्हें समाजवादी विचारधारा के आधार पर बेहतर जीवन स्तर के लिए आंदोलन करने का प्रशिक्षण दिया जाये, न ही उन्होंने भारतीय मजदूर को अंतर्राष्ट्रीय मजदूरों वर्ग के आंदोलन से संबद्ध करने का कदम उठाया।

जिस समय कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन और सर्वदलीय सम्मेलन हुआ उसी समय कम्युनिस्टों ने किसान-मजदूर दलों के पहले अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में सर्वहारा वर्ग के संघर्ष, बिना मुआवजा दिये सिद्धांत रूप में भूस्वामित्व की समाप्ति, अपेक्षाकृत छोटे कार्य दिवस और न्यूनतम मजदूरी, भाषण, मजदूर संघों के संगठन और

समाचारपत्रों की स्वतंत्रता की आवश्यकता पर बल दिया। उसने इच्छित अंतरिम लक्ष्य के रूप में सन् 1928 में कांग्रेस द्वारा औपनिवेशिक राज की स्वीकृति की आलोचना की।

ब्रितानी शासक वर्ग ने महसूस किया कि साइमन विरोधी प्रदर्शन में जो स्वतः प्रेरित उत्साह देखा गया था, वह वामपंथी दिशा में बढ़ रहा है। मजदूर समस्या को लेकर ह्विट्ले आयोग के नाम से एक दूसरे शासकीय आयोग की नियुक्ति हुई आयोग को भारत में आकर मालिक-मजदूर रिश्तों में सुधार और मजदूर कल्याण के कामों को बेहतर बनाने के उपायों का सुझाव देना था। वामपंथी आंदोलन को शक्ति देने वाले (सरकार की दृष्टि में) ये ही मुख्य स्रोत थे और विचार था कि मजदूर वर्ग को यह समझकर गुमराह कर दिया जाये कि समाजवाद और क्रांति के बारे में अस्पष्ट ढंग से बोलने वाले नेताओं की तुलना में मजदूरों के कल्याण की चिंता सरकार को अधिक है। लेकिन मजदूर उनके धोखे में नहीं आये। सन् 1929 में सुधारवादी ह्विट्ले आयोग का उसके भारत पहुंचने पर बहुत से मजदूर संगठनों द्वारा बहिष्कार किया गया। उन्हें याद आया कि सन् 1928 में सरकार ने केंद्रीय विधान परिषद द्वारा मजदूर विवाद विधेयक पारित करने और सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक में एक संशोधन कराने की कोशिश की थी। वे कदम न केवल मजदूरों के अहित में थे, वरन् उनके कारण सचमुच मजदूरों की कार्रवाई करने की स्वतंत्रता भी सीमित हो जाती थी। प्रस्तावित कानूनी कदमों का उद्देश्य था कि यदि कार्यपालिका समझती है कि प्रांतों में विधान और व्यवस्था खत्म हो जाने वाली है, तो उसे विधायिका के नियंत्रण से मुक्त करके हड़तालों को खत्म करने और आपातकालीन कार्रवाई करने के अधिकार प्राप्त हो पायें। वे कदम भारत के राजनैतिक दलों का उन विश्व संगठनों से कोष और सहायता के लिए संपर्क कर पाना अधिक कठिन बना देंगे जो भारत में वामपंथी विचारधारा का समर्थन करते हैं। केंद्रीय विधान परिषद के सदस्यों ने मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में उन विधेयकों को अस्वीकृत कर दिया।

मार्च, 1929 में बंबई में गिरनी कामगार संघ और रेल मजदूरों के संयुक्त आह्वान पर एक आम हड़ताल हुई। यह हड़ताल सन् 1928 की हड़तालों में भाग लेने वाले मजदूरों की बर्खास्तगी और उनकी जगहों पर पठान मजदूरों की भर्ती के विरोध में हुई थी। हड़ताली मजदूरों का तर्क था कि इन कार्रवाइयों का उद्देश्य मजदूर संगठनों की एकता को कमजोर बनाना था और उन्हीं के परिणामस्वरूप मिलों में हिंदू-मुस्लिम दंगे हुए। हड़ताल कानुपर और कलकत्ता में फैली। इसके तत्काल बाद 20 मार्च, 1929 को देश के विभिन्न भागों से मजदूर आंदोलन के 33 प्रमुख नेताओं को ब्रितानी राज के खिलाफ क्रांति करने के षड्यंत्र के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया। इन नेताओं में बाद के वर्षों के मशहूर कम्युनिस्टों मुजफ्फर अहमद, डांगे, मीरजाफर और पी.सी. जोशी के अलावा बंबई के कम्युनिस्टों की सहायता के लिए भेजे गये दो अंग्रेज कम्युनिस्ट बेन ब्रैडले और फिलिप स्प्रैट तथा कुछ गैर-कम्युनिस्ट क्रांतिवादी भी थे। वायसराय ने एक विशेष अध्यादेश जारी किया जिसके अनुसार विधान परिषद में अस्वीकृत दोनों विधेयकों को लागू करने के अधिकार मिल गये। 'षड्यंत्रकारियों' को मजदूर वर्ग की एकता के बड़े औद्योगिक

केंद्रों से दूर हटाकर मेरठ लाया गया। यहां पर कई साल तक, वास्तव में सन् 1933 तक, 'मेरठ षड्यंत्र केस' के नाम पर उन पर मुकदमा चलता रहा। अंततः अधिसंख्य बंदियों को दोषी घोषित करके उन्हें विभिन्न अवधि की जेल की सजा दी गयी। उनमें से कम्युनिस्टों ने अपने साम्राज्यविरोधी दृष्टिकोण और आदर्शों के औचित्य में अदालत में विस्तृत तर्क दिये लेकिन उसे दबा दिया गया।

नयी जानकारियों से पता चलता है कि सरकार ने जवाहरलाल नेहरू को भी एक षड्यंत्रकारी के रूप में गिरफ्तार करने का इरादा किया था लेकिन यह सोचकर कि उसके बाद आंदोलन भयंकर हो सकता है, इरादा बदल दिया। नेहरू ने मेरठ के नजरबंदों की कानूनी सहायता जरूर करनी चाही लेकिन सन् 1929-31 की घटनाओं के कारण कम्युनिस्टों के मुकदमे की सुनवाई के समाचार महत्वपूर्ण नहीं रह सके और उनकी ओर जनता का ध्यान नहीं गया।

बहरहाल, सन् 1929 में पूरे वर्ष भर हड़तालें चलती रहीं। अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (ए.आई.टी.यू.सी.) के नागपुर सम्मेलन में कांग्रेस नेताओं ने वामपंथी मजदूर संघों की ह्विट्ले आयोग के पूर्ण बहिष्कार और साम्राज्यवाद के विरुद्ध मजदूर संघ कांग्रेस को लीग से संबद्ध करने की मांग के प्रश्न पर समर्थन दिया था। एन.एम. जोशी गुट, जो इन मांगों के पक्ष में था, पराजित हुआ। उसने मजदूर संघ कांग्रेस को छोड़ कर अखिल भारतीय मजदूर महासंघ (ए.आई.टी.यू.एफ.) की स्थापना की। इस संगठन ने क्रांतिकारी उद्देश्यों का, यहां तक कि राजनैतिक मांगों तक का, परित्याग कर दिया। यह केवल मजदूरों की हालत को ठीक करने के उद्देश्य से चिपका रहा। लेकिन एक असलियत यह है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संगठित राष्ट्रीय आंदोलन में मजदूर वर्ग के अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिप्रिय गुट तक ने हिस्सा नहीं लिया। जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवनचरित में लिखा :

> मजदूरों के उन्नत वर्ग में राष्ट्रीय कांग्रेस को लेकर झिझक थी। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं पर विश्वास नहीं किया। उसकी विचारधारा को बुर्जुआ और प्रतिक्रियावादी माना। मजदूर दृष्टिकोण से ऐसा मानना सही था।

इस प्रकार असहमति की अंतर्विरोधी प्रवृत्तियों (जिसमें एक रूढ़िवादी थी और दूसरी परिवर्तनवादी) और सरकारी दमन ने सन् 1930-40 के बीच के राष्ट्रीय आंदोलन में मजदूरों की हिस्सेदारी को दुर्बल बनाया।

पंजाब, उत्तर प्रदेश और बंगाल में कांग्रेस की नरमपंथी अहिंसावादी नीतियों से निराश निम्न मध्यम वर्ग के युवकों ने आतंकवादी कार्रवाइयों को पुनः जीवित किया। सन् 1925 में उत्तर प्रदेश में मशहूर काकोरी षड्यंत्र केस हुआ जिसके अभियुक्तों में से रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनलाल और अशफाकउल्लाह को फांसी की सजा दी गयी। इस केस में बंगाली भी शामिल थे। शेष संदिग्ध व्यक्तियों में से कुछ गिरफ्तारी से बचकर गायब हो गये। सन् 1928 तक पुलिस की गिरफ्त में न आ सकने वालों में से सिर्फ चंद्रशेखर आजाद बचे थे। उन्होंने 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन सेना' का संगठन करने में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। इसका नाम बदलकर 'हिंदुस्तान

समाजवादी रिपब्लिकन संघ' रखा गया। लक्ष्य हुआ हिंदुस्तानी समाजवादी रिपब्लिक की स्थापना।

30 अक्तूबर, 1928 को साइमन आयोग अपनी जांच के लिए जब लाहौर पहुंचा तो पंजाब के कुशल नेता लाजपतराय के नेतृत्व में, विरोध में 'साइमन लौट जाओ' के परिचित नारों के साथ प्रदर्शन हुआ। पुलिस ने अहिंसक भीड़ को पीछे ढकेल देने के लिए लाठियां चलाई। लाजपतराय संघर्ष में बुरी तरह जख्मी हो गये और उनका देहावसान हो गया। जनमत ने लाठीचालन के जिम्मेदार पुलिस अधीक्षक सांडर्स को हिंदुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ के सदस्य और पंजाब नवजवान भारत सभा के नेता भगतसिंह ने गोली मार दी। वह अपने साथियों समेत पुलिस से बच निकलने में सफल रहे। सन् 1907 में जन्मे भगतसिंह प्रसिद्ध सरदार अजितसिंह के भतीजे थे। सन् 1928 में नवजवान भारत सभा ने पंजाब की कीर्ति किसान पार्टी से भी संपर्क किया था और अक्तूबर में भगतसिंह और उनके साथियों ने हिंदुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ (एच.एस.आर.ए.) की स्थापना के लिए दिल्ली में फीरोजशाह कोटला के नजदीक आयोजित बैठक में भाग लिया था। सभा को यकीन था कि एक जनसम्मत व्यापक क्रांतिकारी कार्रवाई देश को औपनिवेशिक दासता से मुक्त कर सकती थी। उसने नारा दिया : 'जनता द्वारा जनता के लिए क्रांति।' वह यह भी मानती थी कि गांवों में ऐसे राजनैतिक काम करने की जरूरत है जिनसे लोग उद्देश्य को समझ सकें। उसने बल देकर कहा कि आतंकवाद ही क्रांतिकारी संघर्ष का पहला और अनिवार्य चरण है जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत बहादुरी और बलिदान की आतंकवादी कार्रवाइयों के जरिये जनता को जागरूक बनाना है।

इन विश्वासों पर अमल करते हुए रिपब्लिकन संघ ने गुप्त अड्डों से निकल भारतीय जनता के सामने आने और अपनी कार्रवाइयों की पूरी जिम्मेदारी स्वीकार करने का फैसला किया। 8 अप्रैल, 1929 को केंद्रीय विधान परिषद में वित्त सदस्य ने मजदूर विवाद और जनसुरक्षा विधेयकों को एक विशेष अध्यादेश के जरिये लागू करने की घोषणा की ही थी कि इस निरंकुश दमन के विरोध के प्रतीक रूप में भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दर्शकदीर्घा से सरकारी कुर्सियों की ओर एक बम फेंका। उन्होंने सदन में 'रेड पेंफलेट' नाम से प्रकाशित पुस्तिकाओं की प्रतियां भी फेंकी। कोई घायल नहीं हुआ क्योंकि फूटने वाला बम मारक नहीं था। क्रांतिकारियों ने किसी को मारना या घायल करना नहीं चाहा था, लेकिन जैसा कि पुस्तिकाओं में बताया गया था, उनकी कोशिश थी कि 'बहरे सुनें'। उसके बाद उन्होंने अपने को यह सोचकर गिरफ्तार करा लिया ताकि वे अदालत को एक मंच के रूप में इस्तेमाल करके जनता पर अपनी विचारधारा स्पष्ट कर सकें। कम्युनिस्टों ने भी मेरठ में यही करने की कोशिश की थी।

कम्युनिस्ट मजदूर संगठनकर्ताओं और हिंदुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ की विचारधारा में कुछ मूलभूत पहलुओं को लेकर भिन्नता थी। लेकिन उनके तरीकों और सिद्धांतों में बहुत सी समानताएं स्पष्ट हैं। आमतौर पर दोनों ही गुटों ने जनता के सामने ब्रितानी साम्राज्यवाद की विभाजक चालों और उसके बर्बर दमन के विरुद्ध खुली चुनौती रखी। क्योंकि जनता साम्यवाद के लिए तैयार नहीं थी और सुविधाहीन निम्न मध्यम वर्ग में सन् 1905 के आंदोलन के दिनों

से ही आतंकवादी वीरों की पूजा करने की परंपरा चल पड़ी थी, अतः भगतसिंह और रिपब्लिकन संघ ने जनता का ध्यान अपनी ओर सबसे अधिक आकर्षित किया। उन्होंने लाहौर कांग्रेस के बाद शुरू किये गये नागरिक अवज्ञा आंदोलन में जनता को शामिल होने में मदद दी। लेकिन वास्तव में खुद कांग्रेस में ही एकता नहीं थी। गांधीजी और उनके कुछ सहयोगियों के लिए अहिंसा एक जीवन दर्शन थी। वे किसी भी परिस्थिति में किसी किस्म की हिंसा या आतंकवाद का मुकाबला नहीं कर सकते थे। वे क्रांतिकारी कार्रवाइयों के पूर्णतया विरुद्ध थे। कुछ दूसरे लोग थे जिन्होंने गांधीजी और उनके नेतृत्व और कार्यक्रम को यह मानकर स्वीकार कर लिया था कि उस वक्त की परिस्थितियों में वही उत्तम था और संभवतया उसी से सफलता मिल सकती थी। उन्होंने हिंसा का परित्याग यह महसूस करने के बाद किया कि सरकार के विरुद्ध लड़ाई बराबर की नहीं होगी। इन लोगों ने ऐसा महसूस किया कि यदि क्रांतिकारियों ने अपने ढंग से ब्रितानी शासन को कमजोर किया या स्वतंत्रता के संघर्ष में जनता का समर्थन प्राप्त किया तो वे आतंकवादी कार्रवाइयों से ब्रितानी साम्राज्यवाद पर एक और प्रहार समझें। ऐसे भी कुछ लोग थे जिन्होंने यह महसूस किया कि दोनों तरह के आंदोलन आवश्यक हैं। इसी तरह समाजवाद को लेकर कांग्रेस के भीतर मतभेद थे। कुछ लोग अपने विचारों में निष्ठा और ईमानदारी के साथ वामपंथी थे। कुछ ऐसे थे जिन्होंने स्पष्टतया इसका विरोध किया था। गांधीजी और उनके अनुयायियों ने एक ऐसे राजनैतिक और आर्थिक कार्यक्रम में विश्वास किया जिसका दावा था कि उसमें समाजवाद के—यहां तक कि साम्यवाद के—समतावादी समाज और धनसंचय विरोधी सिद्धांत शामिल हैं। लेकिन इसमें से साम्यवाद के स्वामित्व और व्यक्ति की तुलना में समुदाय को अधिक महत्वपूर्ण मानने के आरंभिक उसूलों को निकाल दिया गया था। वास्तव में गांधीजी ने ऐसे अत्यंत नैतिक व्यक्तियों के विकास का विश्वास किया था ताकि अनुकरणीय नागरिकों द्वारा जो आदर्श समाज निर्मित होगा, उसमें सरकार को शासन करने की बहुत थोड़ी आवश्यकता होगी।

इन्हीं कारणों से आतंकवादियों और कांग्रेसी नेताओं के बीच कोई वास्तविक संबंध सूत्र नहीं थे। यद्यपि दोनों के लक्ष्य एक ही थे। इसी वजह से नेतृत्व के निर्देशन और देखरेख के अभाव में जनता के मन में संघर्ष को लेकर पैदा हुए भाव कुछ खंडित और दुर्बल हो गये।

इसी तरह क्रांतिकारियों को जम कर लड़ने के जो अवसर मिले उनका पूरा लाभ उन्होंने स्वयं नहीं उठाया। उनका बलिदान और अपने को उत्सर्ग करने का आदर्श तथा संगठन की भावना की कमी ने सारे प्रभाव को कमजोर बना दिया। लगा कि इस सब को संचालित करने वाली एक गतिशील केंद्रीय शक्ति गायब थी।

सरकार ने भगतसिंह और उनके साथियों के खिलाफ मुकदमा चलाया जिसे लाहौर षड्यंत्र केस कहा गया। कुछ अभियोगियों ने, जिन्होंने राज के खिलाफ खुले युद्ध की घोषणा की थी, अपने साथ राजनैतिक बंदियों की जगह पर आम अपराधियों जैसा व्यवहार किये जाने का विरोध किया। अपने विरोध की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिये उन्होंने भूख हड़ताल

की। अतः जेल अधिकारी उन्हें जबरदस्ती खिलाने के लिये इस वजह से विवश हो गये कि कहीं वे शहीदों की तरह मर न जायें। लेकिन जतीनदास ने कहा, "मैं अंत तक डटा रहूंगा।" उन्होंने भोजन और दवा लेने से इंकार कर दिया। 13 सितंबर, 1929 को उनका स्वर्गवास हो गया। उनका शव रेलगाड़ी से कलकत्ता ले जाया गया। सारे रास्ते में शोकाकुल भीड़ मिली जो उनके अंतिम दर्शन करने आयी थी।

भगतसिंह और दूसरे बहुत से क्रांतिकारियों ने सन् 1925 के बाद अपने विश्वासों को मार्क्सवाद की मूलभूत विचारधारा से जोड़ लिया था। अब उनमें से बहुतों ने (चाहे वे जेल में थे या जेल के बाहर) व्यक्तिगत आतंकवाद और बहादुरी के काम पर नये सिरे से सोचा और अंततः जनता द्वारा समाजवादी क्रांति के पक्ष में उन्हें तिलांजलि दे दी। इसके परिणामस्वरूप उत्तर भारत में आतंक निरंतर घट गया।

लाहौर कांग्रेस के पूर्ण स्वराज के प्रस्ताव के पहले कुछ दूसरी घटनाए भी विकसित हुई थीं। सन् 1931-1940 के बीच के स्वतंत्रता के संघर्ष को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उन घटनाओं पर सावधानीपूर्वक ध्यान देना आवश्यक है। ब्रिटेन में आम चुनाव हुए थे और लेबर दल ने सत्ता संभाल ली थी। भारतीय राष्ट्रवादिता के तब तक के मित्र और समाजवादी रेम्जे मैकडोनाल्ड नये प्रधानमंत्री हुए थे। लेकिन उनका झुकाव ब्रितानी साम्राज्यवाद के मूलभूत आदर्शों के बचाव की ओर था। इससे उनके भारतीय प्रशंसक निराश हुए। वायसराय लार्ड इरविन राय-मशवरे के लिये इंग्लैंड गये। वहां से लौटने पर उन्होने अक्तूबर, 1929 में घोषणा की कि साइमन आयोग की अंतिम रिपोर्ट के बाद एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जायेगा जिसमें अधिकतम स्वायत्तता के अधिकारों के संदर्भ में प्रस्तावों पर सभी दलों की सहमति के लिये बातचीत होगी। सन् 1929 के अंतिम दिनों में गांधीजी और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में आयोजित एक सर्वदलीय सम्मेलन ने इरविन की अक्तूबर की उस घोषणा का स्वागत करते हुए एक ज्ञापनपत्र पर हस्ताक्षर किये जिसमें ब्रिटेन की सदाशयता के प्रमाण के लिए सभी राजनैतिक बंदियों को आम काफी देने की बात कही गयी थी। जवाहरलाल नेहरू ने सुभाषचंद्र बोस के साथ एक जवाबी ज्ञापनपत्र निकालने की योजना बनाई थी जिसमें सिद्धांतों पर पहले से अधिक अटल रहने पर बल दिया गया होता। लेकिन उनके पिता और गांधीजी दोनों ने (जो इस वक्त तक उनके उपदेशक बन चुके थे) उन्हें पहले ज्ञापनपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिये राजी कर लिया। मुहम्मद अली जिन्ना भी दिल्ली के ज्ञापनपत्र से सहमत थे पर वह चाहते थे कि दिल्ली के ज्ञापनपत्र में इरविन के घोषणापत्र का बिना शर्त समर्थन होता तो अधिक अच्छा होता। इस प्रकार लाहौर कांग्रेस के प्रसिद्ध स्वतंत्रता प्रस्ताव के ठीक पहले राष्ट्रवादियों का मोर्चा एकता से बहुत दूर था। मतभेद नयों और पुरानों में थे। नरमपंथियों का प्रभाव खत्म होने लगा था। उनमें और युवकों का प्रतिनिधित्व करने वाले वामपंथी नेताओं में मतभेद थे। इस वर्ग ने खासतौर पर युवकों की भावनाओं पर प्रभाव डाला था। उनमें पूर्ण स्वराज के लिये अडिग और औपनिवेशिक दर्जा प्राप्त करके संतुष्ट हो जाने वालों में मतभेद थे। एक तरफ गांधीजी तथा मोतीलाल नेहरू

थे और दूसरी तरफ जवाहरलाल नेहरू, सुभाष तथा उनके क्रांतिप्रिय गुट के लोग। इन सारे मतभेदों के बीच केवल युवक नेहरू थे जिन्होंने सन् 1930-40 की राजनीति को दिशा दी।

जैसा कि होना था, वायसराय ब्रितानी सरकार से वे रियायतें दिला पाने में अक्षम रहे जिनकी उम्मीद दिल्ली के ज्ञापनपत्र से की गयी थी। परिणाम यह हुआ कि इरविन और क्रांतिविरोधियो के बीच की मैत्री टूट गयी। लाहौर कांग्रेस से ठीक पहले 23 दिसंबर को जब गांधी, मोतीलाल और जिन्ना उनसे मिले तो उन्होंने बताया कि वह गोलमेज सम्मेलन में सरकार को किसी भी बिदु पर प्रतिबद्ध करा पाने की स्थिति में नहीं होंगे। अंततः गांधीजी वामपंथियों की बिना शर्त पूर्ण स्वराज की मांग के पक्ष में हो गये। बताया जाता है कि उन्होंने कहा था, "मैंने डटे रहने का फैसला कर लिया है।" दूसरी तरफ कुछ लोग यह महसूस करते हैं कि वामपंथी खेमे मे शामिल होकर उन्होंने वामपंथियों की अडिगता की स्थिति को कमजोर बना दिया।

30 दिसंबर को लाहौर में उस समय, जबकि शहर हिंदुस्तान समाजवादी रिपब्लिकन संघ की कार्रवाइयों से बुरी तरह थर्राया हुआ था, कांग्रेस ने दिल्ली के ज्ञापनपत्र का अनुमोदन करते हुए एक प्रस्ताव स्वीकार करते हुए कहा कि लार्ड इरविन के कथन को दृष्टि मे रखते हुए गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के भाग लेने से कोई फायदा नहीं होगा। उसने घोषणा की कि मोतीलाल नेहरू समिति द्वारा निर्मित संविधान की योजना की अवधि समाप्त हो गयी है और अब जरूरी है कि पूर्ण स्वराज के लिये आंदोलन शुरू हो।

कांग्रेस के प्रस्ताव में इसे नागरिक अवज्ञा कहा गया था। यथार्थवादी गुट ने इसका मतलब विधायिका, कार्यपालिका तथा अन्य सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार लगाया। गांधीजी ने उसका समर्थन इसलिए किया था कि वह युवकों द्वारा प्रतिपादित हिंसक क्रांति से डरते थे। उन्होंने कहाः "केवल नागरिक अवज्ञा ही देश को आसन्न अराजकता और गुप्त अपराध से बचा सकती है क्योंकि देश में एक हिंसक दल है जो सीधी कार्रवाई में विश्वास करता है। वह भाषणो, प्रस्तावों और सम्मेलनों पर ध्यान नहीं देगा।" संघर्ष को विधान परिषदों के भीतर चलाने के स्वराजियों के निर्णय को छोड़ दिया गया था, लेकिन सुभाष द्वारा प्रस्तुत यह प्रस्ताव कि रचनात्मक ढंग से एक क्रांतिकारी आंदोलन का संगठन किया जाये और कांग्रेस को देश में एक समानांतर सरकार स्थापित करने के लक्ष्य से मजदूरों, किसानों और जवानों को संगठित करना चाहिए, पराजित हो गया।

लेकिन, स्वतंत्रता आंदोलन के आंतरिक ढांचे को दुर्बल करने वाले अंतर्विरोधों को स्वीकार करने के बावजूद हम एकता भाव की उस वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सकते जो 1 जनवरी, 1930 को देखने को मिली। कांग्रेस की पूर्ण स्वराज की मांग के प्रति व्यापक पैमाने पर आम जनता ने सहानुभूति दिखायी। मांग के औचित्य को केवल युवकों ने ही नहीं वरन् कांग्रेस की पुरानी पीढ़ी के लोगों, नरमपंथी स्वराजियों और यथार्थवादियों ने भी स्वीकार किया। उन्होंने उस वक्त ईमानदारी के साथ महसूस किया कि सरकार भारतीय लोगों को स्वायत्त शासन नहीं देगी, अतः स्वाधीनता ही एकमात्र रास्ता था जिस पर भारत आगे बढ़ सकता था। केवल मुस्लिम

लीग, ब्रितानी सरकार से सहयोग करने वाले विश्वासघाती और उदारपंथियों ने ही पूर्ण स्वराज की मांग का अनुमोदन नहीं किया था। वे अल्पमत में थे। 'साइमन लौट जाओ' आंदोलन ने व्यापक एकता की जो भावना पैदा की थी, वह इस सीमा तक अभी भी बनी रही।

स्वतंत्रता आंदोलन चलाने के लिए सुभाषचंद्र बोस तथा अन्य नेताओं ने छोटे छोटे गिरोहों की स्थापना की। जो इच्छा व्यक्त की थी, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन सन् 1930 में देश में हर जगह आंदोलन को जो व्यापक समर्थन मिला वह बहुत दूर तक गांधीजी के राष्ट्रवादिता, आत्मसम्मान और गांवों में रचनात्मक कार्य करने के संदेश का परिणाम था।

नागरिक अवज्ञा आंदोलन की तैयारी

सन् 1930 की जनवरी का महीना भारत में अत्यंत उत्साह का महीना था। आंदोलन शुरू करने की न कोई तिथि निश्चित हुई थी, न ही किसी कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की गयी थी। इसका फैसला गांधीजी पर छोड़ दिया गया था। बदले में गांधीजी ने मौखिक रूप में यह आश्वासन दिया था कि आंदोलन (जैसा कि चौरी चौरा कांड के बाद हुआ था) स्थगित या समाप्त नहीं किया जायेगा। नेहरूजी ने अपने जीवनचरित में इसकी ओर संकेत करते हुए लिखाः

> उन्होंने (गांधीजी ने) हम लोगों में यह धारणा पैदा की कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन, शुरू हो जाने पर, हिंसा की छिटपुट कार्रवाइयों के कारण खत्म नहीं किया जायेगा. ..इस आश्वासन ने हम लोगों को काफी हद तक सतुष्ट कर दिया।

स्वतंत्रता के एक घोषणापत्र को 26 जनवरी, 1930 को पूरे देश में अधिक से अधिक लोगों तक सार्वजनिक ढंग से पहुंचाना था। उसे स्वीकार किया गया। माना गया था कि इस तिथि को नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू होगा। इस तिथि को स्वतंत्रता दिवस घोषित किया गया।

स्वतंत्रता के घोषणापत्र की शुरुआत ही ऐसी भाषा में की गयी थी जिसने साम्राज्यवाद विरोधियों, उदारपंथियों, क्रांतिप्रिय जनतंत्रियों और भारतीय समाजवादियों, सभी को समान रूप से प्रभावित किया। आंदोलन शुरू करने का कारण :

> हम विश्वास करते हैं कि किसी भी देश की जनता की तरह भारतीय जनता को स्वतंत्र होने, अपने परिश्रम का फल भोगने और जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने का अविच्छेद अधिकार है ताकि उसे अपने विकास का पूरा अवसर मिल सके। हम यह भी मानते हैं कि अगर कोई सरकार जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है, उसका दमन करती है तो जनता को उस सरकार को बदलने या खत्म कर देने का अतिरिक्त अधिकार है। भारत की ब्रितानी सरकार ने भारतीयों को

> न केवल उनकी स्वतंत्रता से वंचित रखा है बल्कि वह जनता के शोषण पर टिकी हुई है। उसने भारत को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से बरबाद कर दिया है। अतः हम मानते हैं कि भारत को निश्चय ही ब्रिटेन से संबंध तोड़ कर पूर्ण स्वराज प्राप्त करना चाहिए।

लेकिन जिन कारणों से घोषणापत्र ने हर वर्ग और गुट को समान ढंग से प्रभावित किया था, उन्होंने कुछ मुद्दों पर विवाद भी पैदा किया। प्राचीन हस्तशिल्प और कृषिजन्य पैदावार सदियों से भारतीयों के जीवनयापन का सहारा थी। उनके विनाश को देश की आर्थिक बरबादी का कारण बताया गया था। नये रूपों में धन को निरंतर ब्रिटेन भेजते रहने की भी चर्चा की गयी थी। लेकिन आधुनिक औद्योगीकरण की समस्याओं का कोई जिक्र नहीं किया गया था। हालांकि यह भी उसी अनुपात में ब्रितानी पक्षपात का शिकार हुआ था। राजनैतिक बरबादी का दोष 'शिक्षा की प्रणाली' को दिया गया था, जो स्पष्टीकरण के रूप में सचमुच पर्याप्त नही था। घोषणापत्र के अनुसार आध्यात्मिक बरबादी का कारण अनिवार्य निरस्त्रीकरण था। भारतीयों को हथियार रखने की अनुमति नहीं थी। देश में विदेशी सेना ने पड़ाव डाल रखा था। आंतरिक सुरक्षा के लिए विदेशी सेना पर आश्रित रहने की भावना पैदा हो गयी थी। इन सभी के परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के संघर्ष में हथियार के रूप में गांधीवादी अहिंसक नागरिक अवज्ञा का औचित्य सामने आया।

> हमारी यह मान्यता है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रभावकारी रास्ता हिंसा से होकर नहीं गुजरता है। अतः जहां तक संभव हो सकेगा हम स्वैच्छिक ढंग से ब्रितानी सरकार से अपने संबंधों को खत्म कर देने की तैयारी करेंगे। हम नागरिक अवज्ञा के लिए तैयार होगे जिसमें करो का भुगतान न करना भी शामिल होगा। हमारी निश्चित धारणा है कि भड़काये जाने की स्थिति तक में यदि हम हिसा का सहारा न लेकर स्वेच्छा से दी जाने वाली अपनी सहायता बंद कर दें और करों की अदायगी रोक दें तो इस अमानवीय शासन का अंत निश्चित है।

इसके बाद एक वाक्य था जिसमें पूर्ण स्वराज की स्थापना के लिए कांग्रेस से समय समय पर मिलने वाले निर्देशों पर अमल करने का वायदा था।

जिस 'चौमुखी विनाश' ने देश को आच्छादित कर रखा था उसके विश्लेषण में समाजवादी विचारों की छाया नहीं थी। कार्यकारिणी समिति ने जो तरीका अपनाया था, वह था विदेशी शासकों से हृदय परिवर्तन के आग्रह का। लेकिन इसकी सफलता शासक वर्ग के रवैये पर आश्रित थी।

इसी समय गांधीजी ने अपने पत्र यंग इंडिया में एक लेख लिखा जिसमें प्रशासनिक सुधार के 11 सूत्रों का प्रतिपादन था। उनको विश्वास था कि यदि इरविन ने सुधार के उन सूत्रों को स्वीकार कर लिया तो नागरिक अवज्ञा आंदोलन रोका जा सकेगा। अभी भी वह अपनी

कार्रवाइयों की योजना को लेकर निश्चित नहीं थे। महान भारतीय कवि और राष्ट्रवादी तथा कहीं अधिक परिवर्तनकामी रवींद्रनाथ टैगोर ने पूछा तो गांधीजी ने उत्तर दिया :

> मैं रात-दिन क्रोधोन्मत्त होकर सोच रहा हूं लेकिन कोई रोशनी अंधेरे के बाहर आती दिखाई नहीं देती है।

कुछ देर से, यानी 6 मार्च, 1930 को उन्होंने इरविन को पत्र लिखते हुए उन बुराइयों को तत्काल समाप्त करने की मांग की जिनका जिक्र उनके 11 सूत्रीय लेख में था। उन्होंने पत्र में यह संकेत किया था कि यदि मांगें स्वीकृत नहीं हुई तो उन्हें ब्रितानी कानूनों को ऐसे तरीके से तोड़ना पड़ेगा जो किसानों को ग्राह्य होगा। जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवनचरित में विवशतापूर्वक टिप्पणी की :

> जब हम लोग विशेष ढंग से स्वतंत्रता की बात कर रहे थे तब राजनैतिक और सामाजिक सुधारों की सूची बनाने का क्या औचित्य था? जब गांधीजी ने ऐसा कहा तो क्या उनका तात्पर्य भी वही था जो हमारा था या हम लोगों ने कोई और भाषा बोली थी?

नमक सत्याग्रह

अंततः गांधीजी ने निश्चय किया। वह 12 मार्च, 1930 को अपने चुने हुए 78 अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम छोड़ देंगे और गुजरात के गांवों से होते हुए 200 मील दूर समुद्र तट पर स्थिति दांडी तक की पैदल यात्रा करेंगे। वहां पर वह अपने अनुयायियों ने साथ खुले ढंग से कानून तोड़ते हुए समुद्र से नमक बनायेंगे। गांधीजी की दांडी यात्रा के साथ साथ देशवासियों में आमतौर पर राष्ट्रीय चेतना की एक बिजली दौड़ गयी। एक दुबली पतली किसान-सी दिखती आकृति—अपनी छड़ी के सहारे कदम रखते हुए गांधीजी जैसे-जैसे आगे बढ़ रहे थे, पूरी राह में ग्रामीण जनता उनके दर्शन के लिए उमड़ती आ रही थी। वह नमक कानून तोड़ने जा रहे थे। क्योंकि सरकार द्वारा कर लगाने के कारण रोज की जरूरत की एक चीज की कीमत बढ़ गयी थी। स्वयंसेवकों के झुंड के झुंड आकर उनके साथ होते गये। एक शांतिपूर्ण कारवां दांडी की ओर बढ़ रहा था।

सारे देश में, बड़े शहरों के निम्न मध्यम वर्ग के लोगों में, उत्साह की एक तीव्र लहर दौड़ गयी। इसकी एक अभिव्यक्ति था नागरिक अवज्ञा आंदोलन में स्त्रियों का प्रवेश। 30 अप्रैल के यंग इंडिया में गांधीजी ने भारतीय स्त्रियों से चरखे पर सूत कातने और अपने घरों के एकांत से बाहर निकलकर विदेशी वस्तुएं और शराब बेचने वाली दूकानों तथा सरकारी संस्थानों पर धरना देने का आग्रह किया था। इसके पहले बहुत कम औरतों ने सार्वजनिक किस्म के राजनैतिक

प्रदर्शनों में हिस्सा लिया था। उनमें से भी अधिकतर या तो चित्तरंजन दास या मोतीलाल नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेताओं के परिवार से संबद्ध थीं या बड़े शहरों की कालेज छात्राएं थीं। इस बार अपेक्षाकृत बहुत ज्यादा औरतों ने आंदोलन में हिस्सा लिया और अपने अपने को गिरफ्तार कराया। केवल दिल्ली मे, जो कि उन दिनों पुरानपंथी शहर था 1,600 औरतों को राजनैतिक कार्रवाइयों के लिए जेल की सजा मिली। बंबई में बहुत बड़ी संख्या में प्रथम वर्ग की औरतों ने राष्ट्रीय संघर्ष में हिस्सा लिया। अंग्रेज पर्यवेक्षकों तक ने लिखा है कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन से और किसी उद्देश्य की पूर्ति हुई हो या नहीं, उसने बड़े पैमाने पर भारतीय स्त्रियों को सामाजिक मुक्ति दिलाने का महान कार्य किया। आंदोलन का यह एक सकारात्मक पहलू था। 75 वर्षों के सामाजिक सुधार के आंदोलन को भारतीय स्त्रियों को मुक्ति करा पाने में जो सफलता नहीं मिली थी, वह इस आंदोलन ने हफ्तों में प्राप्त कर ली।

इस बीच अप्रैल-मई, 1930 की गर्मी में कांग्रेस के छोटे-बड़े स्वयंसेवकों ने नमक कानून का उल्लंघन किया। इसके पहले कि गांधीजी धरसना के सरकारी भंडार पर सत्याग्रह करके नमक बनाते, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी जगह पर अब्बास तैयबजी आंदोलन के नेता हुए। तैयबजी बंबई के महान राष्ट्रवादी मुस्लिम परिवार के वंशधर थे। उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरी नेता आग उगलने वाली कवयित्री और राष्ट्रवादी सरोजिनी नायडू थीं। 21 मई के श्रीमती नायडू के धरसना पर धावा बोलने के प्रयत्न का विशद वर्णन वेब मिलर नाम के एक अमरीकी पत्रकार ने किया जो घटनास्थल पर बड़ी कठिनाई से पहुंच पाये थे:

> यात्रा शुरू करने के पहले श्रीमती नायडू ने प्रार्थना का आग्रह किया। एकत्रित सारे लोग झुक गये। उन्होंने उद्बोधन करते हुए कहा, "भारत की प्रतिष्ठा आपके हाथों में हैं, आप पर मार पड़ेगी लेकिन आप उसका प्रतिरोध नहीं करेंगे। यहां तक कि बचाव में भी आप अपने हाथ नहीं उठायेंगे।" भारी जयजयकार के साथ उनका भाषण खत्म हुआ।
>
> स्वयंसेवकों ने धीरे धीरे और शांतिपूर्वक आधे मील की नमक भंडार की यात्रा पूरी की। नमक के भंडारों को हर ओर से पानी भरी खाइयों से घेर रखा गया था। उसकी रखवाली के लिए सूरत पुलिस के 400 सिपाही तैनात थे। उन्हें आदेश देने के लिए आधा दर्जन अंग्रेज अधिकारी थे। पुलिस के पास पांच-फुटी लाठियां थीं, जिनके सिरों पर लोहे जड़े थे। कंटीलें तारों के भीतर, जहां पर भंडार था, 25 बंदूकधारी जवान खड़े थे।
>
> ...धारा 144 हाल ही में लागू हुई थी जिसके अनुसार किसी भी एक जगह पर पांच आदमी से अधिक एकत्र नहीं हो सकते थे। पुलिस अधिकारियों ने यात्रा करने वालों को तितर बितर हो जाने का आदेश दिया। एक चुना हुआ दस्ता चेतावनी की चुपचाप उपेक्षा करता हुआ आगे बढ़ा...देशी पुलिस के दर्जनों जवान आगे बढ़ते हुए

> स्वयंसेवकों पर झपट पड़े और अपनी लोहेजड़ी लाठियों से उनके सिरों पर बेतहाशा मारना शुरू किया। स्वयंसेवकों में से एक ने भी बचाव में अपना हाथ ऊपर नहीं उठाया...मैंने असुरक्षित खोपड़ियों पर बरसती हुई लाठियों की घातक तड़तड़ाहट सुनी। इंतजार करती हुई भीड़ हर तड़तड़ाहट के साथ स्वयंसेवकों की सहानुभूति में आहें भरती रही।
>
> ...दो तीन मिनटों में जमीन घायल शरीरों से भर गयी। उनके सफेद कपड़ों पर खून के बड़े-बड़े धब्बे फैल गये...जब पहले दस्ते के सभी लोग गिर गये, तब स्ट्रेचरवाहक झपट कर वहां पहुंचे और आहतों को उठाकर ले गये। पुलिस ने वाहकों से छेड़खानी नहीं की।
>
> तब तक दूसरा दस्ता तैयार हो गया। नेता उनसे आत्मनियंत्रण रखे रहने की पैरवी करते रहे। स्वयंसेवक आगे बढ़े...इस बार उन्हें उद्‌बुद्ध करने के लिए कोई गान, कोई जयजयकार नहीं हुई ऐसी कोई संभावना नहीं थी जो उन्हें जख्मी होने या मरने से बचा सके। पुलिस झपटी और उसने विधिवत और मशीनी ढंग से दूसरे दस्ते को धराशायी कर दिया...मैंने एक के बाद एक 18 आहतों को उठाकर ले जाये जाते हुए देखा...42 जख्मी अभी भी जमीन पर पड़े हुए स्ट्रेचर-वाहकों के इंतजार में थे। उनके शरीरों से खून बह रहा था।

इसके बाद भारतीय पुलिस के सिपाहियो का विस्तार से वर्णन था, जो तितर-बितर होने के आदेश का उल्लंघन करने वाली प्रतीक्षारत भीड़ को आगे बढ़कर मार-मारकर गिरा रही थी। मिलर की अपनी प्रतिक्रिया थी :

> कई बार प्रतिरोधविहीन व्यक्तियों को विधिवत मार कर खून से लथपथ कर देने वाले दृश्य देखकर मैं बीमार जैसा अनुभव करने लगा। इतना बीमार कि मैंने उधर से अपनी निगाह घुमा ली...मुझे असह्य क्रोध और नफरत का ऐसा अहसास हुआ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

अहिंसक संगठन लगभग कई अवसरों पर टूटा। नेताओं को बुरी तरह से उत्तेजित व्यक्तियों को गांधीजी के आदेश याद रखने का आग्रह करना पड़ा। ऐसा लगा कि निहत्थी भीड़ पुलिस पर व्यापक ढंग से टूट पड़ने ही वाली थी। अंग्रेज पुलिस अधीक्षक अपने बंदूकधारियों को एक छोटी-सी चोटी पर ले गया और भीड़ पर गोली चलाने को तैयार हो गया। लेकिन नेता स्वयंसेवकों पर नियंत्रण रखने में सफल हो गये।

दोपहर के 11 बजते बजते मौसम बहुत गर्म हो गया था। तापमान 116 डिग्री फार्नहाइट पर पहुंच गया था और प्रदर्शन समाप्तप्राय था। 320 व्यक्ति बुरी तरह जख्मी हुए थे और 2 की मृत्यु हुई थी। उनकी सेवा करने वाले राष्ट्रवादी डाक्टरों की संख्या कम थी।

जब मिलर ने अपना संवाद विश्व प्रेस को भेजना चाहा तो उसे अधिकारियों ने तत्काल रोक दिया ओर बाद में उसे सेंसर कर दिया। काफी बाद में मिलर ने उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया।

गांधीजी की गिरफ्तारी के विरोध में सारे देश में प्रदर्शन आयोजित हुए। बंबई में भिंडी बाजार, वाडला और साल्पैन में दंगे भड़क उठे लेकिन जो जुलूस यूरोपीय आवासों के रास्ते से गुजरा वह बिल्कुल शांतिपूर्ण था। मद्रास में पुलिस ने अंधाधुंध पिटाई की। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में विदेशी कपड़ों का सबसे अधिक बहिष्कार हुआ। उत्तर प्रदेश में किसानों और जमींदारों से राजस्व न अदा करने का आह्वान किया गया। अक्तूबर, 1930 के बाद किसानों से कहा गया कि वे जमींदारों को लगान न दें। मध्यप्रांत में जंगल कर के विरुद्ध सत्याग्रह किया गया। कर्नाटक में 'कर का भुगतान न करने का' एक सफल आंदोलन हुआ।

आंदोलन का तेजी से प्रसार हुआ और वह देश के दूर दराज क्षेत्रों तक पहुंच गया। पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत की पश्चिमी पहाड़ियों में पठान आदिवासी ब्रितानी शासन के विरुद्ध प्रायः विद्रोह करते रहे थे। इस पांत के पश्चिमी वानू और कोहाट के नदी घाटी क्षेत्र और डेरा इस्माइल खां और पेशावर के लोग स्थानीय सरदारों के अंतर्गत अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण ढंग से रह रहे थे। कारण, वहां खेतीबाड़ी की सुविधाएं थीं।

पेशावर के नजदीक के एक गांव उतमनजई के एक सरदार खान अब्दुल गफ्फार खां ने पहली पठान शिक्षा समिति शुरू की थी। उन्होंने सन् 1919 में हिजरत और पठानों के समर्थन में कार्य किया था जिसके कारण उन्हें पहले जेल में और फिर एक लंबे समय के लिए प्रांत से बाहर निर्वासन में रखा गया। सन् 1929 के कुछ पहले ही वह लौटे थे। उनके बड़े भाई डाक्टर खां साहब को आधुनिक शिक्षा का लाभ प्राप्त था। अब्दुल गफ्फार खां ने बड़े भाई के साथ अहिंसक गांधीवादी आंदोलन के समर्थन में बहुत से पठानों को संगठित किया था। वह अपनी चारित्रिक शक्ति और दृढ़ता के लिए इतने अधिक लोकप्रिय थे कि उन्हें 'सीमांत गांधी' कह कर पुकारा जाने लगा था। उन्होंने पहले पराम जिगा या कबाली समिति की एक राष्ट्रवादी शाखा का संगठन किया। यह शाखा कांग्रेस की स्वयंसेवक टुकड़ियों की तरह थी जो खुदाई खिदमतगार नाम से लोकप्रिय हुई वे अपनी वर्दी के कारण लाल कुरती (रेड शर्ट) के रूप में भी पुकारे जाने लगे। उन्होंने पठानों की क्षेत्रीय राष्ट्रवादिता के लिए तथा उपनिवेशवाद और हस्तशिल्प के कारीगरों को गरीब बनाने के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्हें गरीब किसानों और शहर के हस्तशिल्प के कारीगरों दोनों का व्यापक समर्थन मिला। 1930 में खुदाई खिदमतगारों की संख्या 80 हजार थी। देश के दूसरे भागों में गांधीवादी नेताओं को अपने अनुयायियों पर नियंत्रण रखने में जितनी कठिनाई हुई, उससे कहीं अधिक कठिनाई खान अब्दुल गफ्फार खां को अपने अनुयायियों की हिंसक उत्तेजना पर नियंत्रण करने में हुई

20 अप्रैल, 1930 को बकरीद के अवसर पर बड़ी संख्या में पेशावर में गरीब किसान जमा होने वाले थे। नागरिक अवज्ञा आंदोलन इसी मौके पर शुरू किया जाने वाला था। सीमा के

बहुत से कबायली मैदानी इलाकों में मौसमी काम खत्म करने के बाद ईद के उत्सव में भाग लेने के लिए उपस्थित थे और जल्द ही अपने घर लौट जाने वाले थे। जब स्थानीय कांग्रेसी जन गिरफ्तार हो गये तो शहरी भीड़ विरोध में उठ खड़ी हुई और उसने उन्हें पुलिस की गिरफ्त से छुड़ा लेने की कोशिश की। कबायली भी उस भीड़ के साथ हो गये। आक्रोश बढ़ गया और दोनों ओर से गोलियां चलीं। एक जनविद्रोह शुरू हो गया। पेशावर के विद्रोह को कुचल देने के लिए जो ब्रितानी बख्तरबंद गाड़ियां भेजी गयीं थी, उन्हें रोकने के लिए अवरोध खड़े कर दिये गये। अधिकारियों और नगर के अभिजात वर्ग के लोगों ने सेना की छावनी में शरण ली। इसी के साथ साथ लड़ाकू सिख सुधारकों और राष्ट्रवादी अकालियों ने सेना के भारतीय सिपाहियों में विद्रोह भावना पैदा करना शुरू कर दिया था। जब रायल गढ़वाल राइफल्स के दो प्लाटूनों के क्रैकहिल सैनिकों को भीड़ पर गोली चलाने का आदेश दिया गया तो उन्होने अपने एक साथी चंद्रसिंह गढ़वाली के अनुरोध पर ध्यान दिया और गोली चलाने से इंकार करते हुए अपने मुसलमान पठान भाइयों के साथ मित्रवत व्यवहार करना शुरू कर दिया। यह एक और प्रमाण था 'फूट डालो और राज्य करो' की ब्रितानी नीति की दुर्बलता का। यदि इन शोषित लोगों को संगठित रहने की शिक्षा पहले ही दे दी जाती तब नीति सफल न हो पाती।

छावनी से आये अंग्रेज सैनिकों ने ब्रितानी प्लाटूनों को घेर लिया और बाद में उन पर सैनिक न्यायालय के कानून के अनुसार (कोर्ट मार्शल) मुकदमा चला। उनके कुछ नेताओं को विद्रोह करने के अपराध में मृत्युदड दिया गया। बहरहाल, मई के प्रारंभ में पहाड़ियों के अफरीदी और मुहम्मद कबीले के लोग विद्रोह में शामिल होने के लिए पेशावर तक पहुच गये। पंजाब मे, विशेषकर अकालियों की तरफ से, पेशावर के प्रति एकता का प्रदर्शन किया गया। उन्होंने वहां के स्थानीय विद्रोहियों की सहायता के लिए अपना एक दस्ता भेजा। इस दस्ते को झेलम नदी पर ब्रितानी सैनिकों ने रोक लिया। अंततः ब्रितानी सेना दंड देने की मुहिम पर पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में प्रवेश कर गयी और कबालियों को खदेड़कर पहाड़ियों में वापस भगा दिया।

- पूर्वी बंगाल के बंदरगाह चिटगाव में एक कुशल आतंकवादी सूर्यसेन के नेतृत्व में, वहीं के निम्न-मध्यवर्ग के युवकों ने एक सशस्त्र विद्रोह करने की कोशिश की थी। श्री सेन ने सन् 1918 में बंगाल के एक क्रांतिकारी गुट के सदस्य के रूप में अपनी कार्रवाइयों की शुरुआत की थी। बाद में वह सन् 1921 में असहयोग आंदोलन में शामिल हुए और एक स्थानीय राष्ट्रवादी स्कूल में शिक्षक बन गये। इन गुटों ने एक साथ ही पूर्व बंगाल के शस्त्रागारों पर आक्रमण करने और सशस्त्र विद्रोह करने की योजना बनाई

सूर्यसेन के नायब अंबिका चक्रवर्ती, एक स्थानीय कांग्रेसी लोकनाथ बाल तथा बाद के वर्षो में एक मशहूर कम्युनिस्ट गणेश घोष ने स्थानीय स्कूल-कालेज के छात्रों को क्रांतिकारी कार्रवाइयों के लिए प्रेरित और संगठित किया। इनमें आनंद गुप्त और तेगरा बाल (टाइगर) जैसे तरुण और कल्पना दत्त तथा प्रीतिलता वादेदार सरीखी साहसी युवतियां थीं।

सूर्यसेन ने 18 अप्रैल, 1930 को चिटगांव नगर में, भारतीय रिपब्लिकन सेना की चिटगांव

शाखा की ओर से, एक घोषणापत्र जारी किया जिसमें भारतीयों से ब्रितानी शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान किया गया था। उसी रात अपने सहयोगियों सहित चिटगांव में चार केंद्रों पर यूरोपियों पर आक्रमण करने के लिए निकल पड़े। भेष बदलने की गरज से उन्होंने ब्रितानी भारत की सेना की वर्दियां पहन लीं और 50 युवकों के साथ पुलिस शस्त्रागार पर आक्रमण किया। यह घटना चिटगांव शस्त्रागार आक्रमण के नाम से जानी गयी।

लेकिन जल्दबाजी में आक्रमणकारी लूटी हुई लेविस बंदूकों और राइफलों के लिए कारतूस ले जा पाने में सफल नहीं हुए। पुलिस के सहायक महानिरीक्षक की देखरेख में एक सरकारी टुकड़ी ने (जो शस्त्रों आदि की दृष्टि से बहुत संपन्न नहीं थी) उन पर आक्रमण कर दिया और उन्हें नगर से खदेड़कर चिटगांव के पार की पहाड़ियों में चले जाने पर विवश कर दिया। 22 मई को ब्रितानी रेजीमेंट ने अपने जलालाबाद पहाड़ी क्षेत्र में 57 क्रांतिकारियों को घेर लिया, लेकिन उनमें से बहुत से क्रातिकारी गुरिल्ला युद्ध शुरू करने के लिए बच निकलने में सफल रहे। वहां 64 ब्रितानी सैनिक मरे पड़े थे। तेगरा बाल गोलीचालन शुरू होने के बाद ही घायल हो गये थे। लोकनाथ से उन्होंने अंतिम शब्द कहे, "मैं जा रहा हूं; युद्ध अंत तक करना।"

बंगाल में क्रांतिकारी आतंकवाद इसी के बाद फैला। अगस्त में ढाका के मिटफोर्ड हास्पिटल स्कूल के छात्र विनय बोस ने पुलिस के एक वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारी की (ढाका में) गोली मार कर हत्या कर दी और गिरफ्तारी से बच निकले। श्री बोस दिसंबर में बादल और दिनेश के साथ कलकत्ता के डलहौजी स्क्वेयर स्थित सरकारी मुख्यालय राइटर्स बिल्डिंग्स में घुसे। उन्होंने जेलों के महानिरीक्षक को उसके कार्यालय में ही गोली मार दी और गलियारो से भागते हुए सामने पड़ने वाले यूरोपीय अधिकारियों को अपनी पिस्तौलों का निशाना बनाते गये। पकड़े जाने के बजाय बादल ने साइनाइड खाकर अपना अंत कर दिया। विनय और दिनेश ने खुद को गोली मार ली। विनय कुछ दिनों के बाद मर गये। दिनेश बच गये थे। उन पर मुकदमा चला और उन्हें फांसी दी गयी।

आतंकवाद को उत्तर भारत में दक्ष चंद्रशेखर आजाद ने जिंदा रखा। पुलिस ने उनके साथियो को पकड़ लिया और बम आदि मिलने के स्रोतों का पता लगा लिया लेकिन वह गिरफ्त में नहीं आ सके। फरवरी, 1931 में पुलिस के विश्वासघात के कारण इलाहाबाद के एलफ्रेड पार्क में लड़ते लड़ते वह वीरगति को प्राप्त हुए। उनका शरीर गोलियों से छलनी हो गया था। उसके पहले सन् 1930 में सरकार ने लाहौर षड्यंत्र केस अध्यादेश के अंतर्गत ऐसे उच्च कानूनी अधिकार प्राप्त कर लिये, जिनकी मदद से वह गवाही के सामान्य नियमों और अपील के अधिकार के बिना भगतसिंह और उनके साथियों पर मुकदमे चला सकती थी। 7 अक्तूबर को भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को मृत्युदंड और उनके दूसरे साथियों को आजीवन देशनिकाले की सजा दी थी। उनमें से बहुतों को पोर्टब्लेयर (अंडमान) स्थित कुख्यात सेलुलर जेल में नजरबंद रखा गया।

क्रांतिकारी आतंकवादियों के ये आक्रमण पूर्वी बंगाल और उत्तर प्रदेश के निम्न मध्यम

वर्ग के युवकों की देशभक्ति के आवेग का प्रतिबिंब सामने लाते हैं। ये आवेग राष्ट्रीय आंदोलन के परंपरागत रास्तों के जरिये अभिव्यक्ति नहीं पा सकते थे। अहिंसा का गांधीवादी दर्शन भी उनकी कल्पना को आकर्षित नहीं कर पाया, अतः वे आतंकवाद के रास्ते पर मुड़े। लेकिन उसमें हिस्सा लेने वाले लड़के-लड़कियों के साहस के बावजूद उनकी हिंसक कार्रवाइयों में ही उनके अभिशाप के बीज छिपे हुए थे, इसलिए सरकारी पुलिस और सेना की शक्ति के सामने उनकी असफलता निश्चित थी। ब्रितानी सरकार सचमुच भयभीत नहीं थी। उसने केवल एक कठोर निश्चय किया था। क्रांतिकारी आतंकवादियों की जड़ें उखाड़ फेंकने और उन्हें बरबाद कर देने का एक कारण यह था कि आतंकवादी आक्रमणों की स्फूर्ति में बाद में एक सहानुभूतिपूर्ण जनविद्रोह नहीं हुआ। चूंकि आम जनता को आतंकवादियों ने न तो संगठित किया था और न ही उसे राजनीति के रग में रंगा था, अतः वह हिंसक क्रांति लाने या उसमें हिस्सा लेने के लिए तैयार नहीं थी।

पर अन्य जगह पर मजदूरों द्वारा जन विद्रोह हुआ था। वह जगह थी शोलापुर, दक्षिणी महाराष्ट्र का रूई पैदा करने वाला जिला। यहां पर नागरिक अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत, स्थानीय कांग्रेस समिति द्वारा स्थापित 'युद्ध परिषद' द्वारा मई में हुई नगर में राष्ट्रीय झंडा फहराया गया था जबकि पुलिस तथा ब्रितानी राज के वफादार नागरिक और अधिकारियों ने भागर रेलवे स्टेशन पर शरण ली थी।

शोलापुर का समाचार सुनकर ब्रितानी अधिकारियों ने ब्लैकआउट कर दिया। दो हजार अंग्रेज सैनिकों को व्रिदोह को दबाने के लिए शोलापुर भेजना पड़ा। बहुत से विद्रोही क्रांतिकारियों को या तो फासी के तख्ते पर लटका दिया गया या जेल में डाल दिया गया।

इन क्रांतिकारी कार्रवाइयो के साथ साथ बहुत से किसान आंदोलन फैले। इनको बढ़ाने का कारण सन् 1930-40 के बीच का 'कर न चुकाने का' आंदोलन था। लेकिन इसकी जड़ें भू-स्वामियों द्वारा किसानो के शोषण की गहराई में थीं।

दुनिया भर के पूंजीवादियों की संकट की स्थिति के कारण कृषिजन्य पैदावारो की कीमत अंतर्राष्ट्रीय बाजार में गिर गयी थी। जैसे जैसे बिक्री में किसानों के मुनाफे का हिस्सा कम हुआ, वे भूमिस्वामियो को लगान के रूप में और सरकार को राजस्व तथा दूसरे करों के रूप में बकाया अदा करने में निरंतर असमर्थ होते गये।

उत्तर प्रदेश की कांग्रेस समिति (जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे) ने मार्च, 1930 में एक प्रस्ताव पास करके सुझाव दिया कि भूमि कर में कमी करने, साहूकारों को केवल आंशिक मुआवजा देकर सभी कर्जो के भुगतान की कानूनी मोहलत लेने और किसानों को बेदखल करने के भूस्वामियों के स्वैच्छिक अधिकार को सीमित करने के मसलों को भी राष्ट्रीय कार्यक्रम में शामिल किया जाना चाहिए। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने केवल भू-कर में कमी का प्रस्ताव स्वीकार किया जिससे किसान और भू-स्वामी दोनों ही संतुष्ट हुए। उसने दूसरे मसलों को स्वीकार नहीं किया।

'कर न चुकाने का' आंदोलन अवध के इलाहाबाद जिले में शुरू हुआ, जहां एम.एन.राय और उनके अनुयायियों ने गांवों में समाजवादी विचारधारा का प्रचार करने में कांग्रेस का साथ दिया। पूर्व बंगाल के किशोरगंज क्षेत्र में केवल पटसन की खेती होती थी। पूंजीवादी दुनिया में मंदी आ जाने के कारण पटसन की कीमतें गिर गयीं और उसे पैदा करने वाले किसान संकटग्रस्त हो गये। उन्होंने लगान की अदायगी बंद कर दी। कलकत्ता के मजदूरों ने उन्हें सहानुभूति और समर्थन दिया। किशोरगंज में किसानों के उस आंदोलन को दबाने के लिए कलकत्ता से सैनिक टुकड़ियां भेजनी पड़ीं। बरार के वुलदाना जिले में दूकानदारों और साहूकारों ने किसानों की मुख्य फसल कपास खरीद ली और उन्हें इतनी निर्दयतापूर्वक चूस लिया कि वे विपत्ति में पड़ गये। स्थानीय भू-स्वामियों ने किसानों और खेतिहरों का शोषण करने की अपनी रफ्तार तेज कर दी। अतः दिसंबर में वुलदाना के मजदूरों और खेतिहरों ने एक किसान संघ की स्थापना की जिसने कर, लगान और सूद की अदायगी न करने का आह्वान किया। किसान स्वयंसेवकों ने संगठित रूप से कर वसूल करने वाले ब्रितानी अधिकारियों का प्रतिरोध किया। वे नगाड़े बजाते हुए गांव गांव घूमे, भू-स्वामियों और साहूकारो की सपत्ति तथा फसल को जब्त किया और उनके घरों में आग लगा दी। इस काम ने विभिन्न जातियों को, हिंदुओं और मुसलमानों सभी को समान ढंग से एकबद्ध किया। यह ग्रामीण गरीबों का वास्तविक विद्रोह था। एक बार फिर विद्रोह को कुचलने के लिए पुलिस की सहायता में सेना की टुकड़ियां भेजनी पड़ीं। इस तरह के किसान विद्रोहों की ओर विश्व का, यहां तक कि देश का भी, ध्यान इस तरह आकर्षित नहीं हुआ जैसे दाडी यात्रा के अवसर पर हुआ था। लेकिन उसने अखिल भारतीय किसान सभा के प्रारंभिक केंद्र बिंदु का निर्माण किया। सभा ने काफी हद तक किसान वर्ग में यह चेतना जगाई कि साम्राज्यवाद ही वे परिस्थितियां पैदा करने को जिम्मेदार था जिनमें उसका शोषण किया जा रहा था। युद्धोन्मुख किसानो ने अपने वर्ग के लिये संघर्ष किया लेकिन उन्होंने शहरों के उन साहसी क्रांतिकारियों से भी सहानुभूति दिखाई जो देहाती क्षेत्रों में काम कर रहे थे। अतः हमें पता चलता है कि उन जन आंदोलनों में विभिन्न तार जुड़े थे जो सन् 1930 के नागरिक अवज्ञा से निकले। उनमें से सभी का संगठन गांधीवादी अहिंसा के आधार पर नहीं हुआ था।

शासकीय प्रतिक्रिया

जन आंदोलनों के हिंसक रूप लेने के पहले भी सरकारी प्रतिक्रिया में समझौते की बात बिल्कुल नहीं थी। इमर्सन नाम के भारतीय नागरिक सेवा (आई.सी.एस.) के एक अधिकारी दिल्ली में गृह विभाग के सचिव थे। पूर्व बंगाल में एक जिला अधिकारी की हैसियत से उन्होंने दमन में बड़ा नाम कमाया था। उन्होंने नागरिक अवज्ञा आंदोलन पर बुरी तरह प्रहार किया। अप्रैल, 1930 के आखिरी दिनों में अध्यादेश जारी किये गये। प्रेस से जमानतें मांगी गयीं। कांग्रेस संगठनों को गैरकानूनी करार दिया गया। सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह उनकी संपत्ति

जब्त कर ले। कानून तोड़ने वालों को बहुत बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया। मई के प्रारंभ तक कांग्रेसी नेता जेल में ठूंस दिये गये। उसके बाद कांग्रेस के नेताओं, कार्यकर्ताओं से लेकर उनसे सहानुभूति रखने वालों तक पर जुल्म ढाना शुरू हुआ।

कांग्रेस ने विभिन्न लोगों द्वारा सरकार के विरुद्ध लगाये जोर जुल्म के आरोपों की जांच के लिए एक गैरसरकारी आयोग की नियुक्ति की। आयोग के नतीजों को **कांग्रेस के आरोप-पत्र** शीर्षक से प्रकाशित किया गया। उसमें देश के विभिन्न भागों में किये गये अधिकारियों के अत्याचारों के उदाहरण थे। ब्रितानी सिपाहियों ने जन विद्रोह शुरू हो जाने पर शहरों में राह चलते औरतों-मर्दों पर जो बर्बर अत्याचार किये थे, उनकी हर जगह की कहानी एक ही जैसी थी। पहली बार मद्रास में एक ऐसे व्यवहार की बात सुनी गयी जो बाद में सारे देश में आम हो गयी थी।

गैरकानूनी ढंग से एक जगह जमा होने वाले लोगों का चालान करने का पुलिस ने एक नया तरीका अपनाया। वह विभिन्न केंद्रों में धरना देने वाले लोगों को इकट्ठा करती, फिर उन्हें लारी में बैठाती और फिर शहर से काफी दूर ले जाकर उन्हें छोड़ देती। अब वे चाहे जैसे भी हो, घर वापस पहुंचे। उनके पास पैसे भी नहीं होते थे।

कर्नाटक के अंकोला और सिद्दापुर ताल्लुकों के 2,000 व्यक्तियों के 330 परिवारों की जमीनें जब्त कर ली गयीं। 116 मकानों पर से मालिकों के अधिकार खत्म कर दिये गये। उनकी चल संपत्ति कुर्क कर दी गयी। दंडित व्यक्ति प्रायः गरीब थे जिनके पास सीमित माल-असबाब होता था। सिद्दापुर में 37 औरतो ने उन लोगों के दरवाजों पर भूख हड़ताल की थी जिन्होंने जब्त संपत्ति नीलामी में खरीदी थी। लेकिन यह तथ्य कि अभी भी ऐसे लोग थे जो संपत्ति खरीदने को तैयार थे, प्रमाणित करता है कि गांधीजी के दर्शन को उस वक्त तक सारे देश ने स्वीकार नहीं किया था।

बंगाल में गोली-लाठीचालन एक आम बात हो गयी थी। पुलिस ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। वहा उसने कक्षाओं में घुस घुस कर निर्दोष छात्रों को बेरहमी से पीटा। गुजरात में किसानों ने राज्य सीमा पार कर बड़ौदा की रियासत में विस्थापित होना शुरू किया। भारत के अग्रेज मित्र एच.एन.वेल्सफोल्ड ने इस अद्‌भुत विस्थापन को रिपोर्ट में लिखा ·

> कुछ ने अपनी अच्छी फसलें जला दीं क्योंकि उनकी कटनी काफी देर से होने वाली थी और वे उसे उठाकर नहीं ले जा सकते थे। मैं उनके एक कैंप में गया। उन्होंने रहने के लिए दीवार की जगह पर चटाइयां घेर रखी थीं। छत खजूर के पत्तों की थी। मैंने उनके एक बड़े गिरोह से पूछा कि उन्होंने क्यों अपने घर द्वार छोड़ दिये? औरतों ने सबसे जल्द और सीधा-सा उत्तर दिया, 'क्योंकि महात्मा जी जेल में हैं'। पुरुषों में अभी भी आर्थिक संकट की चेतना थी, 'खेतों में कोई लाभ नहीं है और कर अन्यायपूर्ण है'। एक दो ने कहा 'स्वराज पाने के लिए'।

वेल्सफोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में विस्तारपूर्वक लिखा था कि सूरत की पुलिस ने किस तरह घर लौटने के इच्छुक लोगों को धमकाया।

पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले में गुरखा सैनिकों और सामूहिक जुर्माना करने वाली पुलिस ने जोर जुल्म की बागडोर बिलकुल ढीली कर दी। यहां तक कि उन्होंने औरतों तक को नहीं बख्शा। किसानों ने खुशी-खुशी सारे विनाश को बर्दाश्त किया। उनकी झोपड़ियां और अन्य संपत्ति बरबाद कर दी गई लेकिन उसके बावजूद उन्होंने कर देने से इंकार कर दिया।

पहला गोलमेज सम्मेलन

यह सारी विपत्ति पैदा करने वाले साइमन आयोग ने सन् 1930 के मध्य में अंततः अपनी रपट प्रस्तुत की। नवंबर में ब्रितानी सरकार ने लंदन में रैम्जे मैकडोनाल्ड की खुद की अध्यक्षता में पहले गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। यह सम्मेलन भारत के सर्वदलीय सम्मेलन का एक संस्करण था। कांग्रेस ने स्वभावतया उसका बहिष्कार किया। अन्य भारतीय सदस्यों तथा देशी राजाओं के प्रतिनिधियों ने सहमति दी कि देशी रियासतों को शमिल करके एक भारतीय संघ बनाना चाहिए जिसमे संसदीय प्रणाली की सरकार हो। औपनिवेशिक हैसियत का सामूहिक दायित्व पर आधारित कार्यपालिका का एक मंत्रिमंडलीय स्वरूप सम्मेलन को स्वीकार्य था।

इसके तत्काल बाद ही कार्यकारिणी के उन सदस्यों को रिहा कर दिया गया जो जेल में थे। गोलमेज सम्मेलन के प्रतिनिधियो के भारत लौटने पर तेजबहादुर सप्रू गांधीजी से मिले और उन्हें कांग्रेस के नाम पर लार्ड इरविन से मिलने और बातचीत करने के लिए राजी कर लिया।

इसी दौरान दिसंबर 1930 में मुस्लिम लीग ने इलाहाबाद के अपने सम्मेलन में नागरिक अवज्ञा आंदोलन का खुलकर विरोध किया। इसी करण इरविन को यह दावा करने का मौका मिल गया—क्योंकि गांधीजी उस वर्ग के हितों की बात नहीं करते, अतः कांग्रेस भारत के सभी लोगों की प्रतिनिधि नहीं है।

गांधी-इरविन समझौता

17 फरवरी से 5 मार्च, 1931 तक गांधीजी इरविन से समझौते की बातचीत करते रहे। कांग्रेस का स्वतंत्रता का प्रस्ताव और 26 जनवरी का वायदा, दोनों की समझौते की बातचीत के दौरान उपेक्षा की गयी। इससे नेहरू और दूसरे वामपंथी नेता बहुत दुखी हुए। गांधीजी ने सहमति दे दी थी कि पहले गोलमेज सम्मेलन में जो समझौते हुए थे उसके आधार पर विचार विमर्श का सिलसिला शुरू होगा। सरकार द्वारा यह आश्वासन दिये जाने पर कि हानि उठाने वालों को हर्जाना मिलेगा, नागरिक अवज्ञा आंदोलन समाप्त कर दिया जायेगा। 5 मार्च, 1931 को दिन के ढाई बजे बातचीत के परिणामों पर विचार विमर्श करने के लिए कार्यकारिणी की बैठक हुई और उसमें दो वर्ग हो गये। समझौते की बातचीत के लिए इरविन के तैयार होने को बहुत

से लोगों ने कांग्रेस की सफलता माना और उसकी प्रशंसा की। कुछ अन्य लोग उससे सहमत नहीं हुए। महात्मा गांधी ने निजी तौर पर नेहरूजी के सामने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया। बाद में नेहरूजी ने लिखा :

> यह अर्थ लगाना कि सराकर के स्वरूप को लेकर, समझौते की दूसरी धारा ने विचार विमर्श की संभावना पैदा की; मेरी समझ से ऐसा तर्क था जो जबरन थोप दिया गया था। मैं कायल नहीं हुआ लेकिन उनकी बातों से मुझे थोड़ी सांत्वना मिली। एक दो दिन तक मैं अनिश्चय में पड़ा रहा। नहीं जानता था कि क्या किया जाये। उस समझौते को बचाने का कोई प्रश्न नहीं था, तब...

वास्तव में 5 मार्च को दोनों पक्षों ने समझौते पर हस्ताक्षर किये। उसे 'गांधी-इरविन समझौता' के नाम से जाना गया।

गांधीजी ने वायसराय के साथ अपनी बातचीत में बहुत से मसले उठाये थे। एक प्रश्न उन राजनैतिक बंदियों के क्षमादान को लेकर था जिन्हें विशेष अध्यादेशों के अंतर्गत हिंसक कार्रवाइयों के लिए दंडित किया गया था। वस्तुतया गांधीजी ने उन अध्यादेशों को वापस लेने की पैरवी की थी। उन्होंने उन लोगों को हर्जाना दिलाने की बात की थी जिनकी जमीनें जब्त कर ली गयी थीं। गांधीजी द्वारा उठाये गये इन सभी प्रश्नों को लेकर इरविन अपनी बात पर अड़े रहे। उन्होंने कुछ क्षेत्रों में भूमिकर कुछ कम करने की रजामंदी जाहिर की लेकिन भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के मृत्युदंड की सजा खत्म कर देने के बड़े मसले पर उन्होंने गांधीजी के आग्रह को न केवल दृढ़तापूर्वक अस्वीकार कर दिया बल्कि यह भी कहा कि वह उसे स्थगित करने को भी तैयार नहीं है। 23 मार्च, 1931 को तीनों को फांसी पर लटका दिया गया। अनेक बहानों की आड़ में सरकार ने दमनकारी कदमों में भी किसी तरह की ढिलाई नहीं की। गांधीजी ने जो रियायतें चाही थीं, उन्हें पाने में सफल नहीं हुए।

कराची कांग्रेस

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी दिये जाने के 6 दिन बाद 29 मार्च को लाहौर के बाद पहली बार कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के आधिकारिक इतिहास लेखक पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार उस वक्त भगतसिंह का नाम सारे देश में गांधीजी की ही तरह लोकप्रिय हो गया था। वस्तुतः गांधीजी को कराची पहुंचने पर एक विरोधी प्रदर्शन का सामना करना पड़ा। अधिवेशन में आतंकवादियों की वीरता और उनके व्यक्ति-बलिदान की प्रशंसा में एक प्रस्ताव स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया गया था। यह कांग्रेस की अहिंसक कट्टरपंथिता के विरुद्ध था और गांधीजी ने उसे केवल तब स्वीकार किया जब उसकी मूल शब्दावली में संशोधन किया गया। प्रस्ताव नये रूप में यों थाः

> किसी भी तरह की राजनैतिक हिंसा से अपने को अलग रखते और उसे अमान्य करते हुए कांग्रेस उनकी वीरता और बलिदान के प्रति अपनी प्रशंसा को लिखित ढंग से व्यक्त कर रही है।

सुभाषचंद्र बोस के समर्थन से युवक स्वयंसेवकों ने उस संशोधन का विरोध किया था लेकिन वे बहुत थोड़े से मतों से पराजित हो गये।

कुल मिलाकर कराची अधिवेशन का महत्वपूर्ण राजनैतिक प्रस्ताव मद्रास और कलकत्ता अधिवेशनों की समझौते की स्थिति पर वापिस आ गया। इसने पूर्ण स्वराज की मांग की लेकिन गांधी और इरविन के उस समझौते को भी स्वीकार किया जिसने लक्ष्यों पर पुनर्विचार करने का रास्ता खोल दिया था। अस्वाभाविक नहीं है कि जनवरी, 1930 की उत्साह की लहर कुछ हद तक कम होने लगी। उस वक्त की स्थिति में जनता की हिस्सेदारी की संभावनाएं बहुत कम थीं। दूसरे कदम का फैसला नेताओं को ही करना था।

लेकिन एक अर्थ में कराची कांग्रेस ने जनवरी, 1930 के रास्ते पर एक अगला कदम रखा। मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति पर एक प्रस्ताव पास हुआ जो भविष्य के जनतंत्र में कांग्रेस के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमों का रूप प्रस्तुत करता था। इसके स्वरूप का निर्धारण स्पष्ट ढंग से पहले नहीं किया गया था। इसके मुख्य मुद्दे थे :

1. लोकसम्मत मौलिक अधिकारों का आश्वासन,
2. जनता के सभी वर्गो से जातीय और धार्मिक लाचारियों की समाप्ति,
3. विभिन्न क्षेत्रों की राष्ट्रीय भाषाओं का विकास और भाषाई आधार पर भारत के प्रांतों का गठन,
4. करों में कमी,
5. बहुत सी देशी रियासतों और पिछड़े क्षेत्रों में प्रचलित बेगार की प्रथा की समाप्ति,
6. नमक कर की समाप्ति,
7. मजदूरों के विशेषाधिकारों की सुरक्षा। जैसे काम करने की स्वस्थ स्थितिया, न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण, बेरोजगारी का बीमा, आठ घंटे प्रतिदिन का काम और छुट्टियों का वेतन।

यद्यपि कराची कांग्रेस ने अर्द्धसामंती भू-स्वामियों की बड़ी जागीरों की समाप्ति की मांग करने में अपने को असमर्थ पाया लेकिन उसने भूमि सुधार सबंधी अपना एक कार्यक्रम तैयार करने का काम शुरू कर दिया। इससे साबित होता है कि सन् 1930 की कार्रवाइयों में वामोन्मुखी क्रांतिकारी प्रवृत्तियों की वास्तविक असफलता के बावजूद, कांग्रेसी नेताओं को, किस तरह पिछले चार वर्षो के जन विद्रोह के परिणामस्वरूप परिवर्तनवादी जनतंत्र के कम से कम कुछ उसूलों को स्वीकार करना पड़ा। स्वतंत्रता संग्राम के शेष वर्षो में राष्ट्रवादी नेताओं को इन्हीं जनतांत्रिक सिद्धांतो के झंडे के नीचे चलना पड़ा। इस तरह, अगर एक तरफ कराची अधिवेशन समझाने-बुझाने के तर्क के जरिये भीतरी और बाहरी मतभेदों को समाप्त कर देने में गांधीवादी

दर्शन की राजनैतिक सफलता का द्योतन करता है तो दूसरी ओर वहीं से कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तनकारी, समाजवादी प्रवृत्तियों के प्रभावशाली ढंग से आने का सूत्रपात होता है।

दूसरा गोलमेज सम्मेलन और सांप्रदायिक प्रश्न

कांग्रेस अधिवेशन के तत्काल बाद ही कराची में किसान मजदूर पार्टी और अखिल भारतीय युवा लीग के भी सम्मेलन हुए। किसान पार्टी ने मजदूरों और किसानों के प्रश्न पर एक ऐसा कार्यक्रम स्वीकार किया जो कांग्रेस के 'मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति' के प्रस्ताव से एक कदम आगे था। युवा लीग ने पूर्ण स्वराज के संघर्ष को जारी रखने की मांग की। इसने गांधी-इरविन समझौते और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस के भाग लेने के निर्णय की भी निंदा की।

दूसरी तरफ सांप्रदायिकता की समस्या तीव्रता से बढ़ रही थी। 24 और 25 मार्च, 1931 को कानुपर में हिंसक सांप्रदायिक दंगे हो चुके थे जिनमें दोनो ओर के कुछ व्यक्ति मारे गये थे। यह सांप्रदायिक दंगों के दोबारा फैलने का परिचायक था। इसके बाद ही जिन्ना तथा प्रतिक्रियावादी मुसलमानों के गुट ने कांग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रमों से अपने को अलग कर लेने की घोषणा की।

सन् 1931 में अप्रैल से लेकर जून तक, कांग्रेस गोलमेज सम्मेलन में अपने उस दृष्टिकोण पर विचार विमर्श करती रही जो उसने प्रस्तुत किया था। सरकार एक बड़े प्रतिनिधिमंडल को स्वीकार करने के लिए तैयार थी लेकिन इसके बावजूद कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने के लिए सिर्फ गांधीजी को चुना गया। यदि गांधीजी के साथ डा. अंसारी जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान भी लंदन गये होते तो मुमकिन है कि ब्रितानी जनमत को यह विश्वास दिलाया जा सकता था कि कांग्रेस निश्चय ही प्रगतिशील मुसलमानों के मत का प्रतिनिधित्व करती है। इसके बदले कांग्रेस ने यह उम्मीद की थी कि सम्मेलन में डा. अंसारी का मनोनयन उनके अपने ही अधिकार के नाते हो जायेगा। सुभाषचंद्र बोस ने भी बताया कि गांधीजी ने यह कहना शुरू कर दिया था, "अगर मुसलमानों ने नये संविधान में प्रतिनिधित्व और निर्वाचन मंडल के प्रश्न पर संयुक्त मांग की तो वह उसे स्वीकार कर लेंगे।" बाद में गांधीजी का स्पष्ट ढंग से यह कहना कि पृथक निर्वाचन मंडल की मांग स्वीकार नहीं करेंगे, सुभाषचंद्र बोस की दृढ़ता और राष्ट्रवादी मुसलमानों के निम्नलिखित वक्तव्य का ही परिणाम था :

> यदि किन्हीं कारणों से महात्मा ने हिंदुओं और मुसलमानो के लिए एक ही निर्वाचन मंडल की मांग त्याग कर प्रतिक्रियावादियों की मांग स्वीकार की तो वे (राष्ट्रवादी मुसलमान) महात्मा और प्रतिक्रियावादी मुसलमानों का विरोध करेंगे क्योंकि वे इस

तथ्य के कायल थे कि पृथक निर्वाचन मंडल न केवल सारे देश के लिए बुरे थे बल्कि विभिन्न संप्रदायों के लिए भी।

अप्रैल में लार्ड इरविन की जगह पर लार्ड विलिंग्डन वायसराय होकर आये। नये वायसराय उदारवादी रुख अपनाने के लिए मूलतया कम तैयार थे। उन्होंने गांधीजी की यह शिकायत नहीं मानी कि प्रांतीय सरकारें राजनैतिक अपराधियों को दंडित करने के सिलसिले में गांधी-इरविन समझौते की शर्तों की अवहेलना कर रही है। वायसराय ने मतभेदों को सुलझाने के लिए मध्यस्थता करने वाले एक मंडल की नियुक्ति के गांधीजी के आग्रह को भी ठुकरा दिया। उनके अधिकारियों का विश्वास था कि ऐसा करना कांग्रेस की सत्ता को समानांतर धरातल पर स्वीकार करना होगा। इस बीच में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में खुदाई खिदमतगारों ओर उत्तर प्रदेश में 'कर न चुकाने के' आंदोलनकारियों को सताने का सिलसिला चलता रहा। गांधीजी ने अगस्त में लंदन जाने से इंकार करते हुए मसले को उभारने की कोशिश की लेकिन विलिंग्डन अपनी जिद पर अड़े रहे। उन्होनें डा. अंसारी को गोलमेज सम्मेलन के लिए मनोनीत न करने के अपने फैसले को भी इस आधार पर बरकरार रखा गया कि दूसरे मुसलमान प्रतिनिधि उन्हे स्वतंत्र प्रतिनिधि के रूप में भेजने का इसलिए विरोध कर रहे थे कि वह कांग्रेस के सदस्य थे। असलियत यह थी कि ब्रितानी सरकार फूट डालो और राज्य करो की अपनी नीति के अनुसार सांप्रदायिकतावादी हिंदुओं और मुसलमानों के हाथ मजबूत करने के लिए कृतसंकल्प थी। एक ओर डा. अंसारी जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान के मनोनयन को अस्वीकृत किया गया और दूसरी ओर हिंदू, सिख और मुसलमान सांप्रदायिकतावादियों को उस सीमा तक प्रतिनिधित्व दिया गया जो देश में उनके राजनैतिक प्रभाव के अनुपात में बहुत बड़ा था। अंततः गांधीजी शिमला में वल्लभभाई पटेल, प्रभाशंकर पाथानी और जवाहरलाल नेहरू के साथ वायसराय से मिलने के बाद तैयार हो गये। उन्हें सरकार से सूरत के कुछ गांवों में जबरदस्ती राजस्व वसूल किये जाने के मामलों की जांच कराने का वायदा मिल गया, लेकिन 'कांग्रेस द्वारा अब तक उठाये गये अन्य मामलों' के बारे में उन्हें कोई आश्वासन नहीं मिला। महात्मा ने यह जरूर कहा कि यदि जांच असफल हुई तो कांग्रेस बचाव की दृष्टि से सीधी कार्रवाई करने को स्वतंत्र होगी। लेकिन 15 अगस्त, 1931 को जब उन्होंने लंदन के लिए प्रस्थान किया तो निश्चत रूप से मान लिया गया कि वह उनकी दुर्बलता का प्रतीक था।

ये सारी चीजें सितंबर से लेकर दिसंबर, 1931 तक चलने वाले दूसरे गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की असफलता का पूर्वसंकेत थीं। अन्य प्रतिनिधि पहले ही पहुंच चुके थे लेकिन गांधीजी सम्मेलन शुरू होने के केवल एक दिन पहले पहुंचे। वहां के मजदूरों ने उनका शानदार स्वागत किया। वह लंदन के पूर्वी सीमांत पर ठहरे थे और वहां लंकाशायर का दौरा किया। यद्यपि कांग्रेस के विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का उस क्षेत्र पर बहुत बुरा असर पड़ा था, लेकिन वहां के मजदूरों ने भारतीय जनता के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन किया। लेकिन ब्रितानी मंत्रियों और बहुत से सांप्रदायिकतावादी नेताओं ने राष्ट्रवादी नेताओं को उलझाने

का एक रास्ता पहले से ही ढूंढ़ निकाला था। गांधीजी ने संविधान संबंधी सुधार के मसले को अभी भी प्राथमिकता दी लेकिन उन लोगों ने इसके पहले सांप्रदायिक एकता पर बातचीत शुरू करने का बार बार आग्रह किया। अल्पसंख्यक समिति में इस मुद्दे पर गतिरोध पैदा हो गया। इस समिति की बैठक की अध्यक्षता प्रधानमंत्री ने की थी। उन्होने कहा कि सभी सदस्य अपने हस्ताक्षर के साथ सांप्रदायिक प्रश्न के हल के लिए एक संयुक्त प्रार्थना पत्र उन्हें इस आश्वासन के साथ दें कि वे उनके निर्णय को स्वीकार करेंगे। सभी सदस्य इस पर राजी नहीं हुए। हो भी नहीं सकते थे। अंग्रेज जानते थे कि विभिन्न सांप्रदायिक नेता एक दूसरे को काटने की कोशिश करेंगे। गांधीजी ने समिति में बहुत तर्कपूर्ण ढंग से अपना पक्ष प्रस्तुत किया कि यदि हमारे पारस्परिक भेद विदेशी आधिपत्य के कारण उत्पन्न नहीं है और यदि उन्होंने जिद का रूप धारण कर लिया है तो इसका समाधान स्वराज संविधान का आधार नहीं हो सकता अपितु स्वयं स्वराज का संविधान तैयार करना ही हो सकता है। मुझे इस विषय में जरा भी संदेह नहीं हैं कि सांप्रदायिक भेदभाव का हिमशैल स्वतंत्रता के सूर्य की गर्मी पाते ही पिघल जायेगा।

लेकिन आगा खां जैसे मुसलमान सांप्रदायिकतावादियों ने सम्मेलन में सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी हितों को ब्रितानी साम्राज्यवाद के संरक्षण मे सुरक्षित किये रखने की जिद पकड़ ली। हिंदू और सिख सांप्रदायिकतावादी भी साम्राज्यवाद के हाथों की कठपुतली बनते दिखाई दिये। उन सभी ने अपने अपने ढंग से गांधीजी द्वारा सम्मेलन में एक संगठित मोर्चा प्रस्तुत करने के प्रयत्न को असफल करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

अंततः दिसंबर, 1931 में मैकडोनाल्ड ने सन् 1930 के समझौते की शर्तो के अनुसार मसले को आगे बढ़ाने का प्रस्ताव किया। उन्होंने विलिंग्डन की नीति का अनुमोदन किया और भारत सरकार के लिए प्रस्तावित विधेयक के मुख्य मुद्दों की एक प्रारंभिक जानकारी दी। प्रस्तावित विधेयक में एक शक्ति संपन्न संघीय केंद्र और स्वायत्तता की व्यवस्था थी। प्रांतो को स्वायत्तता के सीमित अधिकार दिये गये थे। वित्त, विदेश, व्यापार और सुरक्षा (इसमें युद्ध का निर्णय करने का अधिकार भी शामिल था) संघीय क्षेत्र के विषय थे, जिन पर वेस्ट-मिनिस्टर की संसद और वायसराय का सर्वाधिकार था। निराशा में गांधीजी भारत लौट आये।

नये सिरे से सरकारी दमन

विलिंग्डन की सरकार ने सन् 1930 में उठाये गये इरविन के कदमों की तुलना में सारे राष्ट्रीय आंदोलन का दमन करने के लिये अधिक सख्त कदम उठाने का फैसला किया। गांधीजी के लंदन से लौटने के पांच दिन पहले ही, जब उत्तर प्रदेश के कांग्रेसियों ने यह कहकर कि सरकार से बातचीत चल रही है, किसानों से लगान अदा न करने का आग्रह किया तो उनके नेताओं को बड़ी संख्या में गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार होने वालों में नेहरू और पुरुषोत्तम दास

टंडन भी थे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में खान अब्दुल गफ्फार खां, उनके बड़े भाई डा. खां साहब तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं को जेल में डाल दिया गया। बंगाल में चिटगांव शहर को तीन दिनों तक गैरसरकारी यूरोपियों की दया पर छोड़ दिया गया। उन्होंने गुंडा-गिरोहों को साथ लेकर राष्ट्रवादियों के मकानों को लूटा और पुलिस ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। यहां तक कि सन् 1931 में खड़गपुर के नजदीक के हिजली के कुख्यात जेल के कैदियों को वहां के जेल अधिकारियों ने पीटा और बाद में गोली भी चलाई जिससे दो व्यक्ति मारे गये।

व्यक्तिगत अवज्ञा आंदोलन

लौटने के बाद जब गांधीजी ने विलिंग्डन से विरोध किया तो उन्होंने उनके साथ हठधर्मिता का रुख अपनाया। लेकिन कांग्रेस अभी भी सरकार को सहयोग देने को तैयार थी, बशर्ते कि सरकार अध्यादेशों को वापस लेकर उसे पूर्ण स्वराज का आंदोलन जारी रखने को अनुमति दे दे। यह एक ऐसा रुख था जो लाहौर कांग्रेस की भावना से बहुत भिन्न था। हालांकि उसने अभी भी नागरिक अवज्ञा आंदोलन को पुनः शुरू करने की धमकी दी। सरकार ने धमकी की उपेक्षा कर दी। 4 जनवरी, 1932 को गांधीजी और कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई के साथ कांग्रेसी नेताओं के एक नये समूह को गिरफ्तार कर लिया गया। अब जेल में राजनैतिक कैदियों को मारने और उनके साथ आम अपराधी जैसा व्यवहार करने की प्रवृत्ति पहले से ज्यादा आम हो गयी। सरकार को आतंकित करने के जवाब में सन् 1932 में आतंकवादियों को प्रताड़ित करने का काम बहुत तेजी से बढ़ गया। गांधीजी ने इच्छा व्यक्त की कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन कुछ निश्चित किस्म के कामों के द्वारा सामूहिक ढंग के बदले व्यक्तिगत ढंग से चलाया जाये। उनका तर्क यह था कि अहिंसावादी लोगों में अकेले मुकाबला करने का साहस होना चाहिए। लेकिन उसका असली कारण शायद यह भय था कि आशंका से जन्मी निराशा हिंसक परिस्थितियां पैदा कर सकती है। जब 24 अप्रैल को मदनमोहन मालवीय की कार्यकारी अध्यक्षता में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में करने का निश्चय हुआ तो अधिकतर नेता अध्यादेशों के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिये गये। अन्य लोगों ने चांदनी चौक (दिल्ली) के घंटाघर के पास अहमदाबाद के एक प्रतिनिधि सेठ रणछोड़ दास की स्थानापन्न अध्यक्षता में एक बैठक की। उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया। लेकिन 1 मई को वे सभी रिहा कर दिये गये।

सांप्रदायिक निर्णय

हरिजनों, अनुसूचित जातियों और आदिवासियों का समर्थन प्राप्त करना गांधीजी की चिंता का पुराना विषय था। जन आंदोलनों से दूर इस विषय को पुनर्जीवित करने की एक नयी प्रवत्ति इस बीच पैदा हुई यह ब्रिटेन की फूट डालो और राज करो की उस नीति का जवाब था जिसकी

अभिव्यक्ति रैम्जे मैकडोनाल्ड द्वारा घोषित सन् 1932 के सरकार के सांप्रदायिक निर्णय में हुई थी। निर्णय में हिंदुओं, हरिजनों और मुसलमानों के लिये संघीय विधान परिषद में पृथक निर्वाचन मंडल की व्यवस्था थी। हिंदुओं और हरिजनों को दो पृथक राजनैतिक अस्तित्व माना गया था। गांधीजी ने इसे एक चुनौती माना। उन्हें एम.सी. राजा जैसे बहुत से हरिजनों ने समर्थन दिया। उन्होंने हरिजनों के लिए जगहों के आरक्षण के साथ एक ही निर्वाचन मंडल की इच्छा जाहिर की। लेकिन उनमें से कुछ ने डा. आंबेडकर के नेतृत्व में उस प्रणाली को अस्वीकार कर दिया जिसमें अछूतों (हरिजनों) को हिंदू तो कहा जाता था लेकिन छुआछूत खत्म नहीं हुआ था। विलिंग्डन ने इस अवसर का लाभ उठाया और जिद की कि सांप्रदायिक निर्णय स्वीकार किया ही जाना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि गांधीजी (जो उन दिनों पूना के निकट यरवदा जेल में नजरबंद थे) ने सितंबर में आमरण अनशन शुरू कर दिया। उन्होंने निर्णय का विरोध किया लेकिन साथ ही अछूतों के लिए हिंदुओं के निर्वाचन मंडल में इतनी अधिक जगहों के आरक्षण की मांग की जितनी कि व्यवस्था स्वयं निर्णय में भी नहीं थी। आंबेडकर ने गांधीजी की बात मान ली। सरकार ने पूना समझौते को सांप्रदायिक निर्णय के एक संशोधन के रूप में स्वीकार किया।

इसके कारण 'अखिल भारतीय अस्पृश्यता लीग' और 'अस्पृश्यता सेवक समिति' जैसे संगठनों के माध्यम से कांग्रेस के प्रभाव में वृद्धि हुई कांग्रेस के प्रचार ने मध्य भारत, दक्षिण बिहार और उड़ीसा के पहाड़ी क्षेत्रों की पिछड़ी हुई, अनुसूचित आदिम जातियों में राष्ट्रवादिता और जनतंत्र की विचारधारा का प्रसार किया। यहां के लोग भारतीय राष्ट्रवादिता से अब तक अपेक्षाकृत अछूते थे। इन क्षेत्रों में कांग्रेस से सहानुभूति रखने वाले भूतपूर्व ब्रितानी धर्म प्रचारक बेरियर एल्विन और शमराव हिवेल जैसे लोग निष्ठापूर्वक काम कर रहे थे। इस आंदोलन का एक मुख्य अंग सभी मंदिरों का हरिजनों के लिए खोल दिया जाना था। 8 जनवरी, 1933 मंदिर-प्रवेश दिवस के रूप में मनाया गया। देश के तीर्थाटन के बहुत से केंद्रों में (जहां विभिन्न जाति, वंश और भाषा के हिंदुओं का जाना लगा रहता था), निचली जातियों के उत्थान को राष्ट्रवादिता से जोड़ दिया गया जिसकी वजह से उनकी अपील को बल मिला।

इस बीच नागरिक अवज्ञा आंदोलन या व्यक्तिगत अवज्ञा आंदोलन का जो दूसरा दौर शुरू हुआ वह सन् 1930 के आंदोलन की तुलना में जनता पर प्रभाव डालने की दृष्टि से दुर्बल था। लेकिन किसान वर्ग पर कांग्रेस का प्रभाव बदस्तूर बना रहा। उत्तर प्रदेश और पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में कर और लगान न चुकाने का आंदोलन जारी रहा।

सन् 1932-33 का वर्ष शायद ब्रितानी शासन का अंतिम वर्ष था जिसमें कट्टरपंथी आतंकवाद की लपटें ऊंचाई तक उठीं और फिर जोर जुल्म से पूरी तरह दबा दी गयीं। ऐसा विशेषकर बंगाल में हुआ। वह कट्टरपंथी आतंकवाद, अहिंसक नागरिक अवज्ञा और नागरिक प्रतिरोध दोनों से बिल्कुल अलग था। आतंकवाद की बहुत सी कार्रवाइयां हुई थीं और उनमें कुछ बदनाम अधिकारियों की हत्या हुई थी। जिनकी हत्याएं हुई थीं, उनमें एक दो भारतीय भी थे। कलकत्ता

विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में जिस वक्त बंगाल के नये गवर्नर सर स्टैनली जैकसन अध्यक्षता कर रहे थे, बीना दास नाम की डायोसेसन वीमेन्स कालेज की एक प्रतिभाशाली छात्रा ने लोगों की उपस्थिति में ही गोली चलाई गोली एंडरसन की जेब में पड़ी नोटबुक पर लगी और उनकी जिंदगी बच गयी। बीना दास को आजीवन कारावास की सजा हुई स्वतंत्रता मिलने के वक्त तक उनकी रिहाई नहीं हुई थी।

जून, 1932 में सेना की एक टुकड़ी ने चिटगांव के पास के उस गांव को घेर लिया जहां सूर्यसेन अपने चार गुरिल्लों के साथ एक मकान में छिपे हुए थे। सीढ़ियों से गोलियों की बौछार आई इससे सैनिकों का नेता कैप्टन कैमरान मारा गया। उस घमासान मुठभेड़ में सूर्यसेन अपने दो सहयोगियों प्रीतिलता वादेदार और कल्पना दत्त के साथ बच निकलने में सफल हो गये। अंततः सन् 1933 के शुरू के दिनों में गैराला गांव में एक ग्रामीण के विश्वासघात के कारण सूर्यसेन गुरखा सैनिकों की बड़ी टुकड़ी द्वारा पकड़ लिए गये। उन्हे ढाका में फांसी दी गयी। आज भी बंगलादेश की नेता और जनता उस राष्ट्रीय नायक की स्मृति में श्रद्धा से मस्तक झुकाती है। इस आदोलन के खत्म हो जाने का कारण यह था कि आतकवादी अपनी बाहरी जड़ों से कटकर अलग थलग हो गये थे। वे मुख्यतया शहर के स्कूल-कालेजों से आये थे। वे उत्तर प्रदेश या अन्य क्षेत्रों में शुरू किये गये एक परिवर्तनवादी भूमि सुधार जैसे कार्यक्रम की किसानों की आवश्यकता का अनुमान लगाने में असफल रहे।

सन् 1933 का स्वतंत्रता दिवस बड़े जोश के साथ मनाया गया। हुगली जिले (बगाल) में बदनगंज में एक कांग्रेसी जुलूस को तितर बितर करने के लिए पुलिस ने गोली चलाई फरवरी में बोरसद (गुजरात) में एक कांग्रेसी जुलूस का नेतृत्व करती हुई कस्तूरबा गांधी को गिरफ्तार किया गया और उन्हें 6 महीने की जेल की सजा दी गयी। मार्च 1933 में पुनः मदनमोहन मालवीय को अध्यक्ष पद पर मनोनीत करके कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। हजार प्रतिनिधियों को उनके अधिवेशन में शामिल होने के पहले ही गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे हजार प्रतिनिधियों पर (जिन्होंने अधिवेशन में हिस्सा लिया) पुलिस ने लाठी चलाई। एक तरफ पुलिस अधिवेशन को भंग करने की कोशिश कर रही थी और दूसरी तरफ भीड़ के बीच के प्रतिनिधि जे.एम. सेनगुप्ता की स्थानापन्न अध्यक्षता में बैठक करके पूर्ण स्वराज के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तरीके के रूप में नागरिक अवज्ञा को चलाने और विदेशी कपड़ों और वस्तुओं के बहिष्कार के अपने पुराने निर्णय को दुहरा रहे थे।

इस दौर में कई हजार औरतों और बच्चों समेत लगभग 1 लाख 20 हजार लोगों को गिरफ्तार करके जले की सजा दी गयी थी। इससे साबित होता है कि नागरिक अवज्ञा आंदोलन चलाते रहने की जनता की इच्छा मंद नहीं पड़ी थी। लेकिन गांधीजी ने मात्र हरिजन समस्या पर अपना ध्यान केंद्रित किया। मई, 1933 में उन्होंने हरिजन समस्या पर ध्यान केंद्रित करने और स्वयं तथा अपने सहयोगियों का मन शुद्ध करने के लिए 21 दिन के उपवास की घोषणा की। सरकार ने उन्हें तत्काल रिहा कर दिया। उसके बाद उन्होंने वक्तव्य जारी किया कि कांग्रेस कुछ समय

के लिए नागरिक अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दे। एक साल बाद अप्रैल, 1934 में आंदोलन को अंतिम रूप से तिलांजलि दे दी गयी।

उसी दौरान नवंबर, 1932 में ब्रितानी सरकार ने लदन में तीसरे गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। उसमें कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नहीं था। कांग्रेस ने इस तर्क पर आमंत्रण स्वीकार न करने का फैसला कर लिया था कि सरकार ने जो दृष्टिकोण अपना लिया है उसके कारण सम्मेलन में शामिल होने से किसी सार्थक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। बहराल, सम्मेलन में जो विचार विमर्श हुआ उसके परिणामस्वरूप कुछ अतिरिक्त सुधारों के साथ सरकार ने सन् 1935 का भारतीय विधेयक पास करने का फैसला किया। नये विधेयक में केंद्र में संघीय शासन और प्रांतों को पहले से अधिक स्वायत्तता देने का प्रस्ताव था। पहली बार देशी रियासतें भी विचार विमर्श का सीधा विषय बनीं क्योंकि संघीय शासन में ब्रितानी भारत के प्रांतों के साथ रियासतों को भी शामिल किया जाना था। ऐसा लगा कि इसकी वजह से भारत को एक देश और यहां के लोगों को एक राष्ट्र मानने के सिद्धात की संयोगवश पुष्टि हो गयी। लेकिन अंग्रेजों का वास्तविक इरादा राष्ट्रवादी नेताओ के साम्राज्यवाद विरोधी सिद्धांत और कार्यक्रम के पलड़े को राजाओं का इस्तेमाल करके सतुलित करना था। इसीलिए रियासतों को केंद्र के द्विसदनी संघीय विधान परिषद में उनके अनुपात से ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया। केवल इतना ही नहीं, रियासतों के प्रतिनिधियो का चुनाव जनता के मत द्वारा नहीं होना था। वे शासकों द्वारा नियुक्त किये जाने वाले थे। देश के शेष भाग में भी बालिग मताधिकार भयंकर रूप से सीमित था। ब्रितानी भारत में मत देने का अधिकार 14 प्रतिशत से अधिक लोगों को नहीं था। लेकिन इतनी सुरक्षा के साथ गठित विधान परिषद को भी पूरे अधिकार नहीं मिलने वाले थे। सुरक्षा और विदेशी संबध पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था। उसकी देखरेख में आने वाले दूसरे विषयों में भी गवर्नर जनरल ने विशेष नियंत्रण का अधिकार अपने पास रखा था। गवर्नर जनरल और गर्वनरों की नियुक्ति ब्रितानी सरकार द्वारा होती रहती थी और वे उसी के प्रति सीधे जिम्मेदार थे।

प्रांतों में स्वायत्तता के जो अधिकार दिये गये थे, वे भी गवर्नर में निहित विशेष अधिकारियों द्वारा रद्द किये जा सकते थे। गवर्नर को न केवल चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा प्रस्तावित किसी कानूनी कदम को रद्द कर देने का निषेधाधिकार था बल्कि उन्हें अपनी मर्जी से कानून लागू करने और अध्यादेश जारी करने का भी अधिकार था। नागरिक सेवा और पुलिस पर नियंत्रण रखने के अधिकार भी गवर्नर के पास ही थे।

सन् 1935 के भारतीय विधेयक से बहुत कम लोग संतुष्ट हुए। कांग्रेस के लिए वह 'पूर्णतया निराशाजनक' था। दूसरों ने उसे विभिन्न मात्रा में 'अपर्याप्त' पाया। ब्रितानी सरकार ने भारत की जनता पर शासन करने वाले राजनैतिक और आर्थिक अधिकार छोड़ नहीं दिये थे। केवल सरकार के ढांचे में हल्का सा परिवर्तन हुआ था। जनमत से निर्वाचित मंत्रियों को ब्रितानी प्रशासन में शामिल कर लिया था लेकिन विदेशी हुकूमत को चलते रहना था।

विधेयक के प्रांतों से संबद्ध भाग को तत्काल लागू किया जाना था। संघीय भाग पर बाद

में अमल होना था। विधेयक के प्रावधानों से पूरी तरह असहमत होने पर उसकी अमलदारी में सहयोग देने की जगह पर कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का निर्णय मूलतया ब्रितानी सरकार पर यह साबित करने के लिए लिया कि दल को देश की जनता का किनता बड़ा समर्थन प्राप्त है। इस उद्देश्य में पूरी सफलता मिली। अधिकतर प्रांतों में वह भारी बहुमत से जीती। इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं किया जा सकता था कि भारतीय जनता के विशाल बहुमत ने उसे समर्थन दिया। बहुत से लोगों ने तर्क दिया कि चुनाव जीतने के बाद पदों को अस्वीकृत कर देने का कोई औचित्य नहीं था। नेहरू तथा अन्य वामपंथी तत्व पद स्वीकार करने के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा कि ऐसा करने से स्वतंत्रता संघर्ष में उलझन पैदा होगी। लेकिन बहुमत पद स्वीकार करने के पक्ष में था। कांग्रेस ने जुलाई, 1937 में 11 प्रांतों में से 7 में अपने मंत्रिमंडल बनाये। बाद में उसने दो और प्रांतों में भी (अन्य दलों के सहयोग से) संयुक्त मंत्रिमंडल गठित किया। गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल केवल पंजाब और बंगाल में बने।

प्रांतीय सरकारों के अधिकार सीमित होने के कारण कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने प्रशासन के मूल चरित्र में परिवर्तन लाने का काम नहीं किया। उन्होंने किसी आमूल परिवर्तन की भी शुरुआत नहीं की। कारण, कांग्रेस का स्वयं का सामाजिक आधार; इसके संगठन में मजदूरों-किसानों से लेकर पूंजीपतियों और जमींदारों का होना, इसके अधिक प्रभावशाली नेताओं का रूढ़िवादी चरित्र लेकिन अपनी अधिकृत छोटी सीमाओं में उन्होंने कुछ दूर तक जनता की हालत सुधारने की निश्चय ही कोशिश की। उन्होंने शासन प्रबंध के एक नये दृष्टिकोण का सूत्रपात किया और सेवा तथा ईमानदारी के प्रशंसनीय मानक स्थापित किये। प्रारंभिक, तकनीकी तथा उच्चतर शिक्षा, और जन स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार लाने की ओर पहले से अधिक ध्यान दिया गया। किसानों की मदद के लिए काश्तकारी और कर्ज से राहत देने वाले नये कानून पास किये गये हालांकि इस तरह का विधेयक अक्सर भू-स्वामियों और जमींदारों की सहमति से पारित होने के कारण 'समझौता' होता था। मजदूर संघों ने काम करने की बेहतर हालत और अधिक मजदूरी के लिए बातचीत चलाने में अपने को अधिक स्वतंत्र महसूस किया, हालांकि कुछ प्रांतों में उन्हें तीखा संघर्ष करने के लिए विवश होना पड़ा। नागरिक स्वतंत्रता पर लगे नियंत्रण में ढील दी गयी, प्रेस की स्वतंत्रता में वृद्धि हुई मगर इसके बावजूद पुलिस और प्रशासन के अधिकारियों का भय आमतौर पर जारी रहा। उसके प्रति लोगों की उदासीनता उसी तरह बनी रही।

लेकिन सबसे महत्वपूर्ण लाभ मनोवैज्ञानिक था। जनता का अहसास बदल गया। प्रशासन के पदों पर जेल के परिचित व्यक्तियों को देखना जीत के स्वाद की तरह था। हवा में आशावादिता और आत्मविश्वास की एक महक थी। यही वह बिंदु था, जब स्वतंत्रता के प्राथमिक संदेशों को जनता ने अनुभव किया।

6

स्वतंत्रता की उपलब्धि

दूसरे विश्वयुद्ध के ठीक पहले के पांच वर्षों में भारत में पर्याप्त ढंग से नया चिंतन चलता रहा। यद्यपि लोग राष्ट्रवादिता, साम्राज्यवाद विरोध और अंततः स्वतंत्रता प्राप्त करने के आदर्शों से पूरी तरह प्रतिबद्ध थे, लेकिन उनमें से सभी ने न तो कांग्रेस के कार्यक्रम और कार्यविधि को स्वीकार किया था और न ही चिंतन का साफ साफ ध्रुवीकरण हुआ था। न सिर्फ गैरकांग्रेसी नेताओं और गुटों ने विभिन्न विचारधाराओं और काम करने के तरीकों की पैरवी की थी बल्कि स्वयं कांग्रेस के भीतर राजनीतिक चिंतन की दो समानांतर धाराएं विकसित हुई थीं और दोनों की शक्ति में वृद्धि हुई थी।

इस नये चिंतन का पहला नतीजा एक अर्थ में अनिवार्यतया नकारात्मक था। यह महसूस किया गया कि एक क्रांतिकारी शक्ति के रूप में आतंकवाद चुक गया है। ब्रितानी शासन को खत्म करने के उद्देश्य से जनता को एक राष्ट्रीय विद्रोह के लिए उभारने में से सफलता नहीं मिली। ज्यादातर आतंकवादियों को फांसी पर लटका देने या जेल में डाल देने या उनके कम्युनिस्ट और दूसरे आंदोलनों में शामिल हो जाने के कारण क्रांतिकारी आतंकवाद समाप्तप्राय हो गया।

सकारात्मक पक्ष में स्पष्टतया समझने योग्य तीन प्रवृत्तियां थीं : (1) कांग्रेस के भीतर और बाहर समाजवादी विचारों का प्रसार, (2) मजदूर संघ आंदोलन का विकास जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से बिल्कुल स्वतंत्र था और (3) किसान आंदोलन जो बढ़ रहा था।

सन् 1929 में अमरीका में काफी बड़ी आर्थिक मंदी थी। यह मंदी अनिवार्यतया दूसरे पूंजीवादी देशों में भी फैली। उत्पादन में तेजी से कमी आई और विदेश-व्यापार चिंताजनक सीमा तक गिर गया। इसकी वजह से भयंकर आर्थिक संकट पैदा हुआ। बड़े पैमाने पर बेरोजगारी बढ़ी। इस प्रवृत्ति के उल्टे रूस की तस्वीर बहुत आशाजनक थी। दो पंचवर्षीय योजनाओं के पूरा होने के साथ वहां के उत्पादन में चौगुनी वृद्धि हो गयी थी। अंतर बहुत साफ था। उसने कम्युनिस्ट नमूने के समाजवाद और आर्थिक योजनाओं के लाभ की ओर ध्यान खींचा।

बाहरी दुनिया के इन विकासों ने भारत का भी ध्यान पर्याप्त ढंग से आकृष्ट किया। परिणाम यह हुआ कि समाजवादी विचारों ने आम जनता और नेता दोनों को नये तरीके से सोचने के लिए सक्रिय किया। युवक, मजदूर और किसान इस नयी विचारधारा की ओर खास तौर से आकर्षित हुए थे।

कांग्रेस के भीतर इस नयी वामपंथी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जवाहरलाल नेहरू सन् 1936 और 1937 में लगातार दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। उनके बाद आये सुभाषचंद्र बोस जो स्वयं अपने क्रांतिकारी चिंतन के लिए मशहूर थे। सन् 1938 में कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर उनका चुनाव हुआ। फिर सन् 1939 में भी गांधीजी और उनके बहुत से अनुयायियों के विरोध के बावजूद वह अध्यक्ष पद के चुनाव में जीते। सन् 1936 में लखनऊ अधिवेशन मे नेहरू ने कांग्रेस के उद्देश्य के रूप में समाजवाद की स्वीकृति की वकालत की थी। यह भी कहा था कि जनता को सांप्रदायिकता से अलग रखने का यही सबसे अच्छा तरीका है। अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने कहा :

> मैं इस तथ्य का कायल हूं कि हिन्दुस्तान की और दुनिया की समस्याओं के हल की कुंजी समाजवाद में निहित है और जब मैं इस शब्द का इस्तेमाल करता हूं तो वह इस्तेमाल वैज्ञानिक और आर्थिक अर्थ में होता है, एक अस्पष्ट मानवतावादी तरीके से नहीं...उसमें हमारे राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के व्यापक और क्रांतिकारी परिवर्तन, भूमि और उद्योग में निहित स्वार्थ, और उसके साथ ही भारतीय रियासतों की सामंती तथा स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्था की समाप्ति शामिल है। उसका मतलब है निजी संपत्ति की समाप्ति (बेशक, एक सीमित अर्थ में वह बनी रह सकती है) और वर्तमान मुनाफाखोरी की प्रणाली के स्थान पर सहकारिता की सेवाओं के एक उच्चतर आदर्श की स्थापना। इसका मतलब है हमारी इच्छाओं, आदतों और प्रवृत्तियों में अंततः परिवर्तन यानी वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था से आमूल भिन्न एक नयी सभ्यता का उद्‌भव।

वह समाजवादी प्रवृत्ति कांग्रेसी नेतृत्व के बाहर की समान ढंग से प्रत्यक्ष थी। उसकी वजह से कम्युनिस्ट पार्टी का विकास और कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई। प्रारंभिक दिनों में कम्युनिस्ट पार्टी ने पी.सी. जोशी के नेतृत्व में काम किया। कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना आचार्य नरेंद्रदेव और जयप्रकाश नारायण ने सन् 1934 में की। इसका एक संगठन था, एक पत्रिका थी। इसने स्पष्ट किया था कि पूर्ण स्वराज इसका लक्ष्य है। वह कांग्रेस को 'समाजवादी सिद्धांत' मानने के लिए विवश करने को प्रतिबद्ध थी। केरल, आंध्र और तमिलनाडु में कांग्रेस समाजवादी नेता उत्तर भारत के अपने जैसे नेताओं की तुलना में मार्क्सवाद के अधिक नजदीक पहुंच गये।

दमन के कारण मजदूर संघ का आंदोलन भी हुआ। कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगाने के बाद सन् 1934 के अंतिम दिनों में सरकार ने रेड फ्लैग मजदूर संघ (आर.एफ.टी.यू.एफ.) पर भी प्रतिबंध लगा दिया। अतः मेरठ के मुकदमे के अंत में जो कम्युनिस्ट जेल से छूटे उनके सामने सिवाय इसके कोई दूसरा विकल्प नहीं था कि वे अखिल भारतीय मजदूर संघ कांग्रेस (ए.आई.टी.यू.सी.) के नये सिरे से सदस्य बनकर कार्य करें। इस मजदूर संघ में कांग्रेसियों और

रायवादियों (एम.एन.राय) की बहुलता थी। वे लोग अल्पमत में थे। इसी बीच जोशी, चमनलाल और मृणालकांति बोस के नेतृत्व वाले भारतीय राष्ट्रीय मजदूर महासंघ (आइ.एन.टी.यू.एफ.) का अखिल भारतीय रेलवे कर्मचारी महासंघ (ए.आई.आर.एफ.) में विलय हो गया। इसके नेता वी.वी. गिरि थे। उस समय कांग्रेस में जिस तरह की राष्ट्रवादिता प्रचलित थी, उसके अनुसार श्री गिरि और श्री बोस एक दूसरे के अधिक नजदीक थे। एक संयुक्त संगठन स्थापित किया गया जिसका नाम राष्ट्रीय मजदूर महासंघ (एन.टी.यू.एफ.) पड़ा। इस संगठन को राष्ट्रवादी वर्ग के उन वामोन्मुख व्यक्तियो का समर्थन प्राप्त था जो कम्युनिस्टों या एम.एन.राय और उनके अनुयायियों के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को स्वीकार नही कर सके थे।

रेड फ्लैग मजदूर महासंघ पर प्रतिबंध लगाने के पहले तीनों महासंघों ने एक सीमित ढंग से सन् 1934 की गर्मियों में उन कपड़ा मिल मजदूरों के हड़ताल के आयोजन में हिस्सा लिया था जिनकी मजदूरी में बड़ी कटौती कर दी गयी थी। हड़ताल में लगभग 1 लाख 20 हजार मजदूरो ने हिस्सा लिया था। पुलिस का दमन, दक्षिणपंथी मजदूर सघ के नेताओं का उदासीन रुख और हड़ताल के दौर में बेरोजगार मजदूरों की अस्थायी भर्ती। उन दिनों अकेले बंबई में 90 हजार बेरोजगार मजदूरों के कारण हड़ताल जून में असफल हो गयी थी।

इस दौर में एक तीसरी प्रवृत्ति भी विकसित हुई थी। वह थी शैशवकालीन किसान आदोलन मे गांधीवाद, कांग्रेसी समाजवाद और साम्यवाद के प्रसार की। सन् 1920-30 के बीच की मजदूर और किसान पार्टियों तथा 1929-31 की मंदी के कारण स्वतः चल पड़ने वाले किसानों के विरोध आदोलन को विलिंग्डन ने कुचल दिया था। इधर कुछ जिलों के किसान नेताओं ने मैदान में आकर पुनः अपनी गतिविधियां चलाना शुरू किया।

बिहार में सहजानंद सरस्वती ने एक प्रभावशाली स्थानीय किसान सभा का संगठन करके उन वामोन्मुख भूमिसुधार कार्यक्रमों की पैरवी को जो उत्तर प्रदेश में पहले ही लोकप्रिय हो चुके थे। एक दूसरे प्रमुख किसान नेता कार्यानंद शर्मा थे जिन्होंने बिहार के पिछड़े जिलों में बाद के वर्षो में प्रभाव अर्जित किया। पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में खुदाई खिदमतगारों और दक्षिणी महाराष्ट्र में रायवादियों ने किसानों की मांगों को फिर से उठाया। हैदराबाद की बड़े क्षेत्रफल वाली देशी रियासत में स्वामी रामानंद तीर्थ ने दक्षिणी महाराष्ट्र से लगे हुए जिलों के गरीब किसानों के शोषण का प्रतिरोध किया। उन्होंने महाराष्ट्र जिले के एक गांधीवादी स्कूल से जीवन शुरू किया, बंबई शहर में मजदूर संघ आंदोलन के सुधारवादी खेमे में शामिल हुए और फिर औरंगाबाद जिले में गांधीवादी ग्राम कल्याण संघ की स्थापना की। स्वामी रामतीर्थ के प्रयत्नों ने ही बाद के वर्षो में हैदराबाद राज्य जन कांग्रेस के लिए एक व्यापक किसानी आधार तैयार किया। इसी जन कांग्रेस ने सन् 1947 के बाद हैदराबाद को भारतीय संघ में मिलाने के संघर्ष का नेतृत्व किया। दक्षिण भारत के जातीय संगठनों ने नगरपालिकाओं और जनतांत्रिक स्वशासी सरकारों में अपेक्षाकृत अधिक हिस्सेदारी की मांग की थी। इन संगठनों में उत्तरी तमिलनाडु के वन्नियार (जिसमें अनुसूचित जाति के सदस्यों का संख्यात्मक बहुमत था) दक्षिणी तमिलनाडु

(संख्यात्मक दृष्टि से बहुमत में) के नाडार और थेवर और केरल के इराव प्रमुख थे। दक्षिण-पश्चिमी बंगाल के मानभूमि और पुरुलिया तथा बिहार के रांची और सिंहभूम जिलों में गांधीवादी कार्यकर्ताओं ने पिछड़े किसान वर्ग में गांधीजी की राष्ट्रवादिता और अहिंसा के आदर्शों के प्रचार का काम शुरू कर दिया था। ये विचार कभी कभी सुविधाहीन आदिवासियों तक पहुंचे। छोटा नागपुर में तानाभगत आदिवासी विरोध आंदोलन चला जिसने बाद में गांधी महाराज नाम से एक पंथ बनाया। आसाम से लगे हुए नागालैंड में अपने एक धर्मप्रचारक के नेतृत्व में कुछ नागाओं ने ब्रितानी शासन के विरुद्ध हिंसक विद्रोह किया। धर्मप्रचारक ने गिडालो नाम की युवा बालिका को उनकी रानी घोषित किया। लोग मानते थे कि गिडालो को दैवी शक्ति प्राप्त है। उस रानी ने राष्ट्रवादी आंदोलन को समर्थन देने की घोषणा की। सन् 1930-40 के अंतिम वर्षों में एक धार्मिक विद्वान मौलाना अब्दुल हमीद खां भाशानी ने दक्षिणी आसाम के सिलहट जिले में एक शक्तिशाली किसान आंदोलन संगठित किया जो पड़ोसी जिले मैमनसिंह (पूर्व बंगाल) तक फैला।

ये सारे आंदोलन न तो एकबद्ध थे, न ही कांग्रेस के नियंत्रण में। बहुत सी किसान सभाओं का नेतृत्व कांग्रेस समाजवादियों ने किया था। कभी कभी कुछ आंदोलनों को प्रेरणा और नेतृत्व कम्युनिस्ट संगठनों ने किया। प्रमाण के लिए सन् 1937 का बंगाल का तारकेश्वर सत्याग्रह और त्रावणकोर राज का वायला सत्याग्रह। जहां कहीं पर नेतृत्व कांग्रेस के रचनात्मक कार्यकर्ताओं के हाथ में था, वहां कुल मिलाकर किसानों की जागृति में राष्ट्रवादी और सुधारवादी रंगत थी। दूसरे क्षेत्रों में किसानों के लगाव का संबंध स्थानीय वर्ग समस्या से था। यदि राष्ट्रवादी आंदोलन से उसका कोई संबंध था तो वह महज आकस्मिक और बहुत दूर का था। इनमें से कुछ आंदोलनों में धार्मिक नेतृत्व आश्चर्यजनक ढंग से विद्यमान था। पिछड़े इलाकों में किसान तबके की भावना जब-तब अधकचरी नैतिकता के नारों से बहुत अधिक उत्तेजित हो उठती है। इस नैतिकता की गुहार लगाने वाले उनके धर्म, जाति या कबीले के स्थानीय गुरु और पुरोहित होते हैं। अनेक देशों के मुक्ति आंदोलनों के इतिहास में शोषण का परोक्ष रूप से विरोध करते हुए किसानों के बीच धर्म की गुहार के उदाहरण प्रायः मिलते हैं।

इसी के साथ साथ ऐसे बहुत से राजनैतिक कार्यकर्ता, जो ग्रामीण किसान वर्ग को शिक्षित और संगठित करने में लगे हुए थे, कम्युनिस्टों और कांग्रेस समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत मार्क्सवादी विचारधारा से तीव्रता के साथ प्रभावित हुए। प्रदर्शन के संयुक्त राजनैतिक मोर्चों ने दोनों को एक ही जगह पर मिलने का अवसर दिया। इसी तरह जब कभी बड़ी संख्या में राजनैतिक कैदियों को एक जगह रखा गया, उनमें आपस में संपर्क स्थापित हुए। प्रमाण के लिए हिजली और बक्सर के नजरबंदी कैंप या मांडले और अंडमान के जेल। बहुत से गांधीवादियों और आतंकवादियों को जेल की सजा के दौरान किताबें और प्रचार-पुस्तिकाएं पढ़ने का समय मिला और उनसे प्रभावित होकर वे अहिंसावाद, वामपंथ और सामूहिक दुस्साहसी वीरता छोड़कर वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी अवधारणा में विश्वास करने लगे। मई दिवस के अवसर पर सन् 1935 में अंडमान

जेल के 31 नजरबंदों ने (जिनमें भगतसिंह के शेष साथी भी शामिल थे) कम्युनिस्ट समन्वय (समिति) की स्थापना की। बाद के दिनों में अंडमान में बंद चिटगांव गुट के कुछ सदस्य भी साम्यवाद की ओर झुक गये। लेकिन इनकी संख्या गांवों में लगे हुए उन राजनैतिक कार्यकर्ताओं की तुलना में बहुत कम थी जो गांधीजी की सर्वोदय विचारधारा के व्याख्याकार थे।

ये ही वे सामान्य प्रवृत्तियां थीं जिनके संदर्भ में मुक्ति संग्राम में नये समझौते विकसित हुए।

राष्ट्रीय संघर्ष और रियासती जनता के आंदोलन

ब्रितानी भारत का शासन सीधे वायसराय की कार्यकारी सत्ता द्वारा होता था। देश के शेष भाग में रजवाड़ों के अनेक राज्य थे जिन्हें अंग्रेज देशी रियासतें कहते थे। कुछ रियासतें क्षेत्रफल में बहुत बड़ी थीं और उनकी जनसंख्या विशाल थी। कुछ बहुत छोटी थीं और उनकी जनसंख्या भी उसी अनुपात में कम थी। वे सारे देश में और ब्रितानी भारत में बिखरी हुई थीं। उनका शासन स्वयं रजवाड़ो और जागीरदारों के माध्यम से अंग्रेज करते थे।

रियासतों में रजवाड़ों का शासन स्वेच्छाचारी था। उनमें से अधिकतर इस बात का ध्यान रखते थे कि ब्रितानी शासकों से उनके संबंध अपेक्षित विनयी मर्यादा के साथ बने रहें। कुछ ने ऐसा नहीं किया। ब्रितानी अधिकारी इस वजह से नाराज हुए। ऐसे राजाओं को परिणाम भुगतना पड़ा यानी रियासत पर से उनका अधिकार जाता रहा। लेकिन ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि भारत में ब्रितानी शासन और उसके प्रभाव ने प्रतिक्रियावादी, सामंती, निरंकुश शासन का रूप लिया। इसे अधिकतर रियासतों में न केवल बरकरार रखा गया वरन् वह निरंतर चलता रहा। कुल मिलाकर वहां पर जनतांत्रिक सरकार के चिह्न अत्यंत कम थे। रजवाड़े और उनके सामंत-सरदार जिस शानशौकत, ऐश्वर्य और फिजूलखर्ची का जीवन जीते थे, उसके मुकाबले में जनता के रहन सहन का स्तर एकदम गिरा हुआ था। सामान्य परिस्थितियों में आंतरिक विद्रोह या बाहरी प्रभाव के कारण एक भ्रष्ट और निरंकुश राजा की गद्दी छिन जाती थी। भारत में रजवाड़ों के मामले में ब्रितानी शासन ने इन दोनो स्थितियों को असंभव कर दिया। रजवाड़ों ने अपने को सुरक्षित महसूस किया और अपनी सामंती स्थिति की जड़ें गहरी कर लीं।

इन असंतोषजनक और प्रायः अंतर्विरोधी परिस्थितियों ने रियासतों में स्थानीय संगठनों को जन्म दिया जिनके माध्यम से वहां की जनता की आम बेचैनी का अक्स सामने आया। उन संगठनों को आमतौर पर प्रजामंडल कहा गया। मैसूर में एक राज्य कांग्रेस थी। वे सभी संगठन स्थानीय थे और उनका संबंध अपनी रियासत विशेष के मसलों तक सीमित था। प्रथम विश्वयुद्ध में अपनी तरफ से रजवाड़ों ने जो सैनिक दस्ते भेजे थे, उनके सिपाहियों ने लौटने पर अपनी रियासतों में जनतांत्रिक विचारों के प्रसार में मदद की। इसके अलावा आंदोलन ने एक गहरा प्रभाव पैदा किया।

सन् 1920 में पहली बार कांग्रेस ने नागपुर के वार्षिक अधिवेशन में राजाओं से तत्काल अपनी अपनी रियासतों में पूर्णतया लोकप्रिय सरकार स्थापित करने की मांग की। लेकिन इसी के साथ कांग्रेस के प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि रियासत के लोग निजी तौर पर कांग्रेस का सदस्य बन सकते हैं लेकिन उस सदस्यता के नाम पर वे अपनी रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। अगर वे ऐसा करना चाहते हों तो निजी हैसियत से कर सकते हैं, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नाम पर नहीं; कांग्रेस के आंग्ल-भारतीय सदस्यों पर भी यह शर्त लागू थी। आमतौर पर कांग्रेस की मान्यता थी कि रियासतों में राजनैतिक गतिविधियों का संगठन और नियंत्रण वहां के स्थानीय प्रजामंडलों द्वारा होना चाहिए।

ब्रितानी सरकार ने सभी रजवाड़ों को मिलाकर एक शुद्ध सलाहकार संस्था का गठन किया था, जिसे नरेंद्र मंडल कहा जाता था। उद्देश्य था : सरकार से उनके संबंधों का मानकीकरण। यह मंडल रजवाड़ों को विभिन्न श्रेणियां दिये जाने से पैदा विवादों के कारण अपने आप में ही विभाजित था। साइमन आयोग की नियुक्ति के ही साल में सरकार ने 'हरकोर्ट बटलर भारतीय रियासत समिति' की भी नियुक्ति की थी। समिति का काम रियासतों और केंद्र सरकार के बीच बेहतर संबंध स्थापित करने के उपायों की सिफारिश करना था।

सरकार की इस कार्रवाई के जवाब में रियासती जनता के राष्ट्रवादियों यथा काठियावाड़ के बलवंत राय मेहता और मणिलाल कोठारी और दक्षिण के जी.आर. अभयकर ने दिसंबर, 1927 में अखिल भारतीय रियासती जनता (ए.आई.एस.पी.सी) सम्मेलन किया। यद्यपि सम्मेलन पश्चिमी भारत की प्रेरणा पर आधारित था, फिर भी, उसमें देश भर के 700 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रियासती जनता सम्मेलन का उद्देश्य वहां की सरकारों पर रियासत के लोगों के जनमत के बल पर प्रशासन में आवश्यक सुधार लाने के लिए प्रभाव डालना और सभी रियासतों में निर्वाचक सिद्धांत के अंतर्गत जन प्रतिनिधित्व द्वारा स्वशासी सरकार स्थापित करना था। सम्मेलन ने सार्वजनिक राजस्व और राजा की निजी आमदनी के अंतर को स्पष्ट कराना भी चाहा। निजी खर्च में जनता के धन के दुरुपयोग को रोकने के लिए यह आवश्यक था। सम्मेलन ने कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग कर देने की भी पैरवी की ताकि निरंकुश ढंग से शासन करने के अधिकार समाप्त हो जायें। सम्मेलन की अंतिम मांग ब्रितानी भारत और देशी रियासतों के बीच संवैधानिक रिश्तों की स्थापना की थी जिसमें वहां की जनता की आवाज का प्रभाव हो। तर्क दिया गया कि ऐसा करने से सारे भारत के लिए स्वराज की उपलब्धि की अवधि कम हो जायेगी।

लगभग दिसंबर, 1927 के पहले आयोजन के साथ ही सम्मेलन एक स्थायी राजनीतिक संगठन हो गया। वह निरंतर सामंत विरोधी रहा लेकिन कांग्रेस की तरह स्पष्टतया साम्राज्यवाद विरोधी नहीं। कारण यह था कि जहां तक रियासतों की जनता का संबंध है, सामंती प्रणाली ही अधिक प्रत्यक्ष रूप में उनका शोषण कर रही थी। इस तथ्य को काफी हद तक स्पष्ट भी किया गया।

सम्मेलन की स्थापना का एक तात्कालिक नतीजा यह हुआ कि रियासतों की जनता का संघर्ष, स्थानीय घटना और अपने आप में कटी हुई या सीमित चीज न रहकर अखिल भारतीय महत्व का हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष पद से पूर्ण स्वराज के बारे मे बोलते हुए आधिकारिक घोषणा की :

> भारतीय रियासतें शेष भारत से अलग होकर नहीं रह सकतीं। रियासतों के भविष्य का निर्धारण करने का अधिकार जिस जनता को है, वह जनता निश्चय ही उन रियासतों की ही होगी।

सन् 1929 की कांग्रेस ने भी रियासती जनता सम्मेलन की मांगों का अनुमोदन किया था।

कांग्रेस के इस दृढ मत का, कि रियासतों को पूरे भारत का अभिन्न अंग मानना चाहिए, सीधा नतीजा यह हुआ कि सम्मेलन ने ब्रितानी सरकार से यह स्वीकार करने का आग्रह किया कि पहले गोलमेज सम्मेलन में रियासती जनता का प्रतिनिधित्व हो। आग्रह स्वीकार नहीं किया गया। तब रियासती सम्मेलन ने कांग्रेस को एक स्मरणपत्र भेजकर एक ऐसे अखिल भारतीय संघीय संविधान की पैरवी की जिससे कराची कांग्रेस द्वारा ब्रितानी भारत के लिए मांगे गये मौलिक अधिकारों और सुविधाओ को रियासत की जनता भी प्राप्त कर सके। इस प्रकार सामंत विरोधी आंदोलन का जनतत्रीकरण हो गया और वह राष्ट्रीय आंदोलन से जुड गया।

लेकिन गांधीजी ने सन् 1920 के आंदोलन में हस्तक्षेप न करने वाली नीति पर बल दिया। उनका तर्क था कि बाहर से शुरू किया हुआ आंदोलन सफल नहीं हो सकता और रियासत की जनता को आत्मनिर्भरता की सीख लेनी चाहिए। यों उन्होंने कांग्रेस के इस प्रस्ताव को प्रोत्साहन दिया कि रजवाड़ों के अपनी प्रजा को मौलिक अधिकार देना चाहिए।

सन् 1935 के भारतीय विधेयक में संघीय सिद्धात को मान्यता दी गयी लेकिन प्रस्तावों में जोड़-तोड़ करके ऐसी स्थिति पैदा कर दी गयी जिसमें रियासतों को राष्ट्रवादिता के तकाजों की राह में अवरोध के रूप में इस्तेमाल किया गया। यह न केवल आनुपातिक प्रतिनिधित्व के मान्य स्वरूप के अनुसार नहीं था वरन् रियासतों के प्रतिनिधि भी रियासती जनता के वास्तविक प्रतिनिधि नहीं थे। वे शासकों द्वारा सिर्फ मनोनीत किये जाने वाले थे।

बहुत सी रियासतों, विशेषकर राजकोट, जयपुर, कश्मीर, हैदराबाद और त्रावणकोर में उल्लेखनीय आंदोलन हुए और उनमें मांग की गयी कि जनतांत्रिक सिद्धांतों को स्वीकार किया जाना चाहिए और सरकारी प्रशासन का पुनर्गठन होना चाहिए। रजवाड़ों ने उसका जवाब निर्मम दमन से दिया। उनमें से कुछ ने जनविद्रोह की आंधी को सांप्रदायिक भावनाओं की ज्वाला में बदलने की कोशिश की। प्रमाण के लिए हैदराबाद के नवाब ने जन आंदोलन पर मुस्लिम विरोधी आंदोलन का ठप्पा लगाने की कोशिश की। ठीक इसी तरह कश्मीर के महाराजा ने जन आंदोलन को हिंदू विरोधी सिद्ध करने की कोशिश की। त्रावणकोर में शगूफा छोड़ा गया

कि आंदोलन के पीछे ईसाइयों और उनके धर्मगुरुओं का हाथ है जो हिंदू महाराजा को गद्दी से उतार देना चाहते हैं।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने रियासती जनता को उसके संघर्ष में समर्थन देना शुरू कर दिया था। उसने जनतांत्रिक सरकार की स्थापना और जनता को नागरिक अधिकार देने की मांग की। स्वतंत्रता की बात करते हुए कांग्रेस ने स्पष्ट कर दिया था कि उसका अंतिम लक्ष्य भारत के सभी लोगों की स्वतंत्रता है और उसमें रियासतों की जनता भी शामिल है। त्रिपुरा कांग्रेस (1938) ने फैसला किया था कि संगठन को अपने को रियासती आंदोलन से निकट से संबद्ध करना चाहिए। सारे भारत के लोगों को समान आकांक्षाओं का महत्व सिद्ध करने के लिए रियासती सम्मेलन ने सन् 1939 में जवाहरलाल नेहरू को अपना अध्यक्ष चुना। रियासतों के आंदोलन से न केवल वहां की जनता की राजनैतिक चेतना में गर्मी पैदा हुई बल्कि उसी की वजह से भारत की एकता की धारणा को नयी व्यापकता मिली।

अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दिलचस्पी

यह दौर सन् 1935-40 के बीच का था, जब आम तौर पर राष्ट्रवादी आदोलनकारियों और खास तौर पर कांग्रेसी नेताओं ने अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अधिक सजगतापूर्वक दिलचस्पी लेना शुरू किया। उन्होंने विदेशी घटनाओं को भारतीय संदर्भो से जोड़कर यह जानने की कोशिश की कि उनका यहां की जनता पर क्या प्रभाव पड़ता है। शुरू से ही भारतीय नेताओं ने विदेशों में (विशेषकर अफ्रीका और एशिया में) ब्रितानी साम्राज्य के हितों की अभिवृद्धि में भारतीय सेना और उसके साधनों के इस्तेमाल पर आपत्ति की थी। इस विरोध ने सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना के साथ ही उसकी नीति का एक स्पष्ट रूप ले लिया था। इसका सीधा नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस ने देश के लिए एक ऐसी विदेश नीति भी बनानी शुरू कर दी जो ब्रिटेन के बजाय उसके हितों की सिद्धि करे। आमतौर पर इस नीति ने साम्राज्यवाद के सभी रूपों का विरोध किया। फरवरी, 1927 में जवाहरलाल नेहरू ब्रुसेल्स में आयोजित 'दलित राष्ट्रों की कांग्रेस' में शामिल हुए। इस सम्मेलन का आयोजन एशिया, अफ्रीका और लातिनी अमरीका के उन देशों के क्रांतिकारियों और निर्वासित राजनीतिकों ने किया था, जहां की जनता साम्राज्यवादी शक्तियों के आर्थिक और राजनीतिक शोषण से पीड़ित थी। ब्रुसेल्स कांग्रेस ने साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए एकसमान योजना को समन्वित करना चाहा। नेहरू उसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुए थे। कांग्रेस को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा :

> हम महसूस करते हैं कि पराधीन, अर्धपराधीन और दलित लोग आज जो संघर्ष चला रहे हैं, उसमें बहुत कुछ एकसमान है। उसके दुश्मन प्रायः एक हैं हालांकि

> वे कभी कभी दूसरे वेश में दिखाई देते हैं। वे लोगों को आधीन करने के लिए जिन साधनों का इस्तेमाल करते हैं वे भी प्रायः एक जैसे ही होते हैं।

इसी ब्रुसेल्स कांग्रेस में साम्राज्यवाद विरोधी लीग की स्थापना हुई। नेहरूजी उसकी कार्यकारिणी समिति के एक सदस्य चुने गये। उसी साल के अंतिम दिनों में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में एक उत्तेजनापूर्ण बहस-मुबाहिसे के बाद सरकार को स्पष्ट चेतावनी दी गयी कि भारत साम्राज्यवादी लक्ष्यों की सुरक्षा या अभिवृद्धि के लिये किये जाने वाले युद्ध या युद्ध जैसी कार्रवाइयों में समर्थन देने को तैयार नहीं होगा।

सन् 1930 और 40 के बीच कांग्रेस साम्राज्यवाद के (चाहे वह दुनिया के किसी भी हिस्से में हो) विरोध के अपने निर्णय में अधिक से अधिक दृढ़ होती गयी। उसने अफ्रीकी और एशियाई देशों के राष्ट्रवादी आंदोलनों का खुला समर्थन किया। इस समय तक जनतंत्र के लिए एक नये खतरे के रूप में इटली, जर्मनी और जापान में फासिस्टवाद का उदय होने लगा था। अपने खुद के उन्मादी तरीके में फासिस्टवाद साम्राज्यवाद का एक रूप था। अवधारणा में यह भी रंगभेद का हिमायती था। अतः कांग्रेस ने इथियोपिया, स्पेन और चेकोस्लोवाकिया के फासिस्टवाद-विरोध को मुक्त समर्थन दिया। सन् 1937 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया। कांग्रेस ने इसे एक साम्राज्यवादी आक्रमण कहा और एक प्रस्ताव पास करके भारतीय जनता से मांग की कि वह चीनी जनता की सहानुभूति में जापानी वस्तुओं के इस्तेमाल से मुंह मोड़ ले। दूसरे साल यानी सन् 1938 में डा.एम.अटल के नेतृत्व में एक चिकित्सा मिशन चीनी सेना के साथ काम करने के लिए चीन भेजा गया। मिशन में डा. कोटनीस भी शामिल थे।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की यह नीति उस स्वीकृति का परिणाम थी कि एशिया और अफ्रीका के देशों का भविष्य एक दूसरे से जुड़ा है और फासिस्टवाद तथा स्वतंत्रता, समाजवाद और जनतंत्र के बीच से आसन्न संघर्ष का भारत पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। यद्यपि इन विचारों से अधिसंख्य भारतीय नेता सहमत थे लेकिन विदेशी मामलों में उनके मुख्य प्रवक्ता जवाहरलाल नेहरू थे। इस विषय में वह न केवल कांग्रेस के बल्कि सारे देश के प्रवक्ता थे। भारतीय नेताओं में वह पहले थे जिसने अपने देश के विकास के संदर्भ में दुनिया की घटनाओं के महत्व को पहचाना। इस विषय पर उन्होंने बार बार अपने विचार प्रकट किये। प्रमाण के लिए सन् 1936 में लखनऊ कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा:

> हमारा संघर्ष स्वतंत्रता के एक व्यापक संघर्ष का एक अंश था। जिन शक्तियों ने हमें आगे बढ़ाया, उन्होंने दुनिया के लाखों लोगों को आगे बढ़ाया—उन्हें कार्यरत होने की गति दी। पूंजीवाद ने अपनी संकटपूर्ण स्थितियों में फासिस्टवाद का रूप लिया। साम्राज्यवादी वर्षो से अपने उपनिवेशवादी देशों की जनता के साथ जैसा व्यवहार करते आ रहे थे वैसा ही व्यवहार फासिस्टवाद ने अपने ही देश की जनता के साथ किया। इस प्रकार फास्टिवाद और साम्राज्यवाद पतनोन्मुख पूंजीवाद के ही

दो चेहरे थे। पश्चिम में समाजवाद ने, अपने पूर्व में उभरती हुई राष्ट्रवादिता ने साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद के इस गठजोड़ का विरोध किया।

नेहरू ने बल देकर कहा कि साम्राज्यवादी शक्तियों के किसी युद्ध में भारत हिस्सा नहीं लेगा। वह दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों को स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले को राजनैतिक और सामाजिक दासता को तोड़ने में मुक्त मन से समर्थन देगा। "हम महसूस करते हैं कि साम्राज्यवाद और फासिस्टी प्रतिक्रिया के विरोध में हम सब का संघर्ष एक ही है।"

सांप्रदायिकता में वृद्धि

सन् 1935 के विधेयक से सीमित जनतंत्र के जो अधिकार मिले उनकी वजह से एक बार फिर सांप्रदायिकता और क्षेत्रीयता की चिंगारियां भड़कीं। इन दोनों को फूट डालो राज्य करो की सरकारी नीति ने, सारे देश के जमींदारों और भू-स्वामियों की अर्द्धसामंती शक्तियों ने और उभरते हुए युद्धोन्मुख धर्मोन्माद के एक खास तरह के स्वरूप ने पाला। मुसलमानों के लिए आरक्षित 58 स्थानों पर कांग्रेस ने चुनाव लड़ा लेकिन केवल 26 पर जीत सकी। इनमें से भी 15 जगहों पर उसकी जीत पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में अब्दुल गफ्फार खा और उनके खुदाई खिदमतगारों के प्रभाव के कारण हुई। मुस्लिम लीग के मुसलमानों के लिए आरक्षित जगहों पर भी अधिक सफलता नहीं मिली। कांग्रेस ने यह महसूस किया कि सारे देश के मसले की पैरवी करने की सोच-समझ कर स्वीकृत एक निष्ठापूर्ण चाहत के बावजूद मुस्लिम जनता को अपने पक्ष में करना अभी भी शेष था। अतः दल ने अपनी जीत के साथ अपनी स्थिति को मजबूत बनाने और जनसंपर्क कार्यक्रम की आवश्यकता पर गंभीरतापूर्वक विचार करने का कार्य शुरू किया।

मुस्लिम लीग ने कांग्रेस पर इस आरोप के साथ आक्रमण करना शुरू किया कि वह मुस्लिम अल्पसंख्यकों को उनके स्वतंत्र अस्तित्व और एकता से वंचित कर रही है। मुस्लिम लीग ने इस सिद्धांत की पुष्टि करना शुरू कर दिया कि हिंदू और मुसलमान वास्तव में दो राष्ट्र हैं।

हिंदुओं में भी जातीय आधार पर बने संगठनों ने ऊपरी तौर पर जनतांत्रिक दिखने वाले झंडों के नीचे अपने अस्तित्व को प्रभावशाली बना लिया। इनमें मुख्य थीं, बबई में डा. आंबेडकर की राष्ट्रीय मजदूर संघ द्वारा समर्थित दलित वर्ग के मजदूरों की 'स्वतंत्र मजदूर पार्टी' और मद्रास की पुनर्जीवित की हुई 'जस्टिस पार्टी' जिसने कांग्रेस को ब्राह्मणों के आधिपत्य वाला दल कहकर उसका विरोध किया था। दूसरे क्षेत्रों में भी इसी तरह के संगठन उभरे। हिंदू महासभा पहले से ही अस्तित्व में थी। सन् 1935 के आरंभ में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का उदय हुआ। बाद के वर्षो में हिंदू महासभा ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों में और भी कड़वाहट भर दी। उसने मुसलमानों के दो राष्ट्रों के सांप्रदायिकतावादी सिद्धांत के जवाब में उतने ही अवैज्ञानिक इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि भारतीय राष्ट्र हिंदुओं से बना है और दूसरे धर्मो के अनुयायी 'विदेशी'

हैं। इन दोनों सांप्रदायिक सिद्धांतों का परिणाम भारतीय जनता का बंटवारा और विदेशी सत्ता के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष को दुर्बल करना था। इतना ही नहीं, इन दोनों ही संगठनों ने अपने अनुयायियों को कांग्रेस से लड़ने की सीख दी। विदेशी साम्राज्यवादियों के प्रति उनका रुख समर्पण और सहयोग का था। जब कभी भी ब्रितानी सरकार ने कांग्रेस या दूसरे राष्ट्रवादी संगठनों पर आक्रमण किया, इन दोनों सांप्रदायिक दलों ने उससे सहयोग किया।

सन् 1939 के बाद सांप्रदायिक तनाव बढ़ गये। इसका कारण कांग्रेस की हठधर्मिता नहीं वरन् ब्रितानी साम्राज्यवाद की नीति और भारतीय साप्रदायिकता और क्षेत्रीयता के बीच पैदा हुई प्रतिक्रिया थी। ऊपर से देखने पर लगता था कि ब्रितानी नीति प्रतिनिधि सरकार की स्थापना के लिए अधिक अधिकार दे रही है लेकिन वास्तविकता यह है कि उसने शहर के संपत्तिवानों, धनी किसानों और उत्तराधिकार पर आधारित गैर जनतांत्रिक सामंतवाद में अब भी विश्वास करने वाले एक वर्ग की अधिकार पाने की आकांक्षा को बढ़ावा देने की कोशिश की। इन वर्गो ने हिदुओं और मुसलमानों के उन क्षेत्रीय और सांप्रदायिक दलों से सहायता मांगी जो फूट डालो और राज करो की ताल पर नाच रहे थे।

जिन प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमडल बने उनमें सरकार द्वारा मजदूरों के विवादों के समझौते, हरिजनों की हालत में सुधार, प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार और औद्योगिक नगरों के पास की दूकानों पर उपलब्ध शराब की समस्या हल करने की दिशा में अनेक कदम उठाये गये। मद्रास में कांग्रेस ने मद्यनिषेध की शुरूआत की। इसी के कारण बाद के वर्षो में मद्यनिषेध को कांग्रेस ने अपने कार्यक्रम का एक मुख्य मुद्दा बनाया। मद्रास सरकार ने मजदूर विवाद के संदर्भ में एक त्रिपक्षीय प्रणाली की शुरुआत करते हुए मजदूर संघों और मालिकों को अपने मतभेद समाप्त करने के लिए एक समझौते की मशीनरी व्यवस्था की। यह प्रणाली स्वतंत्रता मिलने के बाद के वर्षो में भी मजदूर संबंधों के सुधार में बहुत कारगर साबित हुई। इस प्रणाली में सामूहिक ढंग से सौदेबाजी करने के तरीके का इस्तेमाल होता है, जिसमें मजदूर विवादों को खत्म करने की उदार कोशिश की जाती है। इसने मजदूर संघों की राजनीतिक शक्ति बढ़ायी लेकिन उसी के साथ साथ उनसे यह अपेक्षा भी की जाने लगी कि वे औद्योगिक सद्भाव बनाये रखने के आग्रह पर बल देंगे। वामपंथी मजदूर संघों ने इसकी यह कहकर आलोचना की कि इसके कारण पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच एक ऐसा वर्ग-सहयोग पैदा होगा जिसमें पूंजीवादी व्यवस्था निरंतर बनी रहेगी। आमतौर पर सन् 1937-39 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों और नरमपंथी राष्ट्रवादी नेताओं ने गांधीवादी नीतियों पर अमल करने की कोशिश की। स्वतंत्रता मिलने के बाद कुछ वर्षो में यही तत्व भारत सरकार की आधिकारिक नीति का एक अंग बन गया।

पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, पंजाब, सिंध, बंगाल और आसाम के प्रांत थे जिन्हें मिलाकर पाकिस्तान बनाने की मांग सन् 1935 में की गयी थी। लेकिन चुनावों में इन क्षेत्रों में मुस्लिम लीग को दयनीय सफलता मिली। उसकी विजय उत्तर प्रदेश जैसे प्रातों में शानदार रही जहां मुसलमान अल्पमत में थे। अगर कांग्रेस ने सन् 1937 के चुनाव परिणामों की सही ढंग से छानबीन

की होतीं तो उसने यह समझ लिया होता कि यदि बहुत से मुसलमानों ने उसके पक्ष में मत नहीं दिया तो यह स्थानीय धार्मिक अल्पमत के इस मत की ही अभिव्यक्ति है कि धार्मिक बहुसंख्यक अर्थात् हिंदू प्रांतीय सरकारों में अपनी बहुसंख्यक स्थिति का प्रयोग उन्हें नेस्तनाबूद करने में कर सकते हैं। कांग्रेस यह महसूस नहीं कर सकी कि इस तरह का भय किसी भी देश में अल्पसंख्यकों को स्वाभाविक ढंग से होता है। उस भय को कांग्रेस दल के भीतर और बाहर चलने वाले सांप्रदायिक चिंतन ने बढ़ाया। बहुत से कांग्रेसी नेताओं ने महसूस किया कि दल के भीतर सांप्रदायिकता के विरुद्ध दृढ़ संघर्ष करके, साम्राज्यवाद विरोधी और स्वतंत्र-मुसलमानों के प्रति मित्रता और समझदारी का रुख अपना करके उन्हें शिक्षित करके जीता जा सकता था। इसके लिए किसान वर्ग को सामंती तत्त्वों के विरुद्ध संगठित करना चाहिए था। उस परिस्थिति में यही करना एक जवाब था।

मार्च, 1937 में नेहरू ने मुसलमानों से व्यापक संपर्क करने और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के बारे में उन्हें बताने के लिए कांग्रेस की एक शाखा गठित करने की घोषणा की। इसकी वजह से उत्तरी भारत के मुसलमानों के मजलिसे-अहरार और जमीयते-उल्माए-हिंद जैसे धार्मिक गुटों को कांग्रेस के साथ करने में मदद मिली लेकिन व्यापक जनसंपर्क का कार्यक्रम पूरी तरह सफल नहीं हुआ क्योंकि कांग्रेसी नेता शोषित वर्ग के सभी लोगों को प्रेरित और संचालित करने में सफल नहीं थे।

लेकिन सपर्क के कार्यक्रम ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के जमींदार लियाकत अली खां जैसे लीगियों के भय को बढ़ा दिया। वह अब जिन्ना के कट्टर हिंदू-विरोधी समर्थक हो गये। उन्हें भय था कि कांग्रेस के भूमि संबंधी परिवर्तनकारी कार्यक्रमों के तेज विकास से उनकी अर्द्धसामंती स्थिति खत्म होगी और मुसलमानों में पैदा होने वाली साम्राज्य विरोधी भावना के कारण सांप्रदायिक नेताओं को मिलने वाला सरकारी संरक्षण खत्म हो जायेगा।

लेकिन सांप्रदायिक नेता खुलकर यह नहीं कह सके कि उनके कांग्रेस का विरोध करने के कारण ये ही हैं। बल्कि इसके बदले उन्होंने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की असफलता को बढ़ा-चढ़ाकर कारण के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होने कांग्रेस पर यह आरोप लगाया कि उसने बंगाल में जमींदार समर्थक दक्षिणपथी नीति अपनाई। उत्तर प्रदेश में उन्होंने कांग्रेस की असफलता का नाजायज इस्तेमाल अपनी जनसंपर्क की नीति को विकसित करने में किया। साथ ही कांग्रेस पर आरोप लगाया कि उसने उच्चवर्गीय मुसलमानों को कमजोर बनाया। जिन्ना ने लीग के सन् 1937 के लखनऊ सम्मेलन में अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए कहा कि कांग्रेस मंत्रिमंडल मुसलमानों के प्रति अत्याचारी और दमनकारी रहा है।

मुस्लिम लीग ने अपने राजनीतिक आग्रहों को प्रकट करने के लिए एक सुनियोजित आंदोलन आरंभ किया। सन् 1938 के अंत तक उसकी 170 नयी शाखाएं स्थापित हो चुकी थीं। 90 उत्तर प्रदेश में और 40 पंजाब मे। अकेले उत्तर प्रदेश में 1 लाख सदस्य बनाये गये। सन् 1940 में की गयी पाकिस्तान की मांग के संदर्भ में बंगलादेश के एक इतिहासकार प्रोफेसर ए.एफ.

सलाहुद्दीन अहमद ने मुस्लिम लीग की राजनीति के इस पक्ष का सही मूल्यांकन किया है। अप्रैल, 1972 में कलकत्ता में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की एक संगोष्ठी में प्रस्तुत अपने निबंध में उन्होंने कहा :

> जिस आदोलन की परिणति पाकिस्तान के निर्माण में हुई, वह आदोलन धार्मिक नहीं था....लगता है कि हिंदुओं के राजनीतिक प्रभुत्व का भय आंदोलन को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि उसने मुस्लिम संप्रदाय के राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डाला होता। हालांकि परंपरागत इस्लाम में राजनीति और धर्म अविभाज्य हैं लेकिन यह स्थिति समकालीन मुस्लिम समाज के लिए सही नहीं रह गयी है। आंदोलन के बहुत कम नेताओं में परंपरागत इस्लाम के लिए कोई गहरा लगाव था। निश्चित रूप से इसी वजह से कट्टर मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाले मैहसुल इसरार और मैतुलहिंद जैसे संगठनों ने इसी आधार पर लीग का समर्थन नहीं किया कि उसका नेतृत्व इस्लामी नहीं है। इन कट्टर मुसलमान धर्मशास्त्रियों के विरोध के बावजूद लीग को मुसलमानों के माध्यम वर्ग और उनके जरिये मुस्लिम जनता के समर्थन का लाभ मिला। (यह ध्यान रखना चाहिए कि सभी मुस्लिम धर्मशास्त्री लीग के विरोधी नहीं थे) उनके लिए पाकिस्तान ने बिना किसी प्रतिस्पर्द्धा के भय के बहुमुखी विकास का अवसर दिया।

द्वितीय विश्वयुद्ध

सितंबर, 1939 में युद्ध छिड जाने पर भारतीय नेता एक कठिन स्थिति में पड़ गये। वे फासिस्टवादी दर्शन के बिल्कुल विरुद्ध थे, जैसा कि जाहिर था वह एक तरह का एकदलीय शासनतंत्र था जिसमें रगभेद संबधी दुराग्रह भी शामिल था। यहां तक कि सन् 1939 के पहले के वर्षो में आक्रमण के विस्तारवादी कार्यक्रम के साथ जब फासिस्टवाद एक राजनैतिक दर्शन के रूप में उभर रहा था तभी जवाहरलाल नेहरू जैसे अनेक नेता यूरोप में उसको विकसित होते देखकर बहुत चिंतित हुए थे। कांग्रेस ने बहुत ही स्पष्ट ढंग से उसकी निंदा करते हुए स्पेन, इथियोपिया और चेकोस्लोवाकिया की पीड़ित जनता को खुला समर्थन देने की घोषणा की थी। जापान में भी फासिस्टवाद की प्रवृत्ति के विकास पर उनका दृष्टिकोण वैसा ही रहा और जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तो उन्होंने तर्कसम्मत ढंग से चीन का समर्थन करते हुए जापान को आक्रामक कहा। लेकिन वे साम्राज्यवाद के भी उतने ही प्रबल विरोधी थे। अत: युद्ध को लेकर उनका दृष्टिकोण इस बात पर निर्भर करने वाला था कि उसके लक्ष्य और उद्देश्य क्या हैं। यदि वह युद्ध एशिया और अफ्रीका के देशों में अपने उपनिवेश या अपने औपनिवेशिक प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए परेशान पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों या फासिस्टवादी सत्ता का प्रतिनिधित्व

करने वाले उन नवसाम्राज्यवादियों के बीच हो रहा है जो उपनिवेशवादी लूट में अपना हिस्सा चाह रहे हैं, तब भारत की उसमें कोई दिलचस्पी नहीं होगी। लेकिन यदि मित्र राष्ट्र अपना रवैया बदल कर दुनिया में जनतंत्र कायम करने के उद्देश्य से सचमुच ईमानदारी के साथ फासिस्टवाद से लड़ रहे हैं तो भारत उनको अपनी शक्ति भर हर संभव समर्थन देगा। लेकिन मित्र राष्ट्रों को निश्चित प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करना पड़ेगा कि उन्होंने जो दावे किये थे उन्हीं पर अमल करेंगे। खासतौर पर ब्रिटेन को तत्काल भारत को साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक प्रभुत्व छोड़ कर भारतीयों को स्वयं अपनी सरकार चलाने के लिए उचित मात्रा में अधिकार देना चाहिए।

लेकिन भारतीय जनता और उसके नेताओं की इन भावनाओं को महत्वहीन मानकर उन पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। 3 सितंबर, 1939 को युद्ध की घोषणा कर दी गयी। इससे भारत स्वतः युद्ध में शामिल होने के लिए प्रतिबद्ध हो गया। सन् 1935 के भारतीय विधेयक के संघीय भाग पर अभी भी अमल नहीं किया गया था, अतः शुद्ध संवैधानिक दृष्टि से वायसराय की यह कार्रवाई कानूनी भी थी और मान्य भी। लेकिन इससे भारतीय जनता की भावनाओं के ब्रिटेन के अनुकूल हो जाने की संभावना लगभग नहीं थी। देश की एक केंद्रीय विधान परिषद थी। प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारें थीं। देश में सुसंगठित और पूरी तरह मान्यता प्राप्त राजनैतिक दल थे। भारतीय जनता के बहुत से नेता थे जिनसे ब्रितानी सरकार ने अनेकों बार पारस्परिक सहमति के आधार पर समस्याओं का हल ढूंढ़ने के लिए विचार विमर्श किया था लेकिन इनमें से किसी से राय नहीं ली गयी। भारतीय जनता के लिए यह स्थिति ज्यादा स्तब्ध कर देने वाली इसलिए भी थी क्योंकि आसन्न युद्ध संबंधी भारतीय नेताओं के रुख का संकेत सरकार को पहले ही मिल चुका था। सन् 1939 की गर्मियों में कांग्रेस केंद्रीय विधान परिषद के अधिवेशन से यह विरोध करते हुए गैरहाजिर हो गयी थी कि भारतीय सैनिक एहतियाती तौर पर मलाया और सुदूर पूर्व के देशों में भेजे जा रहे हैं।

लेकिन संभवतया नेताओं की अत्यंत तीखी फासिस्ट विरोधी भावना के कारण युद्ध की घोषणा पर कांग्रेस की तात्कालिक प्रतिक्रिया समन्वयात्मक थी। 14 सितंबर, 1939 को कांग्रेस ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें दल के दृष्टिकोण की स्पष्ट व्याख्या थी:

> अगर युद्ध का उद्देश्य यथावाद, साम्राज्यवादी आधिपत्य, उपनिवेश, निहित स्वार्थ और विशेषाधिकारों की रक्षा है, तब भारत की उसमें कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती है लेकिन यदि मसला जनतंत्र का या जनतंत्र पर आधारित विश्व-व्यवस्था का है तब उसमें भारत की गहरी दिलचस्पी है...एक स्वतंत्र और जनतांत्रिक भारत स्वतंत्र देशों के साथ आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सुरक्षा और आर्थिक सहयोग देने के लिए खुशी खुशी कंधे से कंधा मिलायेगा, लेकिन सहयोग निश्चय ही बराबर वालों में और आपस की रजामंदी से होना चाहिए...अतः कार्यकारिणी ब्रितानी सरकार से आग्रह करती है कि वह स्पष्ट रूप से घोषित करे कि जनतंत्र, साम्राज्यवाद और

परिकल्पित नयी व्यवस्था के संदर्भ मे युद्ध के उसके उद्देश्य क्या हैं? खास तौर पर यह कि उन उद्देश्यो को भारत पर किस तरह लागू करना है...उन्हें इस वक्त किस तरह से अमल में लाया जाना है। किसी भी घोषणा की सही जांच उसके वर्तमान प्रयोग में है।

भारतीय दृष्टिकोण से वायसराय का उत्तर अत्यंत असंतोषजनक था। उत्तर देने में एक महीने तक टालमटोल करने के बाद वायसराय ने 17 अक्तूबर, 1939 को अपनी असमर्थता पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि वह युद्ध के उद्देश्यों के बारे में इससे अधिक कुछ नहीं बता सकते हैं जितना प्रधानमंत्री ने बताया है। जहां तक तात्कालिक वर्तमान का प्रश्न था, वायसराय अपनी कार्यकारी समिति में कुछ और भारतीयों को शामिल करने को तैयार थे। युद्ध के दौर में भारतीयों को पर्याप्त अधिकार देना अव्यावहारिक माना गया था। एक गाजर (ढाढ़स बंधाने के लिए) सुरक्षित दूरी पर इस उम्मीद में लटका दिया गया था कि निर्दयतापूर्वक निराशा का शिकार बना दिये गये भारतीय राष्ट्र को उसे देखकर कुछ सांत्वना मिलेगी। युद्ध के बाद ब्रिटेन यह देखने के लिए कि सन् 1935 के भारतीय विधेयक में कौन से संशोधन आवश्यक हैं (ताकि भारत महान उपनिवेशों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त कर सके), विभिन्न वर्गो और गुटों से राय-मशविरा करने को तैयार हो गया।

उसमे तत्काल या दूर भविष्य तक में सत्ता को छोड देने की ब्रिटेन की इच्छा का कोई संकेत नहीं था—अभी भी भारत को साम्राज्यवाद के अंतर्गत औपनिवेशिक दर्जा ही प्राप्त करना था। पूर्ण और समग्र स्वतंत्रता नहीं। वक्तव्य कांग्रेस के लिए एकदम स्वीकार योग्य नहीं था, अतः कार्यकारिणी ने वायसराय के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से कहा कि वे अक्तूबर के अंत तक त्यागपत्र दे दें।

लेकिन दरवाजा जरा-सा खुला रखा गया था। वक्तव्य में यह संकेत था कि यदि ब्रिटेन के दृष्टिकोण और नीति मे परिवर्तन होता है तब सहयोग की गुंजाइश हो सकती है। वक्तव्य में कहा गया था कि "इन परिस्थितियों में कार्यकारिणी संभवतया ब्रिटेन को कोई सहयोग दे ही नहीं सकती क्योंकि उसका मतलब साम्राज्यवादी नीति का अनुमोदन करना होगा..."

इसका मतलब 'सशर्त सहयोग' का प्रस्ताव था, बशर्ते कि भारत के प्रति ब्रितानी नीति मे परिवर्तन हो।

यहां तक कि एक साल बाद अक्तूबर, 1940 में जब गांधीजी ने नये सिरे से सत्याग्रह आंदोलन शुरू करने की बात सोची तो फैसला किया गया कि उसे कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित रखा जाये। इसका कारण यह था कि सरकार के उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण के बावजूद गांधीजी या कोई भी कांग्रेसी नहीं चाहता था कि जन आंदोलन के कारण युद्ध की तैयारी में भयंकर अव्यवस्था पैदा हो। सत्याग्रह का वास्तविक उद्देश्य ब्रितानी सरकार के इस दावे को गलत साबित करना था कि भारत युद्ध की तैयारी में पूरी तरह से मदद दे रहा है। वायसराय को लिखे एक पत्र में गांधीजी ने निजी तौर पर सत्याग्रह चलाने के उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया था:

...कांग्रेस नात्सीवाद की जीत की उतनी ही विरोधी है जितना कोई ब्रितानी नागरिक हो सकता है। लेकिन उसके उद्देश्यों को उस सीमा तक नहीं ले जाया जा सकता जहां से वे युद्ध में हिस्सा लेने लगें। और क्योंकि आप तथा भारतीय मामलों के मंत्री ने घोषित कर दिया है कि भारत अपनी इच्छा से युद्ध की तैयारी में मदद दे रहा है, यह स्पष्ट कर देना जरूरी हो जाता है कि इसमें भारतीय जनता के बहुत बड़े बहुमत की दिलचस्पी नहीं है। वे नात्सीवाद और भारत पर हुकूमत करने वाले दुहरे निरंकुश शासन तंत्र में भेद नहीं करते।

क्रिप्स मिशन

नागरिक अवज्ञा का यह व्यक्तिगत आंदोलन अक्तूबर, 1940 में शुरू हुआ। सत्याग्रह शुरू करने वाले पहले नेता के रूप में गांधीजी ने विनोबा भावे का चुनाव किया। सन् 1941 तक यूरोप में युद्ध अपने शिखर पर पहुंच गया था। ब्रिटेन के युद्ध में पराजित होने के बावजूद, पोलैंड, बेल्जियम, हालैंड, नार्वे, फ्रांस और पूर्वी यूरोप के अधिकतर देशों को हराकर जर्मनी ने जून, 1941 में रूस पर आक्रमण कर दिया। पर्ल हारबर पर अचानक आक्रमण करके दिसंबर में जापान युद्ध में शामिल हो गया। इस प्रकार सन् 1941 के अंत तक युद्ध ने वह शक्ल ले ली जिसमें सारी दुनिया जलती हुई दिखाई दी। अमरीका और रूस उसमें पूरी तरह शामिल होकर मित्र राष्ट्रों के साथ लड़ रहे थे। लेकिन इससे ऐसा नहीं लगा कि विजय शीघ्र हो जायेगी। दूसरी तरफ एशियाई स्थल में शुरू में ही सफलताएं जापान को मिली। उसने फिलीपीन्ज, हिंदचीन, इंडोनेशिया, मलाया और बर्मा पर शीघ्रता से विजय प्राप्त कर ली। मार्च, 1942 में जापानी फौजों ने रंगून पर कब्जा कर लिया। भारत के सीमांतों पर सीधा खतरा पैदा हो गया।

अब ब्रिटेन हताशा में भारत का पूरा और सक्रिय सहयोग पाने के लिए परेशान था ताकि न केवल जापान को आगे बढ़ने से रोका जा सके वरन् युद्ध की समग्र तैयारी में मदद मिले। ब्रिटेन ने महसूस किया कि भारत को फिलहाल भविष्य में स्वशासी सरकार बनाने के पूरे अधिकार देने का निश्चित वायदा करना पड़ेगा। तदनुसार ब्रितानी सरकार ने युद्धकालीन मंत्रिमंडल के एक सदस्य सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को घोषणा के एक मसविदे के साथ भारत भेजा। वह एक तेज-तर्रार वकील और प्रतिबद्ध समाजवादी थे। भारतीय प्रश्नों-समस्याओ का उन्होंने गंभीरतापूर्वक लंबे अरसे से अध्ययन किया था। उनके विषय में एक आम धारणा थी कि भारतीय आकांक्षाओं के प्रति उनके मन में सहानुभूति का भाव है। नेहरूजी से उनका व्यक्तिगत परिचय था। लेकिन घोषणा का जो मसविदा वह लाये थे उसमें सिफारिश के नाम पर कुछ खास नहीं था। उसमें यह प्रस्ताव था कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत को औपनिवेशिक दर्जा दे दिया जायेगा। मसविदे में भारत को अलग हो जाने का भी अधिकार दिया गया था। प्रस्ताव पर

अमल करने के लिए, युद्ध स्थिति के खत्म होते ही एक संविधान सभा का गठन किया जायेगा। सभा में ब्रितानी भारत और देशी रियासतों के सदस्य होने थे। ब्रितानी भारत के सदस्यों का चुनाव प्रांतीय विधान परिषदों के निचले सदन द्वारा किया जायेगा। रियासतों के सदस्यों का मनोनयन सरकार करेगी। सभा सरकार द्वारा निर्मित संविधान को स्वीकार करने और भारत से एक संधि-व्यवस्था पर बातचीत करने को तैयार थी। लेकिन उसमें एक व्यवस्था यह थी कि यदि कोई प्रांत भारतीय संघ से अलग रहना चाहे तो रह सकता है और ब्रिटेन से सीधी बातचीत कर सकता है। युद्ध के दौर में किसी तरह का संवैधानिक परिवर्तन करने का प्रस्ताव नहीं रखा गया लेकिन यह उम्मीद जाहिर की गयी थी कि भारत के नेता और राजनैतिक दल एक 'राष्ट्रीय सरकार' के गठन और संचालन में सहयोग करने के लिए तैयार होंगे। सुरक्षा मंत्री भारतीय होगा लेकिन उसके वास्तविक सैनिक पक्षों की देखभाल ब्रितानी प्रधान सेनापति करते रहेंगे।

इस घोषणा को सभी राजनीतिक दलों ने अस्वीकृत कर दिया हालांकि उनके कारण भिन्न और प्रायः एकदम अंतर्विरोधी थे। कांग्रेस से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वह प्रातों के भारतीय संघ में न मिलने के सिद्धांत को स्वीकार करे। लेकिन कार्यकारिणी समिति ने आत्मनिर्णय के जनतांत्रिक सिद्धांत को स्वीकार किया। अतः अपेक्षा से आगे बढ़कर उसने अपने प्रस्ताव में कहा, "कार्यकारिणी देश की किसी क्षेत्रीय इकाई को उसकी घोषित और मान्य इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में बने रहने के लिए दबाव डालने की बात सोच नहीं सकती।" कांग्रेस ने संविधान सभा मे मनोनीत सदस्यों का लाया जाना भी स्वीकार नहीं किया। सबसे बड़ी बात यह थी कि उसने भविष्य के वायदों पर विश्वास नहीं किया। उसने उसी वक्त राजनैतिक सत्ता में एक निश्चित हिस्सा चाहा। विदेशी भूमि पर लड़ने के मूल्य के रूप में उसने देश में तत्काल स्वशासी सरकार स्थापिंत करनी चाही। दूसरी तरफ मुस्लिम लीग ने प्रांतो के भारतीय संघ से अलग बने रहने की संभावना का स्वागत किया। कारण यह था कि उसमे परोक्ष रूप में यह स्वीकार किया गया था कि यदि मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्र चाहे तो भारतीय संघ से अलग अपना एक स्वतंत्र संघ बना सकते है। लेकिन लीग ने प्रस्ताव की आलोचना इस वजह से की कि संविधान का मसविदा तैयार करने के लिए जो विधि अपनाई जाने वाली थी वह अस्पष्ट थी और प्रस्ताव भी अपने आप में इतना बेलोच था कि उसमें किसी तरह के संशोधन की गुंजाइश नहीं थी। हिंदू महासभा को देश के विभाजित हो जाने का भय था, अतः उसने प्रस्ताव का विरोध किया। सिख सांप्रदायिकतावादियों को भय था कि मुस्लिम बहुमत वाला पंजाब भारतीय संघ से बाहर रहने का निर्णय करेगा। आंबेडकर और सी.एम.राजा यह सोचकर भयभीत थे कि अछूतों को सवर्ण हिंदुओं की मर्जी पर छोड़ दिया जायेगा क्योंकि विशेष ढंग से यह नहीं बताया गया था कि प्रशासन पर भारतीयों का कितना नियंत्रण होगा। अतः सभी को प्रस्ताव अंतरिम समय के लिए अस्पष्ट और असंतोषजनक लगा। स्वायत्त सरकार के प्रस्ताव द्वारा कुछ विशेष न मिलने की स्पष्ट जानकारी बाद में तब हुई, जब अकस्मात क्रिप्स ने यह स्पष्टीकरण

दिया कि ब्रितानी सरकार का इरादा केवल वायसराय की कार्यकारी समिति का विस्तार करना था। उन्होंने बातचीत के प्रारंभिक दौर में 'राष्ट्रीय सरकार' और 'मंत्रिमंडल' का जिक्र किया था। अंततः प्रस्ताव अस्वीकृत हो गये और क्रिप्स मिशन गतिरोध को समाप्त करने में असफल रहा।

सन् 1942 का विद्रोह

क्रिप्स मिशन की असफलता ने देश को विषाद और आक्रोश का शिकार बना दिया। लगभग सभी क्षेत्रों में निराशा थी। अपवाद केवल मुस्लिम लीग और वे व्यक्ति थे जिन्होंने रोजगार के बढ़े हुए अवसरों का लाभ उठाया और युद्ध में ठेकेदारी करके खूब धन कमाया। लेकिन प्रश्न यह था कि अगला कदम क्या हो? निष्क्रियता असह्य थी।

गांधीजी ने क्रिप्स के प्रस्ताव में बहुत दिलचस्पी नहीं ली थी लेकिन उसकी असफलता से उन्हें भी बड़ी निराशा हुई। दक्षिण-पूर्व एशिया की बदलती हुई स्थिति से भी वह परेशान थे। ब्रिटेन, मलाया, सिंगापुर और बर्मा से पीछे हट गया था। उसके बाद वहां पर कोई प्रतिरोध नहीं रह गया और जापान वहां के लिए सब कुछ हो गया। इसी से मिलते-जुलते अभिशाप ने फिलीपीन्ज और इंडोनेशिया को ग्रस लिया था। 'तगड़ी सुरक्षा' के नाम पर 'स्कार्चड् अर्थनीति' के कारण देश पूरी तरह बरबाद हो गये थे। (स्कार्चड् अर्थनीति सेना की वह नीति होती है जिसके अनुसार वह पीछे हटते हुए सारी चीजों को स्वयं इसलिए नष्ट करती जाती है ताकि बढ़ती हुई शत्रु की सेना उसका लाभ न उठा सके)। यह सोचकर यदि सीमांत पर आक्रमण हुआ तो बंगाल में हजारों की संख्या में नदियों में पड़ी हुई छोटी नावें दुश्मन के हाथ लग जायेंगी, ब्रितानी सरकार ने उन्हें नष्ट कर दिया था। उसके बाद जो विपत्ति पैदा हुई वह भयंकर थी। यह प्रमाण भारत के सामने था और वह सोच सकता था कि वैसी स्थिति में भविष्य 'कैसा होगा'। न केवल बंगाल की अर्थव्यवस्था बुरी तरह लड़खड़ा गयी थी बल्कि खाद्यान्नों के बंटवारे में भी एक बड़ा संकट पैदा हो गया था। गांधीजी और कांग्रेस के नेता बेचैनी के साथ चाहते थे कि जो कुछ मलाया और बर्मा में घटित हुआ, उसकी भारत में पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए। जब जनता को सैनिक आक्रमण का सामना करना पड़ा था तो वह भय और आतंक का शिकार हो गयी। उन्होंने संकट का चुनौती के साथ सामना नहीं किया। भारत को ऐसी स्थिति से भी बचाना चाहिए था। गांधीजी इस नतीजे पर पहुंचे कि भारतीय जनता के मन से इस भय को दूर भगाने और आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तैयार करने का यही एक रास्ता हो सकता है कि उसके दिमाग में यह बैठा दिया जाये कि वह अपनी मालिक खुद है और देश की रक्षा करना उसका दायित्व है। वह इस विश्वास पर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकती कि सुरक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटेन की है। अतः उन्होंने ब्रितानी सरकार से भारत छोड़ देने और सत्ता को भारतीयों के हाथ सौंप देने की मांग के साथ एक आंदोलन शुरू करने का फैसला किया।

उन्होंने इसकी व्याख्या की : "मैं जानता हूं कि ऐसे नाजुक वक्त पर इस अद्‌भुत विचार से बहुत से लोग स्तंभित हुए हैं। यदि मुझे अपने प्रति ईमानदार रहना था तो पागल करार दिये जाने का खतरा मोल लेकर भी मुझे सच्चाई की बात करनी थी। मैं इसे युद्ध और भारत को विपत्ति से मुक्त करने में अपनी ठोस देन मानता हूं।"

बहुत से नेताओं का ख्याल था कि वह अवसर ऐसी सख्त मांग के लिए उपयुक्त नहीं था। एक तरफ उन्हें आतंक और अराजकता के परिणामों का और दूसरी तरफ जापान तथा दूसरे निर्दयी दुश्मनों द्वारा भारतीय जनता को निस्सहाय दासता में जकड़ देने का भय था। नेहरू अभी भी दूसरी तरह से सोच रहे थे। क्रिप्स मिशन की असफलता ने नेताओं को देश की सुरक्षा में पूरी तरह सहयोग करने का अवसर प्राप्त करने से वंचित कर दिया था। क्या देश को ऐसी व्यापक उथल-पुथल के हवाले कर देना था जिसका नतीजा फासिस्टवाद-विरोधी कदम उठाने वाले मित्र राष्ट्रों की पराजय हो? नेहरू की विशेष चिंता यह थी कि भारत पर आधिपत्य जमाने वाले साम्राज्यवादी ब्रिटेन से युद्ध और जर्मनी-जापान से लड़ने वाले रूस और चीन का साथ छोड़ देने में से किसका चुनाव किया जाये। तर्क और बहस-मुबाहिसे बहुत लंबे और तीखे थे। गांधीजी दृढ़ थे लेकिन समझाने-बुझाने पर भी अत्यधिक बल दे रह थे। उन्होंने इस बात पर रजामंदी जाहिर की कि यदि राजनैतिक सत्ता फौरन भारत को सौंप दी जाती है तो ब्रितानी सेनाएं भारत में रह सकती हैं और ऐसे अड्डे भी दिये जा सकते हैं, जहां से वे अपना युद्ध-संचालन कर सकें। यदि यह भी स्वीकार नहीं किया गया तो वह कांग्रेस छोड़ देंगे और "भारत की बालू से एक ऐसा आंदोलन पैदा करेंगे जो खुद कांग्रेस से ही बड़ा होगा।"

जुलाई के प्रारंभ में वर्धा में कांग्रेस की कार्यसमिति की बैठक हुई और राष्ट्रीय मांग का मसविदा तैयार हुआ। समिति ने ब्रिटेन से मांग की कि वह फौरन सत्ता भारतीयों को सौंप कर 'भारत छोड़ दे'। अगर प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया तो "कांग्रेस न चाहते हुए भी सन् 1920 से अर्जित अपनी सारी अहिंसक शक्ति का इस्तेमाल करके सीधी कार्रवाई का आंदोलन शुरू करेगी।" 7 अगस्त को इस नीति संबंधी फैसले का अनुमोदन करने के लिए बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक बुलाई गयी।

इस बीच चीन की तीनों सेनाओं के प्रधान जनरल च्यांग काई शेक और अमरीका के राष्ट्रपति रुज्वेल्ट ने ब्रिटेन को भारत में संबंध बना लेने और गतिरोध खत्म करने के लिए समझाने-बुझाने की कोशिश की। लेकिन चर्चिल किसी की भी सुनने को तैयार नहीं थे। उन्होंने खुलेआम घोषणा की कि उन्हें सम्राट का प्रधानमंत्री इसलिए नहीं बनाया गया है कि वह ब्रितानी साम्राज्य का बंटाधार कर दें।

अखिल भारतीय कांग्रेस का अगस्त, 1942 का बबई का अधिवेशन ऐतिहासिक बन गया है। उसी में मशहूर 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ। जो भी हो, मांग तो थोथी और दुराग्रहपूर्ण नहीं थी। उसमें युद्ध की तैयारी में सहयोग देने का प्रस्ताव था। उसने सरकार को तत्काल कदम उठाने की चुनौती भी दी, "भारत की स्वतंत्रता की घोषणा के साथ एक स्थायी सरकार

गठित हो जायेगी और स्वतंत्र भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का एक मित्र बनेगा।" मुस्लिम लीग से वायदा किया गया कि ऐसा संविधान बनेगा जिसमें संघ में शामिल होने वाली इकाइयों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिलेगी और बचे हुए अधिकार उसी के पास रहेंगे। प्रस्ताव का अंतिम अंश था : "देश ने साम्राज्यवादी और एकतंत्रवादी सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा जाहिर कर दी है। अब उसे उस बिंदु से लौटाने का बिलकुल औचित्य नहीं है। अतः समिति अहिंसक ढंग से, जहां तक संभव हो सके, व्यापक धरातल पर जनसंघर्ष शुरू करने का प्रस्ताव स्वीकार करती है...यह संघर्ष अनिवार्यतया गांधीजी के नेतृत्व में होगा।"

प्रस्ताव पास होने के बाद गांधीजी ने उपस्थित प्रतिनिधियों को संबोधित किया। अपने भाषण के दौरान उन्होंने कहा, "वास्तविक संघर्ष इसी क्षण नहीं हो रहा है। आपने महज मेरे हाथ में कुछ अधिकार दे दिये हैं। मेरा पहला काम वायसराय से मिलना और उनसे कांग्रेस की मांग स्वीकार करने के लिए पैरवी करना होगा। इसमें दो या तीन हफ्ते लग सकते हैं। आप इस बीच के समय में क्या करने जा रहे हैं? चरखा है...लेकिन कुछ और भी है जिसे आप को करना है। इसी क्षण से आप में से हर स्त्री-पुरुष को अपने को स्वतंत्र महसूस करना चाहिए। इस तरह गोया आप साम्राज्यवाद के जुए के अंदर बिलकुल नहीं है।"

लेकिन सरकार ने गांधीजी के वायसराय से मिलने तक का इंतजार नहीं किया। सरकारी मशीनरी को बिल्कुल तैयार रखा गया। वह राक्षसी क्रोध में बिजली जैसी रफ्तार से सक्रिय हो गयी। 8 अगस्त की रात कांग्रेस की बैठक रात में देर से खत्म हुई थी। उसके कुछ ही घंटों के भीतर गांधीजी और कांग्रेस कार्य समिति के नेताओं को गिरफ्तार करके एक विशेष रेलगाड़ी द्वारा बंबई से बाहर भेज दिया गया। गांधीजी को पूना में आगा खां पैलेस में रोक लिया गया और शेष नेता अहमदनगर किले में नजरबंद कर दिये गये।

9 अगस्त की सुबह एक 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव और नेताओं की गिरफ्तारी की खबर जनता तक पहुंच गयी। वह एकदम अवाक् और स्तंभित हो गयी। पुलिस की प्रतिक्रिया तात्कालिक थी। वह स्वतःप्रेरित ढंग से अपने (कु)कर्तव्य के पालन में जुट गयी। जिंदगी में ठहराव आ गया और सारे कार्यकलाप रुक गये। हर शहर और कस्बे में हड़ताल हुई। हर जगह प्रदर्शन हुए। जुलूस निकले। हवा में नेताओं की रिहाई की मांग करने वाले राष्ट्रीय गीत और नारे गूंज उठे। उत्तेजित और क्रुद्ध होने के बावजूद कुल मिलाकर जनता शांतिपूर्ण थी। लेकिन तनाव था और भीड़ के बड़े आकार को देखकर ही सरकार घबरा गयी। जब भी भीड़ ने तितर-बितर हो जाने के पुलिस के आदेश की अवेहलना की, पुलिस ने गोली चलाई। सिर्फ दिल्ली में 11 और 12 अगस्त के दो दिनों के विभिन्न मौकों पर पुलिस ने निहत्थी भीड़ पर 47 बार गोलियां चलायीं। 76 आदमी मारे गये और 114 घायल हुए। सारे देश में एक ही दृश्य था—जनता का प्रदर्शन, पुलिस की हिंसा, गोलीचालन और गिरफ्तारी।

बहुत जल्द ही परिस्थिति नियंत्रण से बाहर हो गयी। अधिकांश नेता जेलों में थे; कुछ छिप गये थे। जनता की उत्तेजना अपने शिखर पर थी और कोई उसका नेतृत्व करने वाला

नहीं था। अलग अलग व्यक्तियों और गुटों ने भरसक अपनी समझ से परिस्थिति का आकलन किया और उसके अनुसार काम किया। पुलिस के निरंतर दमन और अध्यादेश राज ने जनता की भावना को और उभार दिया। कांग्रेस ने नागरिक अवज्ञा का आह्वान नहीं किया था। अतः अलग अलग व्यक्तियों ने आक्रोश भरी चुनौती के रूप में जो कार्रवाई शुरू की, वह बढ़कर एक आंदोलन में बदल गयी और फिर आंदोलन ने विद्रोह का रूप ले लिया।

विद्रोह में अगुवाई छात्रों, मजदूरों और किसानों ने की। कारखानों और स्कूल-कालेजों में हड़तालें हुई। ब्रितानी शासन का प्रतीक समझे जाने वाले पुलिस थानों, डाकखानों और रेलवे स्टेशनों पर आक्रमण किये गये। उनमें आग लगाई गयी। उन्हें ध्वस्त किया गया। बाद में तोडफोड़ की भी कुछ कार्रवाइयां हुईं। टेलीफोन के तार काटने और रेल की पटरी उखाड़ने की कोशिश हुई। किसानों को निरतर कर न चुकाने के लिए उद्‌बोधित किया जाता रहा। बहुत से क्षेत्रों में किसानों ने वकैल्पिक सरकारें बनाई और वहां कई कई दिनों या हफ्तों तक ब्रितानी सरकार की प्रशासनिक इकाइयों का अस्तित्व नहीं रहा। बलिया शहर पर स्थानीय नेताओं ने कब्जा कर लिया और उन्हें भगाने के लिए सेना की टुकड़ी बुलानी पड़ी। सुतहटा और कर्नाटक में किसानों ने छिप कर ब्रितानी शासन के प्रतिरोध में गुरिल्ला कार्रवाईयां शुरू कीं और यह क्रम सन् 1944 तक चलता रहा। व्यापक पैमाने पर क्रांतिकारी हिंसा हुई। विद्रोह केवल ब्रितानी भारत तक ही सीमित नहीं रहा। रियासतों मे भी बहुत से लोग इससे प्रभावित हुए। सरकार ने अपना गुस्सा दिखाया और आंतक तथा जोरजुल्म की बागडोर ढीली कर दी गयी। लाठी-गोलीचालन और बडी संख्या में गिरफ्तारियों का सिलसिला इतना तेज और आम हो गया कि देश एक पुलिस राज में वदल गया। अनेकों अवसरों पर निहत्थी भीड़ पर हवाई जहाज से मशीनगन द्वारा गोलियां चलाई गई। पुलिस का अत्याचार रोज की घटना हो गयी। सामूहिक जुर्माने और मुकदमे की संक्षिप्त सुनवाई करके लोगो को सजा देना आम बात हो गयी। विद्रोह थोड़े समय तक चला लेकिन यह काफी तेज रहा। सरकार उसे दबा देने में सफल हुई लेकिन पुलिस और सेना की गोलियों से 10 हजार से अधिक लोगों को मार डालने के बाद देश में सन् 1857 के बाद इतना भयंकर और देशव्यापी दमन नहीं हुआ था।

सन् 1942 का विद्रोह सफल नहीं हुआ क्योंकि बिना नेतृत्व वाली असंगठित और निहत्थी जनता साम्राज्यवादी सरकार की वड़ी शक्ति से जीत नहीं सकती थी। लेकिन विद्रोह से दो उपलब्धियां हुई। उसने साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत के आक्रोश और स्वतंत्र होने के संकल्प को प्रभावशाली और सुनिश्चित ढंग से व्यक्त किया। उसने जीवंत तरीके से गोरों को यह बता दिया कि देश में राष्ट्रीयता की भावना उस सीमा के पार पहुंच चुकी है, जहां पर जनता अपनी स्वतंत्रता के अधिकार के लिए बड़ी से बड़ी तकलीफें उठाने और बलिदान करने को तैयार है। दूसरे यह कि सन् 1942 के व्रिदोह के बाद ब्रितानी शासकों के दिमाग में यह बात अच्छी तरह आ गयी कि भारत में उनके साम्राज्यवादी शासन के सिर्फ गिने चुने दिन रह गये हैं।

सन् 1942 का आंदोलन एक अर्थ में भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की समाप्ति का परिचायक

है। अगस्त, 1942 के विद्रोह के बाद प्रश्न सिर्फ यह तय करने के समय का रह गया था कि सत्ता का हस्तानांतरण किस तरीके से हो और स्वतंत्रता के बाद सरकार का स्वरूप क्या हो? इसमें कोई संदेह नहीं कि सन् 1942 के विद्रोह और 1947 में स्वतंत्रता मिलने के बीच के समय में साठ-गांठ बैठाने और सौदेबाजी करने के अनेकों प्रयास और राजनैतिक परिवर्तन हुए। लेकिन इस तथ्य में कोई संदेह नहीं रह गया था कि स्वतंत्रता संग्राम अपनी समाप्ति पर था और विजय मिलने ही वाली थी।

शिमला सम्मेलन

सन् 1945 में वसंत के अंत तक यूरोप में युद्ध समाप्ति पर था। भारतवर्ष में लिन लिथगो की जगह पर वैवेल वायसराय बन गये थे। वैवेल एक पेशेवर सिपाही थे और लिनलिथगो के वायसराय काल में भारत के मुख्य सेनापति थे। उस वक्त सैनिक विशेषज्ञों का मत था कि युद्ध कुछ दिनो तक चल सकता है यानी कम से कम एक साल तक और एक सैनिक के रूप में वैवेल ने स्वयं इस मत से सहमति व्यक्त की। अगस्त, 1945 में परमाणु अस्त्र भी इस्तेमाल में आये लेकिन जिस नाटकीय ढंग से एशिया में युद्ध का अंत हुआ, उसके राज का पता नहीं चला। एशिया में युद्ध के चलते रहने का मतलब होता भारतीय सैनिक अड्डों और उसके साधनों का अधिक से अधिक इस्तेमाल और लाभ। देश में उस वक्त की राजनैतिक परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए वैवेल ने गतिरोध को तोड़ने और भारत की जनता तथा उसके नेताओं को जापान के विरुद्ध युद्ध में हिस्सा लेने के लिए तैयार करने का एक रास्ता ढूंढ़ निकालना आवश्यक समझा।

अप्रैल, 1945 में यूरोप में युद्ध खत्म हो गया। चर्चिल ने त्यागपत्र दे दिया। नये चुनाव होने वाले थे। 14 जून को 1935 के भारतीय विधेयक के ढांचे के अंतर्गत 'कुछ और संवैधानिक सुधार लाने के प्रस्तावों' की घोषणा की गयी। कांग्रेस कार्यसमिति के सभी सदस्यों को रिहा कर दिया गया। गांधीजी पर नजरबंदी का जो आदेश था, वह उसके पहले ही उठा लिया गया था। राजनैतिक नेताओं के प्रतिनिधियों की एक बैठक करने का फैसला हुआ, जो 25 जून को शिमला में शुरू होने वाली थी।

प्रस्ताव कुछ दूर तक समन्वय पैदा करने वाले थे लेकिन एक अर्थ में असंतोषजनक और भड़काने वाले थे। वायसराय की कार्यकारी समिति में उन्हें और प्रधान सेनापति को छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय होने वाले थे। आधिकारिक और वायसराय के विशेषाधिकार खत्म नहीं किये जाने वाले थे लेकिन यह आश्वासन दिया गया था कि उनका इस्तेमाल 'विवेकहीन तरीके से' नहीं किया जायेगा। इस सीमा तक वह कुछ प्रगतिशील था। उसके बाद आईं विभाजक प्रवृत्तियां। प्रस्ताव के अनुसार समिति में मुसलमानों और सवर्ण हिंदुओं का अनुपात बराबर होगा। इसका मतलब यह था कि मुस्लिम लीग की राजनैतिक समानता के बदले सांप्रदायिक

समानता की मांग का पहली बार ब्रितानी नीति की सरकारी घोषणा में अनुमोदन किया गया था। लेकिन प्रस्ताव के संवैधानिक समझौते पर पहुंचने या उसे आरोपित करने के प्रयत्न नहीं थे। उन पर शिमला सम्मेलन में विचार विमर्श किया जाना था। सम्मेलन की शुरुआत के साथ एक उम्मीद बंधी थी लेकिन शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि जिन्ना की हठधर्मिता और साम्राज्यवादियों की पिछले दरवाजे से की हुई कार्रवाई के कारण, .फलता असंभव है। समझौता वार्ता जिन्ना के इस दुराग्रह के कारण टूट गयी कि कार्यकारी समिति के सारे मुसलमान सदस्यों का मनोनयन सिर्फ लीग करेगी। ब्रितानी सरकार ऐसे किसी समझौते पर हस्ताक्षर करने को तैयार नहीं थी, जिसमें मुस्लिम लीग एक पक्ष न हो। फूट डालो और राज करो की नीति अपने शिखर पर थी।

आजाद हिंद फौज

सन् 1942 के आंदोलन के कुचल-दबा दिये जाने के बाद से लेकर सन् 1945 में युद्ध के अंत तक देश में मुश्किल से कोई राजनैतिक गतिविधि रही। सारे लोकप्रिय नेता जेल में थे और परिस्थिति ऐसी नहीं थी, जिसमें नया नेतृत्व सामने आ सके। आमतौर पर असंतोष और खिन्नता की भावना थी हालांकि अप्रकट रूप से भीतर भीतर आग सुलग रही थी। युद्ध आगे खिंचा लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन में ठहराव आ गया था।

सुभाषचंद्र बोस रूस से भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष में मदद लेने के उद्देश्य से मार्च, 1941 में चुपचाप देश से चले गये थे। लेकिन जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया और वह मित्र राष्ट्रों में शामिल हो गया। सुभाष बाबू रूस से इस उद्देश्य से जर्मनी चले गये कि वहां पर मदद प्राप्त कर सकें। जर्मनी से थोड़े आश्वासन पाकर वह जापान गये ताकि उसकी मदद से भारत मुक्ति-युद्ध का संगठन कर सकें। ब्रितानियों ने भारतीय अफसरों और सैनिकों को छोड़ते हुए मलाया और बर्मा को खाली कर दिया था। इसी बीच जापान ने उन सैनिकों और अफसरों को मिलाकर आजाद हिंद फौज का संगठन करने की कोशिश की। जापानियों ने सिर्फ मलाया में 60 हजार अफसरों-सैनिकों को बंदी बनाया था। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में जो भारतीय नागरिक रहते आये थे, वे भी देश लौट आने में असमर्थ होकर भटक रहे थे। सुभाषचंद्र बोस ने इस सेना का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। इसने जापानियों के साथ मिलकर भारत की तरफ बढ़ना शुरू किया। आजाद हिंद फौज के अफसरों और सैनिकों में देशभक्ति की भावना थी और उन्होंने मुक्तिदाता के रूप में भारत में प्रवेश करना चाहा। सुभाषचंद्र बोस स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार के अध्यक्ष होने वाले थे।

जापान की पराजय के साथ आजाद हिंद फौज की योजना असफल हो गयी। तोक्यो जाते हुए हवाई जहाज की एक दुर्घटना में सुभाष चंद्र बोस की मृत्यु हो गयी। यह सही है कि बहुत से नेताओं ने जापान और उसके फासिस्टवादी मित्रों की सहायता से भारत को स्वतंत्र

कराना पसंद नहीं किया, लेकिन युद्ध के अंतिम वर्षो में सुभाष चंद्र बोस और आजाद हिंद फौज ने भारत में उन राष्ट्रवादियों की हताश भावना को ढाढ़स बधाया जो निराशा और असहायता से त्रस्त थे। उन्होंने सेना के जवान और भारतीय जनता के हर वर्ग के सामने साहस और देशभक्ति की ऐसी मिसाल रखी जो प्रेरणा देने वाली भी थी और मर्यादा से जोड़ने वाली भी।

इसलिए जब सरकार ने आजाद हिंद फौज के कुछ अफसरों के विरुद्ध ब्रितानी शासन की वफादारी की शपथ तोड़ने और विश्वासघात करने के आरोप में मुकदमा चलाने की घोषणा की तो राष्ट्रवादी विरोध की लहर फैल गयी। सारे देश में विशाल प्रदर्शन हुए। अफसरों को रिहा कर देने की निरंतर मांग की गयी। न केवल कांग्रेस बल्कि सभी राजनैतिक दलों ने मुकदमे की सुनवाई का विरोध किया। आजाद हिंद फौज के अफसरों की रिहाई की जोरदार आवाज उठाई। कांग्रेस ने भूलाभाई देसाई, तेज बहादुर सप्रू , कैलाशनाथ काटजू और आसफ अली सरीखे प्रख्यात वकीलों को मिलाकर 'आजाद हिंद फौज बचाव समिति' का संगठन किया। जिस समय दिल्ली के लाल किले के ऐतिहासिक कक्ष में ये राष्ट्रवादी नेता सैनिक अफसरों के बचाव मे खड़े हुए, सारे देश की नजरें उधर ही टिकी थीं। सभी 'क्या होगा' के अहसास से बंधे हुए थे। सैनिक अदालत ने अफसरों को दोषी करार देकर सजा दे दी। लेकिन सारा देश भावना के ऐसे गहरे आवेग मे था कि सरकार को उसके सामने हथियार डाल देने पड़े थे। सजा खत्म कर दी गयी और सैनिक अफसरो को रिहा कर दिया गया।

संघर्ष का अंत

युद्ध की समाप्ति के साथ यह स्पष्ट था कि भारत की स्वतंत्रता को ज्यादा टाला नही जा सकता। देश में और देश के बाहर बहुत से ऐसे परितर्वन हुए जिनके कारण ब्रिटेन को इस स्थिति का कायल होना पड़ा। सोवियत संघ और अमरीका दोनों महाशक्तियों के रूप में उभरे थे और दोनों ही भारतीय स्वतंत्रता के पक्ष में थे। हालांकि ब्रिटेन युद्ध में विजयी हुआ था लेकिन उसकी अर्थव्यवस्था और सैनिक शक्ति बुरी तरह लड़खड़ा उठी थी। उसे पुनर्गठन और पुनर्स्थापना के लिए समय की आवश्यकता थी। उसकी जनता, खासतौर पर उसके सैनिक कर्मचारी, युद्ध से थक गये थे और साम्राज्य की रक्षा के लिए मुसीबतो में पड़े रहने को तैयार नहीं थे। चुनाव में कनजरवेटिव दल पराजित हो चुका था और सत्ता लेबर दल के हाथ में आ गयी थी। यह दल भारतीयों की मांग स्वीकार करने के पक्ष में था। ऐसा सोचने का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि भारत में परिस्थिति बिल्कुल बदल गयी थी और ब्रिटेन के लिए उस पर आगे कब्जा जमाये रखना संभव नहीं था। आजाद हिंद फौज के मुकदमे की सुनवाई से निर्णयात्मक ढंग से यह साबित हो गया था कि राष्ट्र को दमन के भय से कब्जे में नहीं रखा जा सकता। वह अस्पष्ट वायदों से संतुष्ट नहीं होगा। भारत की युद्ध की भावना उभर गयी थी और यदि राष्ट्रवादियों की मांगें ठीक ढंग से स्वीकार नहीं की गयीं तो परिस्थिति विस्फोटक हो जायेगी। फरवरी, 1946 में बंबई में भारतीय नौसेना के अज्ञापित नाविकों का विद्रोह, भारतीय वायुसेना में हड़तालें ओर

जबलपुर के भारतीय सिगनल कोर के असंतोष की अभिव्यक्ति, इन सभी ने इसकी बिना शुबहा सिद्धि कर दी थी। यहां तक कि पुलिस और शासनतंत्र ने भी अपने राष्ट्रवादी झुकाव की अभिव्यक्ति करना शुरू कर दिया था। उनकी मदद से राष्ट्रीय आंदोलन को दबाना या खत्म करना खतरे से खाली नहीं होता। इसके अलावा सारे ब्रितानी भारत और रियासतों में हड़तालों और प्रदर्शनों की संख्या बढ़ती जा रही थी।

अतः ब्रितानी सरकार ने सत्ता का हस्तांतरण करने और उससे संबद्ध तात्कालिक और लंबे समय की व्यवस्थाओं के विवरण तैयार करने का फैसला किया। उसने एक मंत्रिमंडलीय मिशन भारत भेजा। विभिन्न दलों और संगठनों के प्रतिनिधि नेताओं से लबे और विस्तृत विचार-विमर्श के बाद मिशन ने अपनी योजना घोषित की जिसे कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनो ने स्वीकार किया। लेकिन बाद मे योजना के अर्थ को लेकर मतभेद पैदा हो गये। वैवेल उत्सुक थे कि अंतरिम सरकार की स्थापना जितनी जल्दी संभव हो, कर दी जानी चाहिए। अंततः सितंबर, 1946 में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने ऐसी सरकार का गठन किया। अक्तूबर में मुस्लिम लीग भी मंत्रिमंडल में शामिल हो गयी लेकिन उसने संविधान निर्माण में शामिल न होने का फैसला किया। ब्रितानी प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने 20 फरवरी, 1947 को घोषणा की कि ब्रिटेन अधिक से अधिक जून, 1948 तक सत्ता भारत को सौंप देगा।

सत्ता के हस्तांतरण की व्यवस्था करने के लिए लार्ड लुई माउंटबेटेन को वायसराय बनाकर भारत भेजा गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच भयंकर मतभेद पैदा हो गये थे लेकिन इसके बावजूद उन्होंने एक समझौता-योजना तैयार कर ली। साथ ही सत्ता के हस्तांतरण की तारीख भी निश्चित कर दी जो घोषित तिथि से साल भर से अधिक पहले की थी। भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतत्र होगा, लेकिन उसका विभाजन हो जायेगा। पश्चिमी क्षेत्र के पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, सिंध और बलूचिस्तान और बंगाल का पूर्वार्द्ध और आसाम का सिलहट जिला मिलाकर पाकिस्तान नाम का एक स्वतंत्र देश बनेगा (और उसका उद्घाटन भी उसी समय होगा)। वैसे, यह व्यवस्था भी की गयी थी कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत और सिलहट की जनता की इच्छा का पता लगाने के लिए बाद में जनमत कराया जायेगा।

स्वतंत्रता मिलने का गर्व और प्रसन्नता विभाजन के दुख, उदासी और उसके परिणामों में घुल गयी। लेकिन राष्ट्र निराश नहीं था। स्वतंत्रता तो पहला कदम था। भारत ने आत्मविश्वास, निष्ठा और उम्मीद के साथ स्वतंत्रता, जनतंत्र और सामाजिक न्याय की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए अपने कदम बढ़ाना शुरू किया।

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडिस्ट्रयल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित